आचार्य नरेन्द्रदेव

विचार और दृष्टि

आचार्य नरेन्द्र देव : विचार और दृष्टि

उत्कर्ष-प्रकाशन लखनऊ

आचार्य नरेन्द्र देव : विचार और दृष्टि

सम्पादक

गोपाल उपाध्याय

आचार्य नरेन्द्रदेव : विचार और दृष्टि
[संकलन]

प्रकाशक :
हरीश उपाध्याय
उत्कर्ष-प्रकाशन
इन्द्रप्रस्थ नगर
पो० महानगर
लखनऊ-226 006

मूल्य : 100 रु० मात्र

आचार्य नरेन्द्र देव जी **की** जन्मशताब्दी

के पावन अवसर पर

उनके विचारों की पूँजी

का यह अंश-संकलन

आजीवन संघर्ष, समता, समाजवाद,

लोकतंत्र और विकास के लिये

पूर्ण निष्ठा से समर्पित

श्री नारायण दत्त तिवारी

को

जागरूक जनता और युवा पीढ़ी के नाम

सादर समर्पित !

संकेत

विचार पथ :

दृष्टि पथ :

कवर पर आचार्य जी की मूर्ति

कवर विन्यास – गंगा दत्त उपाध्याय

प्रथमोवाच | ○

अजातशत्रु आचार्य नरेन्द्र देव

शताब्दियों और सहस्त्राब्दियो मे ही कभी कभार ऐसे मनीषियों का अवतरण होता है जो सम्पूर्ण युग पर अपने कर्म और विचार की अमिट छाप छोड जाते हैं। जो अपने औदार्य, अपनी बुद्धि विलक्षणता, सहजता तथा सहिष्णुता, लोक कल्याण की अमित आकाक्षा से जन-मन को अभिभूत कर जाते हैं। बिरले ही ऐसे महामानव समाज को किसी बिरले ही समय में मिल पाते हैं जो अपनी अजस्त्र चिंतन धारा में काल की समस्त चितनाओं और विभिन्न विचार धाराओ को समाहित कर सकने की क्षमता रखते हैं। बहुत कम ऐसे अवसर आते हैं जब किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व समूचे समाज और समय से बड़ा दिखने लगता है और वह व्यक्ति समय का नहीं समय व्यक्ति का ऋणी हो जाता है। ऐसे व्यक्ति सचमुच युगदृष्टा हो जाता है। वह युग उसके कार्यों, उसके आचरण और उसके बौद्धिक दान के कारण अपनी अलग पहचान बना लेता है। आचार्य नरेन्द्रदेव जी भी ऐसे ही युग निर्माता मनीषि थे, जिनका हम पर हमारे देश पर, हमारे समाज और समय पर बहुत बड़ा ऋण है। उस ऋण को अशमात्र भी तभी हम अदा करने का संतोष कर सकते हैं जब उस महान विचारक, सिद्धांतकार और कर्मयोगी की विचार विरासत को युवको और आने वाली पीढ़ी तक पहुचा सके।

आचार्य जी का सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रीयता, जनतंत्र व समाजवाद के आधार पर देश के पुनरनिर्माण के कार्य को पूरा करने के लिए समर्पित था। स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने अग्रिम पक्ति में रह कर काम किया था, किन्तु एक बात मे वह राष्ट्रीय आन्दोलन के अनेक नेताओ से अलग और सबसे ऊँचे लगते थे कि उनके आदर्शों के अनुरूप ही उनके चरित्र की साधना भी थी।

आज हम चरित्र के सकट से जूझ रहे हैं, राष्ट्रीय चरित्र में निरन्तर गिरावट आ रही है। लेकिन सबसे अधिक हमारे सामने आस्था का संकट है। राजनीति

मे सिद्धान्त नैतिक मूल्य और विचारों के प्रति आस्था का स्तर निरन्तर घटता जा रहा है। इस भयानक अधेरे मे आचार्य जी के विचार हमें प्रकाश का मार्ग दिखाते हैं।

विचार, चिंतन, अध्ययन मनन और सिद्धांत एव नीति की व्याख्या में जो प्रखरता और गहनता आचार्य नरेन्द्रदेव के पास थी वह अतीत से हमें जोड़ती थी वर्तमान के प्रति हमे जागरूक करती थी और भविष्य के प्रति हमे पूर्ण सचेत रहने का संकल्पित आभाष देती थी। सिद्धातों और नीतियों को समय की सही परख के साथ मान्य व्याख्या देने की अद्‌भुत क्षमता आचार्य नरेन्द्रदेव जी में आश्चर्य जनक रूप से थी और विलक्षणता की सीमा तक थी।

इस देश के स्वातत्र्य प्राप्ति के इतिहास में जब भी निरपेक्ष आकलन किया जायेगा तब यह बात अवश्य याद रखी जायेगी कि सन् 1937 मे इस देश और प्रदेश का इतिहास एक नयी राह पाने के शुभ अवसर को पाने से वचित रह गया था। अपने योगदान, अपने आचरण और अपने सक्रिय सेवा कार्य के कारण 1936 में जब आचार्य नरेन्द्रदेव सयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के कांग्रेस अध्यक्ष चुने गये थे तो उनके अध्यक्षकाल मे ही प्रान्तीय असेम्बली के चुनाव हुए थे और कांग्रेस की केन्द्रीय समिति के निर्णयनुसार जिन प्रान्तो मे कांग्रेस को बहुमत मिला था वहां के कांग्रेस अध्यक्ष को ही प्रीमियर (प्रधानमत्री) चुना जाना था। चूकि स्वयं आचार्य जी और कांग्रेस समाजवादी पार्टी तत्कालीन सविधान और राजनैतिक परिस्थितियो के तहत मंत्रिमंडल बनाने के पक्ष में नहीं थे। अतः आचार्य जी प्रदेश के प्रीमियर नहीं बने और पं० पंत जी का नाम उन्होंने ही प्रस्तावित किया था। आचार्यं जी सत्ता की नहीं मूल्यों की राजनीति के प्रति प्रतिबद्ध रहते थे। इसी लिए वह अपने सिद्धातो और विचारों की कीमत पर कभी समझौता नहीं करते थे। किन्तु प्रदेश और देश का शायद यह सौभाग्य ही होता यदि आचार्य जी ने प्रीमियर पद स्वीकार कर लिया होता। फिर विधान सभा में एक सदस्य की हैसियत से उन्होंने किसानों के पक्ष मे, जमींदारी उन्मूलन के पक्ष में, मातृभाषा और राष्ट्रीयता के बारे में, साम्प्रदायिकता के विरोध मे, शिक्षा व्यवस्था के बारे में काश्तकारी कानून और मजदूर संगठनों के बारे मे, सरकार के बजट के बारे में अपने जो विचार सदन में रखे वह नितान्त चिंतनशील, प्रखर समाजवादी और जनता के लिए नयी किन्तु व्यावहारिक व्यवस्था का

मार्ग प्रशस्त करने वाले थे। हालांकि प्रीमियर होकर वह अपनी निश्चित नीतियों को कांग्रेस के निर्देशन मे अमलीरूप देकर नयी समाज व्यवस्था स्थापित कर सकते थे। सहकारिता और पंचायत प्रणाली को वह सामाजिक व्यवस्था को नया और व्यवस्थित रूप देने के लिए आवश्यक मानते थे। खेती को भी वह सहकारी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत किसानों व खेतिहरो के सम्पूर्ण आधिपत्य में देकर जमींदारो के शोषण से सर्वथा मुक्त करने के पक्षधर थे।

सन् 1947 मे जब देश आजाद हुआ तो पंडित जवाहर लाल नेहरू और मुहम्मद रफी साहब आदि नेताओं की तरह महात्मा गाँधी जी भी चाहते थे कि आचार्य जी को ही अखिल भारतीय कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया जाय। गाँधी जी ने कुछ लोगो को इसका संकेत भी दे दिया था कि आचार्य जी के मुकाबले कोई और नाम न आये। किन्तु आचार्य जी कांग्रेस के अन्दर कांग्रेस समाजवादी दल के नेता थे और कुछ लोगों का विचार था कि कांग्रेस समाजवादो दल छोड़कर ही वह कांग्रेस अध्यक्ष बन सकते हैं। आचार्य जी के लिए पद और सत्ता का मोह उनके सिद्धांत और वैचारिक मूल्यों के आगे कोई हैसियत रखता ही नहीं था। गाँधी जी और नेहरू जी तथा रफी साहब आदि को इस बात का दु:ख था कि आचार्य जी जैसे महान तपस्वी को कांग्रेस अध्यक्ष पद देकर देश की नयी नीतियाँ निर्धारित करने की बागडोर नही सौंपी जा सकी। वरना आज देश का इतिहास कुछ और ही होता तथा पंडित नेहरू को देश में समाजवादी व्यवस्था कायम कर सकने में बहुत बड़ी मदद मिली होती। 1947 में ही अगर देश नयी दिशा ग्रहण कर लेता तो पूँजीवादी शक्तियो के मनसूबे शुरू मे ही धराशायी हो गये होते। हालाँकि नेहरू जी ने अथक प्रयास किया और कांग्रेस से 1955 मे समाजवाद को स्वीकार करने का प्रस्ताव पास कराया।

आचार्य जी भारतीय संस्कृति, पुरातत्व, आध्यात्म, और इतिहास के महान् विद्वान थे। बौद्ध धर्म दर्शन के महा पंडित थे, मार्क्सवाद का उन्हें गहन अध्ययन था। उन्होंने सही परिप्रेक्ष्य मे, देश और काल के संदर्भ मे, प्रकृति और परिस्थिति के साथ, सामन्जस्य की कसौटी के साथ उसे समझा था और मनन किया था और उसकी व्याख्या की थी। मार्क्स की नीतियों, सिद्धांतों और विचारो का उन पर गहन प्रभाव था। मार्क्स की भावना को वह मानव कल्याण, समाज व्यवस्था तथा प्रगति के लिए आवश्यक मानते थे। किन्तु उनका कहना था

कि मार्क्स का अध्ययन चिंतन योरोप व पश्चिम के देशों की परिस्थियो पर ही आधारित था, जिसे भारत की परिस्थियों मे ढालने में परिवर्तन की आवश्यकता है, जैसाकि चीन मे माओ ने सिद्ध कर दिया कि केवल मजदूरो पर आधारित क्रान्ति के सिद्धांत के साथ वहाँ किसानो की भागीदारी भी जरुरी थी। उनका कहना था कि भारत में केवल मजदूरों का अधिनायकवाद सफल नही हो सकता। यहां की स्थिति ऐसी है कि यहा किसानो व मजदूरों को मिलकर समाजवादी जनतन्त्र के लिए काम करना होगा। किन्तु वह क्रांति मे सदैव अहिंसा को आवश्यक नहीं मानते थे। यदि आवश्यकता हुई तो वह हिंसा को भी क्रांति के लिए आवश्यक मानते थे। अगर हिंसा शांति व प्रगति के लिए जरुरी हो जाय केवल शक्ति और सत्ता के लिए नही। क्योंकि क्रांति को वह मानव कल्याण के लिए, समाज सत्ता की स्थापना के लिए बहुत आवश्यक हथियार मानते थे। हालांकि प्राथमिकता के अनुसार वह जनतांत्रिक उपायों से ही क्रान्ति चाहते थे। वह एंगिल्स की इस बात से सहमत थे कि बालिग मताधिकार पर आधारित जनतन्त्र में जनतांत्रिक ढंग से समाजिक क्रान्ति को आगे बढ़ाया जा सकता है।

आचार्य जी का कहना था कि मार्क्स ऐसा समाज चाहता था जिसमे सारा उत्पादक समाज, सुखी, समता और स्वतन्त्रता का सहयोगपूर्ण जीवन व्यतीत कर सके। वह समाजवाद को एक सांस्कृतिक आंदोलन मानते थे, राजनैतिक भविष्य के वह महान द्रष्टा थे। वर्ष 1955 में गया अधिवेशन मे उन्होंने स्पष्ट कहा था था कि जब सोवियत नागरिकों का सास्कृतिक स्तर ऊँचा होगा, लौह-आवरण उठेगा वहां का कम्युनिज्म उदार होगा, जनतन्त्र की ओर बढ़ेगा। चीन जब अपने जीवन को अपने ढग पर जी सकने लायक होगा तो जनतांत्रि समाजवाद के अधिक समीप आयेगा। 35 वर्ष बाद आचार्य जी की यह भविष्यवाणियां आज सत्य होती लग रही हैं। परिस्थितियां ऐसी बन रही हैं कि साम्यवाद की कठोरता जनतन्त्र की ओर अग्रसर हो रही हैं। इसके लिए वह राष्ट्रीयता की उद्दाम भावना को अनिवार्य मानते थे। मनुष्य को वह जनतांत्रिक समाजवाद का केन्द्र मानते थे और पूंजीवादी लोकतन्त्र को वह छद्म लोकतन्त्र कहते थे। प्रतिक्रियावादी ताकतों को वह प्रगति में रोड़ा मानते थे। साम्प्रदायिकता और धार्मिक उन्माद को वह राष्ट्रीयता का दुश्मन मानते थे। आचार्य जी अतीत की

उपासना के खतरे से सावधान करते हुए कहते थे कि धर्म और संस्कृति के नाम पर, पुनर्जागरण के आधार पर नवजवानों मे घृणा और द्वेष उभारा जाता है। उन्हे मानवतावादी मूल्यों की उपेक्षा करना सिखाया जाता है। भविष्य की ओर देखने के बजाय उन्हे सुदूर अतीत की ओर देखने को कहा जाता है। इससे देश की युवाशक्ति, जनशक्ति का उपयोग सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए न करके साम्प्रदायिक विद्रोह तथा कलह को बढाने मे किया जाता है। जनता के अर्थशोषण का कारक वह साम्राज्य को मानते थे। उसे वह पूंजीवाद की आखिरी मंजिल समझते थे। उसका संगठित प्रयास ही फासिज्म का रूप ले लेता है।

आचार्य जी एक मात्र राजनैतिक जनतन्त्र और उस पर आधारित स्वतंत्रता को ही प्रर्याप्त नही समझते थे। वह तो सामजिक जनतंत्र, सामाजिक न्याय और वर्गहीन सामाजिक समता को समाज द्वारा ही प्रतिपाद्य मानते थे। इसी लिए वह लोकतान्त्रिक आदर्श के प्रति लोगों में सुदृढ़ आस्था की आकांक्षा करते थे। उनके इसी दृष्टिकोण मे लोकतन्त्र की दृढ़ता के लिए, भ्रष्टता और निरंकुशता से बचने के लिए स्वस्थ और रचनात्मक उद्देश्य वाला विरोधी दल का होना आवश्यक था यह लोकतन्त्र में ही सम्भव भी है।

आचार्य नरेन्द्रदेव जी के स्वस्थ, उच्च और आदर्श विचारों को अंगीकृत करके अपने समाज और अपने देश को विकास और जनतंत्र की उन ऊँचाईयों तक ले जाने की आवश्यकता पहले के किसी समय या युग से भी अधिक आज इस लिए है कि अगर विश्व के 80 करोड़ आबादी वाले हमारे लोकतांत्रिक प्रभुता वाले देश ने मानव समाज को नये और विकासशील किन्तु शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का मार्ग अपनाने के लिए प्रेषित न किया तो विज्ञान के जिस विध्वंसकारी ज्वालामुखी पर संसार बैठा हुआ है वह सम्पूर्ण मानव समाज के अस्तित्व को ही खतरे मे डालकर महाविनाश मे बदल देगा।

अतः समाजवाद की जिन आदर्श ऊँचाईयों की ओर हम बढ़ना चाहते हैं और जिसके लिए हमारा महान संविधान हमे प्रतिबद्ध करता है वहाँ तक पहुंचने में आचार्य जी के विचार और दृष्टि हमे प्रेरणा देते हैं और हमारा मार्ग प्रशस्त करते हैं।

'उत्कर्ष' हिन्दी की मान्य साहित्यिक पत्रिका रही है और के

स्तर पर 'उत्कर्ष' ने सन् 1968 में आचार्य जी के विचारों को संकलित कर जो विशेषांक निकाला था वह उस समय तक इस दिशा में पहला और अकेला प्रयास था। उस समय उस संकलन में हमने बड़ी मेहनत से सामग्री जुटाई थी और उसमें कई लेख, वक्तव्य तब तक सर्वथा अप्रकाशित थे। हमारे वरिष्ठ मित्र डा० भुवनेश मिश्र उस काम में हमारे साथी सम्पादक थे जिन्होंने बड़ा परिश्रम उस संकलन के लिए किया था। अब 'उत्कर्ष' उसे और आगे बढ़ाकर अपना विशेषांक तो विचारवान पाठकों, साहित्यकारों और अन्य बुद्धिजीवियों को दे ही रहा है साथ में उत्कर्ष-प्रकाशन से इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित कर पुस्तकालयों व पाठकों को इस विचार-संकलन को संग्रहणीय बनाने का अवसर दे रहा है।

सामग्री हमारे पास अधिक थी किन्तु हमने कुछ आवश्यक सामग्री का ही चुनाव उचित समझा जो पाठकों के लिए जरूरी भी है और सुगम भी।

यह संकलन यदि किसी तरह भी आपकी दृष्टि में उपयोगी सिद्ध हो सकेगा तो हमें अपने श्रम की सफलता का अहसास होगा।

□

—गोपाल उपाध्याय

12, राणा प्रताप मार्ग,
लखनऊ-226 001
उ० प्र०

आचार्य नरेन्द्रदेव :
महत्वपूर्ण जीवन तिथियाँ

र 1889 . जन्म (सीतापुर)

1891 : पिता के साथ फैजाबाद

1902 : शिक्षारम्भ, फैजाबाद

1907 : इन्ट्रैन्स पास स्वदेशी का व्रत, गरम दल में रूझान

1911 : बी०ए० (इलाहाबाद)

1913 : एम०ए०, क्वीन्स कालेज काशी

1915 : एल०एल०बी०, इलाहाबाद

15–21 : फैजाबाद मे वकालत, होमरुल लीग का संगठन। प्रान्तीय मंत्री, जवाहर लाल नेहरू का काशी विद्या पीठ जाने का आग्रह, काशी विद्यापीठ के उपाध्यक्ष नियुक्त। कांग्रेस में सक्रिय, काशी विद्यापीठ के अध्यक्ष। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के 1918 में सदस्य निर्वाचित हुए। असहयोग आन्दोलन में शामिल। अकबरपुर तहसील में किसान आन्दोलन का नेतृत्व।

1929 : सोवियत रूस की एशिया नीति पर लेख

1930 : जय प्रकाश नारायण से राजनीति पर पहली बात-चीत

1930 : सविनय अवज्ञा में प्रथम कारावास, प्रदेश कांग्रेस कमेटी के मंत्री, नमक सत्याग्रह व सविनय अवज्ञा आन्दोलन का नेतृत्व।

1932 : फिर एक वर्ष की जेल

1934 : अ० भा० कांग्रेस-समाजवादी पार्टी की स्थापना, सम्मेलन के अध्यक्ष।

1935 : गुजरात कांग्रेस सोशलिस्ट सम्मेलन के अध्यक्ष

1936 : उ० प्र० प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष व राष्ट्रीय कांग्रेस कार्य-समिति के नेहरू जी के आमन्त्रण पर सदस्य मनोनीत। उ०प्र० राजनैतिक सम्मेलन के अध्यक्ष।

1937 : विधान सभाओ के चुनाव, उ० प्र० विधान सभा के सदस्य निर्वाचित। प्रीमियर (प्रधान मंत्री) न बनने का निश्चय।

1939 : कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी दिल्ली मे अध्यक्षीय भाषण।

939 किसान सभा गया' की अध्यक्षता

1940 : अक्तूबर में गांधी जी के आदेश पर व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रदेश में नेतृत्व व जेल।

1941 : व्यक्तिगत सत्याग्रह में गिरफ्तार।

9 अगस्त 1942 : कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों के साथ गिरफ्तार होकर अहमदनगर जेल में नजरबन्द। विश्व युद्ध पर लेख।

फरवरी 1946 : भारतीय क्रांति पर वक्तव्य।

1946 : उ० प्र० विधान सभा के सदस्य निर्विरोध निर्वाचित।

1947 : लखनऊ विश्वविद्यालय के उप कुलपति नियुक्त। देशी रियासतों के बारे में वक्तव्य।

1 मार्च 1948 : कांग्रेस समाजवादी पार्टी के नासिक निर्णय के अनुसार कांग्रेस से त्याग पत्र और विधान सभा से भी त्यागपत्र देकर एक नयी मान्यता स्थापित की।

29 मई 1948 : लखनऊ में पंच सम्मेलन का उद्घाटन।

1949 : पटना अधिवेशन मे पार्टी अध्यक्ष नियुक्त।

1950 बर्मा व श्याम की यात्रा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष निर्वाचित।

1951 : बनारस विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त।

1952 : राज्य सभा में एम०पी० निर्वाचित, चीनी सांस्कृतिक मिशन में चीन की यात्रा।

1953 : काशी नागरी प्र०स० हीरक जयन्ती में अध्यक्ष पद।

1954 : योरोप में स्वास्थ्य लाभ के लिये यात्रा और नागपुर प्रसोपा सम्मेलन के अध्यक्ष।

1955 : गया प्रसोपा सम्मेलन के अध्यक्ष। बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् मे अध्यक्षीय भाषण।

जनवरी 1956 : स्वास्थ्य लाभ के लिए पेन्दुरई (मद्रास) प्रस्थान।

फरवरी 1956 : महानिर्वाण प्राप्त, सायंकाल 5.10 पर इरोड में निधन।

फरवरी 1956 : लखनऊ में दाह संस्कार।

विचार-पथ

आचार्य नरेन्द्र देव ने कहा था......

हमारे देश की यह प्रथा रही है कि महापुरुष के निधन के बाद हमने उसको देवता की पदवी से विभूषित किया। समाधि और मंदिर बनाये। उसकी मूर्ति को मंदिरों में प्रतिष्ठित किया या मजार बनाकर उसकी समाधि या मजार पर प्रेम और श्रद्धा के फूल चढाकर हम संतुष्ट हो गये।.........देवत्व से भी ऊँचा स्थान मानवता का है। मानवता की अराधना और उपासना समाधि-गृह और मजार बनाकर उन पर फूल चढाकर नहीं होती। दीपक, नैवेद्य से उनकी पूजा नहीं होती, मानव की अराधना और उपासना का प्रकार भिन्न है। अपने हृदयों को निर्मल बनाकर और **उनके बताये हुये मार्ग पर चलकर ही उसकी सच्ची उपासना होती है।**

☐

हम सब उस शक्ति के प्रतिनिधि हैं जिसका आज उत्थान हो रहा है और जिसका भविष्य उज्जवल है। यह हो सकता है कि हम अपनी दुर्बलता और भूल के कारण तत्काल सफलता न प्राप्त कर सकें और हमको अभी कुछ समय तक और प्रतीक्षा करनी पड़े। किन्तु यदि हम सतत् उद्योग करते जावेंगे तो अन्त मे हमारी विजय निश्चित है।

आचार्य नरेन्द्र देव

हमारा आदर्श और उद्देश्य

आचार्य नरेन्द्र देव

भारतीय समाज में महान् परिवर्तन होने वाले हैं। देश में नवजीवन हिलोरें ले रहा है। भारत की अवरुद्ध जीवनशक्ति अब फिर वेगवती हो चली है। भारत का नया मानव अपने सपने सार्थक करने को निकल पड़ा है। इस नवजीवन प्रवाह को रोकने का प्रयत्न निरर्थक है। इसे रोकने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। अत: इस तरह सामाजिक शक्ति नष्ट करने से व्यक्तियों तथा समूहों को रोकना है। सामाजिक शक्ति को दिशा निर्धारित करनी है, उसका नियन्त्रण करना है।

पुराने आदर्शों से आज पथनिर्देश नहीं हो पाता। पुरानी परम्परा से आज सहारा नहीं मिलता। आज नये नेतृत्व की आवश्यकता है। समाजवाद ही यह नया नेतृत्व प्रदान कर सकता है। जनता के विस्तृत तथा व्यापक हित के आधार पर निर्मित यह सम्पूर्ण सामाजिक सिद्धान्त ही हमारा पथप्रदर्शन कर सकता है। जनजागरण तथा जन क्रान्ति की रीति ही समाज के समुचित विकास का साधन बन सकती है।

का सवाल केवल रोटी का सवाल नही है। समाजवाद मानव स्वतन्त्रता की कुंजी है। समाजवाद ही एक स्वतन्त्र सुखी समाज मे सम्पूर्ण स्वतन्त्र मनुष्यत्व को प्रतिष्ठित कर सकता है। समाजवाद ही श्रेणी नैतिकता तथा मात्स्य-न्याय के बदले जनप्रधान नैतिकता तथा सामाजिक न्याय की स्थापना कर सकता है। समाजवाद ही स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृभाव के आधार पर एक सुन्दर, सबल मानव संस्कृति की सृष्टि कर सकता है।

ऐसी सभ्यता तथा संस्कृति की स्थापना उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करते ही नही हो जायगी। इसके लिए पुनर्निर्माण का कार्य ही समुचित रीति से करना होगा। मानव प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए नागरिक स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्वपूर्ण प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता होगी। सुन्दर और सम्पूर्ण मनुष्यत्व की सृष्टि तभी हो सकती है जब साधन भी सुन्दर हों, मानवोचित हों। उद्देश्य और साधन परस्पर सम्बद्ध तथा परस्पर निर्भर होते हैं। दोनो का अपना-अपना महत्व है।

इसके अतिरिक्त इतने काल के सामाजिक विकास के बाद जो मौलिक मानवीय सत्व प्रतिष्ठित हो गये हैं, उनपर जोर देना, उन्हें समाज के पुनर्निर्माण मे उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न करना नितान्त आवश्यक है। इनकी अवहेलना करके सभ्य और सुन्दर सामाजिक जीवन नहीं चलाया जा सकता। श्रेणी नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शों और सिद्धान्तो का बहिष्कार उचित नहीं। समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा संचित ज्ञान का निरादर अनुचित होगा। इसके विपरीत पुराने आदर्शों और प्राचीन संस्कृति का अध्ययन आवश्यक है। हमारी नवीन संस्कृति के निर्माण में इनका बहुत बड़ा हाथ होगा।

□

मेरा जीवन दर्शन

आचार्य नरेन्द्र देव

प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये जीवन के अर्थ एव उसके महत्व को अवश्य जानना चाहिए। जीवन सम्पन्न और विभिन्न रंगो से परिपूर्ण है। यह सरल और दुष्कर भी है, यह हर्ष एवं विषाद, जय एवं पराजय प्रदान करता है। विभिन्नता जीवन का अवर्णनीय विशेष गुण है और इसी कारण जीवन के विभिन्न पहलू हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपने मे ध्येय है और स्वयं के लिये अपने दृष्टिकोण से पूर्ण एवं सन्तोषदायक मार्ग की खोज अवश्य करनी चाहिये। उसे जीवन में अपने लिये स्थान बनाना होगा और अपने प्रियकार्य को ढूढना होगा। केवल ऐसा ही काय प्रसन्नता प्रदान कर सकता है जो उसके स्वभाव के गहरे स्रोतो द्वारा प्रेरित हो। चूंकि जीवन के अनेक एवं विभिन्न रूप है, इसी कारण मानवीय अनुभव भी विचित्र हैं और प्रत्येक व्यक्ति उन्ही अनुभवो को प्राप्त करना पसन्द करता है जिनसे उसको पूर्ण सन्तोष प्राप्त होता है। उसको जीवन के पारम्परिक मूल्यो को बिना विवेचन किए स्वीकार नही करना चाहिए। जीवन लगातार परिवर्तनों को ग्रहण करता रहता है और सदा परिवर्तनशील है। विचारों एवं सत्यों का रूप [illegible] रहा है और इसी कारण [illegible] इसने मानवीय मूल्यों का माप प्रदान [illegible] है [illegible] बाद में इन्ही की फिर से परिभाषा दी जा रही है। हमारे समाज जिसमें प्रभावशाली सामाजिक समस्याए उठ खड़ी हुई हैं और उनके समाधान को फिर से खोजा जा रहा है। यदि हम चाहते हैं कि जीवन सुखतर हो, कष्ट, पीड़ा एव संघर्ष जिनसे आज हम दबे हुए है कम हों तो हमें अपने समय की चुनौती का सामना करने के लिये सामाजिक मूल्यों को नया माप दंड देना होगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये जीवन के अर्थ को फिर से अवश्य खोजना होगा। दूसरे व्यक्ति केवल उसकी सहायता और मार्ग दर्शन कर सकते हैं किन्तु प्रयत्न उसे स्वयं ही अवश्य करना होगा।

यह प्रश्न पूछा जाता है कि जीवन का ध्येय क्या है ? मानवीय उद्देश्य की परिभाषा दी जाती है—जैसे सत्य, सुन्दरता और शिव या सामाजिक हित। (सत्य, सुन्दरता और सामाजिक भलाई को मानवीय उद्देश्य की परिभाषा दी जाती है) इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिये समस्त मानवीय प्रयत्न केन्द्रित करने होगे। यदि हमे सामाजिक विश्रृंखलता को दूर करना है और मानव-जीवन को समृद्ध करना है तो इन्हें हमे उद्देश्य अवश्य स्वीकार करना होगा जिसके लिये हमे उसे निष्ठा देनी चाहिए और अपने आप को समर्पित कर देना चाहिए। किन्तु विभिन्न युगों में इन मानवीय उद्देश्यो के अलग-अलग अर्थ रहे हैं। लगातार उनकी परिभाषा फिर से दी जा रही है और बदलती हुई सामाजिक दशाओ में उनका पुन: मूल्यांकन किया जा रहा है। व्यक्ति अपनी सामाजिक परिस्थितियो व साम्प्रतिक वातावरण की उत्पत्ति है और यद्यपि स्वयं अपने स्वभाव के लिये उसे जीवन का अर्थ पता लगाना होता है तथापि ऐसा वह जिस वातावरण में रहता है और उसके समय के मानवीय गुणों के ढाँचे के अन्दर रह कर ही कर सकता है।

विज्ञान और तकनीकी के आधुनिक युग में संगठन की समस्या ने एक विशेष महत्व ले लिया है। हमारे सामने मनुष्य जाति का एक वृहद समुदाय है और जब तक हम यह नही जानते कि कैसे उसे नियन्त्रित करें हमें दुखद अन्त की परिणति का सामना करना होगा। विज्ञान ने हमे विशाल स्रोतो का भण्डार दिया है, जिसका यदि उचित ढग से प्रयोग किया जाय, तो बीमारी और गरीबी (व्याधि एव निर्धनता) मिटाई जा सकती है और बाहुल्य का युग लाया जा सकता है। इस युग में संगठन, समुदाय, एकता की आवश्यकता बहुत हो गई है और जब तक हम पिछली शताब्दी के व्यक्तिवाद का त्याग नही करते और होड के स्थान पर सहयोग के सिद्धान्त को नही अपनाते हमारा दुखद अन्त होगा और विज्ञान ने हमारी पहुच मे जो बाहुल्य स्रोत दिये है हम उनका बुद्धिमानी से उपयोग नही कर सकते।

यदि वर्तमान युग मे हम उस समाज को चाहते है जो न्याय प्रिय एव मानवीय गुणो से ओत-प्रोत हो, जिसमे युद्ध का निषेध कर दिया गया हो और जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छाओ की सतुष्टि प्राप्त कर सकें तो हमे अलगाव और स्वार्थ से उभर उठना होगा। एक सुनहला भविष्य और सुखद भाग्य मानव-जाति की प्रतीक्षा कर रहा है बशर्ते कि वह उसके साधनो को सबके लाभ के लिए

नियंत्रित कर सके। यदि समाज को जीवित रहना है तो लाभ प्राप्त करने के इच्छुक समाज की घृणित स्वार्थपरता को, और होड़ के युग को त्यागना होगा। केवल आवश्यकता के नियम को मान्यता प्रदान करके ही हम निजी जीवन को सुखी बना सकते हैं और अपने स्वतंत्र विकास के द्वारा स्वयं प्राप्त कर सकते हैं, और नियम यह है कि आने वाले युग मे ही उसे पूर्ण एव सन्तोषप्रद जीवन प्राप्त होगा और जो सबकी सेवा करेगा आधुनिक युग के नियम को मान्यता देगा। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि व्यक्ति का कोई महत्व नही है और उसका अपना कोई जीवन नही है, केवल मशीन का वह एक पुर्जा मात्र है। वह मशीन का दास नही है बल्कि वह मशीन को स्वयं अपनी और समाज की भलाई के लिये विवेक से चला सकता है बशर्ते कि उसमें सामाजिक जागरुकता हो और उसने अपने वातारण और उसकी समस्या को सच्चाई से समझ लिया हो और समुदाय के जीवन से अपने को अभिन्न समझ लिया हो। यह उसे दूसरो के कहने से नही बल्कि अपनी निजी स्वतन्त्र इच्छा से करना होगा। यह मशीन उन लोगो द्वारा नही चलाई जाएगी जो पद में मदान्ध है बल्कि उनके द्वारा जिनमे मानवता की भावना है और सेवा का भाव।

अन्य लोगो के प्रति स्वेच्छित एव ईर्षारहित सेवा भाव एक उत्तम गुण है तथा हम उसका अनुमोदन करते है परन्तु इसकी समानता उन लोगों के व्यक्तिगत बलिदान से नही करना चाहिए जो किसी तानाशाह की आज्ञा से किया गया हो, जो अपनी इच्छापूर्ति के लिए किसी जाति को मिटा सकता है, जिससे उसकी शक्ति के विचारों की शान बढ़े। किसी व्यक्ति को तुच्छ नही समझना चाहिए बल्कि उसके विपरीत उसके व्यक्तित्व को समुचित आदर प्रदर्शित करना चाहिए तथा उसके पूर्ण विकास के लिए सुअवसर प्रदान करना चाहिए। परन्तु यह तभी सम्भव है कि जब कि एक नवीन मानव संस्कृति के किनारे खड़ा हुआ व्यक्ति अनुभव करे कि हम तभी अपने गन्तव्य की प्राप्ति कर सकते है जब हम अपने नैतिकता तथा मानव व्यवहार के सिद्धान्तों को बदले तथा सामुहिक नैतिकता को सर्वोपरि मानें। हमको अनुभव करना चाहिए कि पूर्ण सफलता की प्राप्ति व्यक्ति की सफलता पर निर्भर करती है तथा इस अनुभूति के साथ कि हम एक नए समाज के श्रष्टा हैं जिसमें सहस्रो प्राणी इतिहास में प्रथम बार एक उत्तम मानवता का अस्तित्व अनुभव करेंगे, हमे प्रसन्नता महसूस करनी चाहिए। सहस्रो

प्राणी जो युगों से जानवरों की तरह अपना अस्तित्व बनाए थे, एक नवीन स्तर पर लाए जाएंगे तथा एक नवीन स्वतन्त्रता अर्जित करेंगे। जो कुछ व्यक्तिगत रूप मे उस से छीना गया, उनको वापस हो जायगा तथा इस प्रकार उसके विराग का अन्त होगा।

परन्तु यह सब अर्जित करने के लिये एक नवीन जाति के अस्तित्व की आवश्यकता होगी जो समाज का सार होगी। वे एक नवीन युग एवं संस्कृति के अग्रगण्य होंगे। उनके वातावरण का एक नवीन दृष्टिकोण होगा, मानवता की वर्तमान शोचनीय परिस्थति के प्रति जागरुकता, तथा उनके उपचार के ज्ञान की आवश्यकता होगी अध्यात्मिकता के विश्व मे और भी विषमताएं हैं। यह वस्तुत. एक मानव समस्या है। वे परिस्थितियाँ जिन मे समानता, सामाजिक न्याय तथा शान्ति का परिचय अथवा ज्ञान हो सकता है, वर्तमान हैं। केवल मनुष्य को उन साधनो को प्रयोग में लाने का ज्ञान प्राप्त करना है जो जन हित मे हो।

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था ने मनुष्य को एक विशेष दिशा मे मोड़ कर, शक्तिहीन तथा व्यक्तित्वहीन करके दास बना दिया है। आज व्यक्ति एक मशीन से सम्बद्ध मात्र है। कार्यकर्ता अपने परिश्रम के यन्त्र का मालिक नही हे। उसे अपने कार्य मं प्रसन्नता नही होती। उसके लिये यह रूखा एवं निस्सार अस्तित्व है। वह अपनी क्षुद्रता के प्रति खूब जागरुक है। वह अनुभव करता है कि जीवन मे जैस उसे कोई भाग नही लेना है। इसके द्वारा उसके मन में सामाजिक समस्याओं के प्रति निराशा, उदासीनता एवं उपेक्षा की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस अस्व-थ परिस्थिति ने उन विश्वासों तथा धर्मो को व्यापक बना दिया हे जिन्होंने वर्तमान समस्याओं का समाधान निकालने के बजाय उनको और जटिल बना दिया। वे हमको उन समस्याओ पर विजय पाने के लिए न तो उत्साहित करती हैं और न इस ओर हमारा विश्वास स्थिर होने देती हैं। विश्व युद्ध से पीड़ित लोग जो निःसहाय हैं, पुराने धर्मो में ही सान्त्वना ढूढ़ते है और उनके दृष्टिकोण जो वर्तमान वातावरण मे अपनी महत्वहीनता खो चुके है तथा जो ऐसी दशा में न तो किसी नई विचारधारा को जन्म दे पाने के योग्य हैं और न उस ओर मुड़ने की स्थिति में है, अब केवल निराशावादी एवं कुटिल बनकर रह गए हैं यह दुखदायी बात है कि बहुत से सभ्य, सूक्ष्मग्राही व्यक्ति हैं जिनसे समाज के पुर्ननिर्माण मे पथप्रदर्शन की आशा की जा सकती है परन्तु जो अपने जीवनपथ

को त्याग कर किसी धार्मिक अध्यात्मवाद की शरण मे चले गये हैं। हमे उन विचारधाराओ को निष्काशित कर देना चाहिए जो हमें आध्यात्मवादी बनाते हैं अथवा जीवन का धुंधला दृश्य उपस्थित करते हैं। हम भारतवासी इस प्रकार के निराशावादी विचारों पर विश्वास करने के आदी हो गये हैं जो हमें बताते हैं कि जीवन एक रिक्त स्वप्न है, यह मिथ्या है और जो जीवन सागर से तथा कष्टों से मुक्ति का मार्ग बताते हैं। इस प्रकार के दर्शन एव अनुशासन हमारा कुछ भला नहीं कर सकते। मनुष्य जिसने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर उसे अपने आधीन कर लिया है, इस बात में विश्वास करने से इन्कार कर देगा कि अन्त ही उसका भाग्य है और वह अपने समक्ष फैली हुई समस्याओं की विशालता से हतोत्साह नहीं होगा। निराशावादिता एवं कुटिलता केवल अस्थाई अवस्थाए हैं और निश्चय ही यही मनुष्य उससे ऊपर उठेगा और जीवन को एक विशाल एवं बलिष्ठ रूप देगा और उसको प्राप्त उन अवसरो को जाने न देगा जो उसे एक सुन्दर एवं सुखदायी समाज का सृष्टा बनने के लिए आज मिले हैं। वह अपना मुंह उस भूत में नहीं छिपाएगा जो हमारी आँखों के सामने मिट रहा है और जो उन समस्याओं के समाधान के लिये कोई मार्ग नही बताता जो आज हमारे सामने हैं।

जीवन और ब्रह्माण्ड पर हमारे दृष्टिकोण ने अपनी एकता खोयी है। शिक्षा के क्षेत्र में प्राकृतिक एव मानवीय विज्ञानों के बीच विभाजन किया जाता है। जिस प्रकार ज्ञान एक रूप नही है उसी प्रकार हमारे विचारों का ढांचा भी एक खण्ड का नहीं है। इसका फल यह है कि जबकि वैज्ञानिक अपने निजी क्षेत्र मे वस्तुओं का बुद्धिमानी से विवेचन करता है, वह अन्य मामलों मे परम्परा से चले आ रहे विश्वास के आधार पर उन्हे देखता है और मानवीय अनुभवों के दूसरे क्षेत्रो में वैज्ञानिक सिद्धान्तो को लागू करने का कोई प्रयत्न नही करता है। इस कारण, वैज्ञानिक ढंग से सामाजिक विश्लेषण की नैतिक आदर्शो के साथ सावयवी एकता को प्राप्त करना होगा। तब सामाजिक समस्याओं में विज्ञान का प्रयोग नैतिक न रहेगा और वैज्ञानिक ज्ञान का हमारा साधन सर्वसाधारण की भलाई की प्राप्ति के लिए प्रयोग में लाया जावेगा।

पुनश्च सर्वसाधारण को समाज के वर्तमान रवैये के प्रति जागरुक बनाना चाहिए और उसको बताना चाहिए कि केवल सहकारी प्रयत्नों और अपने सकीर्ण स्वार्थी हितों

को समाज के हितों के अधीन रखने के द्वारा ही सबके लिये अच्छे जीवन की दशाएँ सृजित की जा सकती है।

एक पूर्ण जीवन इसी प्रकार के समाज में सम्भव है जिसमें व्यक्ति को अपने नैतिक, मानसिक, कलात्मक जीवन को प्रकट करने का पूर्ण एव स्वतंत्र क्षेत्र प्राप्त हो। इस प्रकार के समाज के लिये पहले आधार रखना होगा और एक स्वस्थ वातावरण बनाना होगा जिससे कि साधारण व्यक्ति निर्धनता एव असुरक्षा के भय से बचाया जा सके। केवल इसी प्रकार के भय एवं अभावों से रहित वातावरण मे नई सभ्यता पनप सकती है। मानव जाति के ऐतिहासिक विकास मे मानवता इस अगले बड़े कदम को उठाने ही वाली है और जिन लोगो ने इस सुन्दरतर विश्व का दिवा-स्वप्न देख लिया है जिसमे से दासता और शोषण का निर्वासन (निष्कासन) कर दिया गया है और जिसमें जीवन का केवल एक महान हित और निष्ठा होगी अर्थात कि वे अपनी शक्तियों का उपयोग करेंगे और अपनी प्रतिभा का प्रयोग सम्पूर्ण मानव जाति की सेवा के लिये करेंगे।

सूझ-बूझ और समझदारी रखने वाले व्यक्ति सर्वस्व निछावर करने की भावना से प्रेरित होकर अपने कार्यों मे संलग्न हो जायेंगे और चहुं ओर मानवीय एकता और सहकारिता के प्रयत्नो का सदेश प्रसारित करेंगे। सभी जातीय और राष्ट्रीय बन्धनों को समूल नष्ट करना होगा और मानवता को अपने गहन सम्बधो को अनुभव करना होगा यदि उसे अपने आपको पूर्ण नष्ट होने से बचाना है। यह हमारा सौभाग्य है कि हम एक ऐसे युग मे रह रहे हैं जिसमे सर्वसाधारण की भलाई के लिये अत्यधिक सम्भावनायें है, और जिन व्यक्तियों में देखने की क्षमता है वह हमारे सामने ही चलने वाले नये आन्दोलन की रूप-रेखा स्पष्ट देख सकते हैं। हमें दो विकल्प में से एक को चुनना है कि हम पूर्ण रूप से मानबता की सेवा करेंगे या केवल अपने संकीर्ण और वर्णात्मक हितो की रक्षा करेंगे? मेरे लिये आज सच्चे जीवन का तात्पर्य सामान्य हित के लिये सामाजिक पुनर्गठन के अर्थपूर्ण आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना है।

अनुवाद : **ओम तिवारी अरुण**

☐

मेरी अपनी कहानी

आचार्य जी के जीवन का
संक्षिप्त विवरण
उन्हीं के शब्दों में

मेरा जन्म सम्वत् 1946 में कार्तिक शुक्ल अष्टमी को सीतापुर में हुआ था। हम लोगों का पैतृक घर फैजाबाद में है, किन्तु उस समय मेरे पिता श्री बलदेव प्रसाद जी सीतापुर में वकालत करते थे। हमारे खानदान में सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति मेरे दादा के छोटे भाई थे। अवध में अंग्रेजी हुकूमत सन् 1856 में कायम हुई। वह पुराने कैनिंग कालेज में अध्यापक का कार्य करते थे। उन्होंने मेरे पिता और मेरे ताऊ को अंग्रेजी शिक्षा दी। पिता जी ने कैनिंग कालेज से एफ० ए० कर वकालत की परीक्षा पास की थी। आँखों की बीमारी के कारण वे बी० ए० नहीं कर सके। मेरे बाबा उनको कानून की पुस्तकें सुनाया करते थे और सुन-सुन कर ही उन्होंने परीक्षा की तैयारी की थी। वकालत पास करने पर वे सीतापुर में बाबा के शिष्य मुंशी मुरलीधर जी के साथ वकालत करने लगे। दोनों सगे भाई की तरह रहते थे। दोनों की आमदनी और खर्च एक ही जगह से होते थे। मुंशीजी के कोई संतान न थी। वे अपने भतीजे को पुत्र के समान मानते थे। मेरे जन्म के लगभग दो वर्ष बाद मेरे दादा की मृत्यु हो जाने के कारण पिता जी को सीतापुर छोड़ना पड़ा और वे फैजाबाद में वकालत करने लगे।

जब वे सीतापुर में थे, तभी उनकी धार्मिक प्रवृत्ति शुरू हो गयी थी। किसी सन्यासी के प्रभाव में आने से ऐसा हुआ था। वे बड़े दानशील और सात्विक वृत्ति के थे। वेदान्त में उनकी बड़ी अभिरुचि थी और इस शास्त्र का उनको अच्छा ज्ञान था। वे सन्यासियों का सत्संग सदा किया करते थे। जिस समय उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी, उस समय फारसी का प्रचलन था। किन्तु

अपनी संस्कृति और धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उन्होंने संस्कृति का अभ्यास किया था। वे एक नामी वकील थे, किन्तु वकालत के अतिरिक्त भी उनकी अनेक दिलचस्पियां थी। बालकों के लिए उन्होंने अंग्रेजी, हिन्दी और फारसी में पाठ्य पुस्तकें लिखी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई संग्रह-ग्रंथ भी प्रकाशित किये थे। अंग्रेजी की प्राइमर तो इन्होंने मेरे बडे भाई को पढ़ाने के लिए लिखी थी। मेरा विद्यारंभ इन्ही पुस्तकों से हुआ था। उनको मकान बनाने और बाग लगाने का बड़ा शौक था। हमारे घर पर एक छोटा सा पुस्तकालय भी था। जब मैं बड़ा हुआ तो गर्मी की छुट्टियों मे इनकी देखभाल भी किया करता था। मै ऊपर कह चुका हूं कि मेरे पिताजी धार्मिक थे। और इस नाते सनातन धर्म के उपदेशक, सन्यासी और पंडित मेरे घर पर प्रायः आया करते थे, किन्तु पिता जी कांग्रेस और सोशल कान्फरेन्स के कामो में भी थोड़ी बहुत दिलचस्पी लेते थे। मेरे प्रथम गुरु थे पंडित कालीदीन अवस्थी। वे हम भाई-बहनों को हिन्दी, गणित और भूगोल पढाया करते थे। पिता जी मुझसे विशेष रुप से स्नेह करते थे। वे भी मुझे नित्य आध घण्टा पढाया करते थे। मै उनके साथ प्राय: कचहरी जाया करता था। मुझे याद है कि वे मुझे अपने साथ एक बार दिल्ली ले गये थे। वहां भारत धर्ममहामण्डल का अधिवेशन हुआ था। उस अवसर पर पण्डित दीनदयालु शर्मा का भाषण सुनने को मिला था। उस समय उनके मूल्य को आकने की मुझमे बुद्धि न थी। केवल इतना याद है कि शर्मा जी की उस समय बड़ी प्रसिद्धि थी।

मैंने घर पर तुलसीकृत रामायण और समग्र हिन्दी महाभारत पढा। इनके अतिरिक्त बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, सूरसागर आदि पुस्तकें भी पढ़ीं। उस समय चन्द्रकान्ता की बड़ी शोहरत थी। मैंने इस उपन्यास को 16 बार पढा होगा। चन्द्रकान्ता संतति को, जो 24 भाग में हैं, एक बार पढ़ा था। न मालूम कितने लोगों ने चन्द्रकान्ता पढने के लिये हिन्दी सीखी होगी। उस समय कदाचित इन्हीं पुस्तकों का पठन-पाठन हुआ करता था। 10 वर्ष की उम्र मे मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिता के साथ नित्य मैं संध्या-वन्दन और भगवत्गीता का पाठ करता था। एक महाराष्ट्र ब्राह्मण मुझको सस्वर वेदपाठ सिखाते थे और मुझको एक समय रुद्री और सम्पूर्ण गीता कंठस्थ थी। मैंने अमरकोश और लघुकौमुदी भी पढ़ी थी। जब मैं 10 वर्ष का था, अर्थात् सन् 1899 में, लखनऊ मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। पिता जी डेलीगेट थे। मै भी उनके साथ गया था। उस समय के डेलीगेट का

"बैज" होता था कपड़े का फूल। मैंने भी दरजी से वैसा ही एक फूल बनवा लिया और उसको लगा कर अपने चाचाजात भाई के साथ "विजिटर्स गैलरी" मे जा बैठा। उस जमाने मे प्राय भाषण अंग्रेजी मे ही होते थे और यदि हिन्दी मे होते तब भी मैं कुछ ज्यादा न समझ सकता। ऐसी अवस्था में सिवा शोरगुल मचाने के मै कर ही क्या सकता था। दर्शकों ने तंग आकर मुझे डांटा और पडाल से भाग कर मैं बाहर चला आया। उस समय मे कांग्रेस के महत्व को क्या समझ सकता था। किन्तु इतना मै जान सका कि लोकमान्य तिलक, श्री रमेशचन्द्र दत्त और जस्टिस रानाडे देश के बड़े नेताओं में से थे। इनका दर्शन मैंने प्रथम बार वही किया। रानाडे महाशय की तो सन् 1901 मे मृत्यु हो गयी। दत्त महाशय का दर्शन दोबारा सन् 1906 में कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर हुआ।

मैं सन् 1902 मे स्कूल में भरती हुआ। सन् 1904 या 1905 मे मैंने थोड़ी बंगला सीखी और मेरे अध्यापक मुझको कृत्तिवास की रामायण सुनाया करते थे। पिता जी का मेरे जीवन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उनकी सदा शिक्षा थी कि नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार किया करो, उनको गाली गलौज न दो। मैंने इस शिक्षा का सदा पालन किया। विद्यार्थियो मे सिगरेट पीने की बुरी प्रथा उस समय भी थी। एक बार मुझे याद है कि अयोध्या मे कोई मेला था। मैंने शौकिया सिगरेट की एक डिबिया खरीदी। सिगरेट जलाकर जो पहला कश खींचा तो सिर घूमने लगा। इलायची पान खाने पर तबियत सभली। मुझे आश्चर्य हुआ कि लोग क्यों सिगरेट पीते हैं। मैंने उस दिन से आज तक सिगरेट नही छुआ। हाँ, श्वास के कष्ट को कम करने के लिए कभी-कभी स्टैमोनियम के सिगरेट पीने पड़े हैं। मेरे पिता सदा आदेश दिया करते थे कि कभी झूठ न बोलना चाहिये। मुझे इस सम्बन्ध मे एक घटना याद आती है। मै बहुत छोटा था। कोई सज्जन मेरे मामू को पूछते हुए आये। मैं घर के अन्दर गया। मामू से कहा कि आपको कोई बाहर बुला रहा है। उन्होंने कहा कि जाकर कह दो कि घर मे नहीं है। मैंने उनसे यह सदेश ज्यों का त्यों कह दिया। मेरे मामू बहुत नाराज हुए। मैं अपनी सिधाई मे यह भी न समझ सका कि मैंने कोई अनुचित काम किया है। इससे यह नतीजा न निकाले कि मैं बड़ा सत्यवादी हू किन्तु इतना सच है कि मै झूठ कम बोलता हूं। ऐसा जब कभी होता है तो लज्जित होता हूं और बहुत देर तक सन्ताप बना रहता है। पिता जी की शिक्षा

चेतावनी का काम करती है। मैं ऊपर कह चुका हूं कि मेरे यहाँ अक्सर साधु-सन्यासी और उपदेशक आया करते थे। मेरे पिता के एक स्नेही थे। उनका नाम था पंडित माधव प्रसाद मिश्र। वे महीनों हमारे घर पर रहा करते थे। वे बंगला भाषा अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने "देशेर कथा" का हिन्दी में अनुवाद किया था। यह पुस्तक जब्त कर ली गयी थी। वे हिन्दी के बड़े अच्छे लेखक थे। वे राष्ट्रीय विचार के थे। मैं इनके निकट सम्पर्क में आया। मेरा घर का नाम "अविनाशीलाल" था। पुराने परिचित आज भी इसी नाम से पुकारते हैं। मिश्र जी पर बंगला भाषा का अच्छा प्रभाव था। उन्होंने हम सब भाइयों के नाम बदल दिये। उन्होंने ही मेरा नाम "नरेन्द्रदेव" रखा। सनातन धर्म पर प्रायः व्याख्यान मेरे घर पर हुआ करते थे। सन् 1906 मे जब मैं एण्ट्रेन्स में पढ़ता था, स्वामी रामतीर्थ का फैजाबाद आना हुआ और हमारे अतिथि हुए। उस समय वे केवल दूध पर रहते थे। शहर में उनका एक व्याख्यान ब्रह्मचर्य पर हुआ था और दूसरा व्याख्यान वेदान्त पर मेरे घर पर हुआ था। उनके चेहरे पर बड़ा तेज था। उनके व्यक्तित्व का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा और बाद को मैंने उनके ग्रथों का अध्ययन किया। वे हिमालय की यात्रा करने जा रहे थे। मिश्र जी ने उनसे कहा कि सन्यासी को किसी सामग्री की क्या आवश्यकता, इतना कहना था कि वे अपना सारा सामान छोड़कर चले गये और पहाड़ से उनकी चिट्ठी आई कि "राम खुश है।"

हमारे स्कूल मे एक बड़े योग्य शिक्षक थे। उनका नाम था श्री दत्तात्रेय भीकाजी रानाडे। उनका मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके पढ़ने का ढंग निराला था। उस समय मैं 8वी कक्षा में था। किन्तु अंग्रेजी व्याकरण मे हमारे दर्जे के विद्यार्थी 10वीं कक्षा के विद्यार्थियो के कान काटते थे। मै अपनी कक्षा में सर्वप्रथम हुआ करता था। मेरे गुरुजन भी मुझसे प्रसन्न रहते थे, किन्तु संस्कृत के पंडित महाशय अकारण मुझसे और मेरे सहपाठियों से नाराज हो गये और उन्होंने वार्षिक परीक्षा मे हम लोगों को फेल करने का इरादा कर लिया। हम लोग बड़े परेशान हुए। उस समय मेरी कक्षा के अध्यापक मास्टर राधेरमणलाल स्कूल लाइब्रेरियन थे। इनका भी हम लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था। अपने जीवन में एक बार यह विरक्त हो गये थे। इनके घर पर हम लोग प्रायः जाया करते थे। यह अपने विद्यार्थियों को बहुत मानते थे।

लाइब्रेरी की कुंजी मेरे सुपुर्द थी और मैं ही पुस्तकें निकाल कर दिया करता था मुझे याद आया कि पंडित जी दो वर्ष के कलैंडर अपने नाम ले गये हैं। खयाल आया कहीं इन्ही वर्षों के एंट्रेन्स के प्रश्न-पत्रों से प्रश्न न पूछ बैठें। मैंने अपने सहपाठियों के साथ बैठ कर उन प्रश्न पत्रो को हल किया। देखा गया कि उन्ही प्रश्नपत्रों से सब प्रश्न पूछे गये हैं। परीक्षा भवन में पंडित जी ने मुझसे पूछा कि कहो कैसा कर रहे हो ? मैंने उत्तेजित होकर कहा कि जीवन मे ऐसा अच्छा परचा कभी नहीं किया। उन्होंने कोर्स के बाहर के भी प्रश्न पूछे थे। मुझे विवश होकर 50 में से 46 अंक देने पड़े और कोई भी विद्यार्थी फेल नहीं हुआ। यदि मैं लाइब्रेरीयन महाशय का सहायक न होता तो अवश्य फेल हो गया होता।

सन् 1905 में पिता जी के साथ मैं बनारस कांग्रेस मे गया। पिता जी के सम्पर्क मे आने से मुझे भारतीय संस्कृति से प्रेम हो गया था। उसका ज्ञान तो कुछ था नहीं, किन्तु इस कारण आगे चलकर मैंने एम० ए० में संस्कृत ली। सन् 1904 मे पूज्य मालवीय जी फैजाबाद आये थे। भारत धर्म महामंडल मे संबन्ध होने के नाते वह मेरे पिता जी से मिलने घर पर आये। मुझ से गीता के एकाध अध्याय सुने। वे मेरे शुद्ध उच्चारण से बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि एंट्रेन्स पास कर प्रयाग आना और मेरे हिन्दू बोर्डिंग हाउस मे रहना। पूज्य मालवीय जी के दर्शन प्रथम बार हुए थे। उनका सौम्य चेहरा और मधुर भाषण अपना प्रभाव डाले बिना रहता नहीं था। यद्यपि मैंने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज मे नाम लिखाने का विचार किया था, किन्तु साथियों के कारण उस विचार को छोड़ना पड़ा। एंट्रेंस पास कर मैं इलाहाबाद पढ़ने गया। और हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगा। मेरे 3-4 सहपाठी थे हमको एक बड़े कमरे में रखा गया। छात्रावास में ठहरने का यह पहला अवसर था।

बंग-भंग के कारण कांग्रेस मे एक नये दल का जन्म हुआ था, जिसके नेता लोकमान्य तिलक, श्री विपिनचन्द्र पाल आदि थे। उस समय तक मेरे कोई खास राजनीतिक विचार न थे, किन्तु कांग्रेस के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव था। मैं सन् 1905 मे दर्शक के रूप मे कांग्रेस में शरीक हुआ था।

प्रिन्स आव वेल्स भारत आने वाले थे उनका स्वागत करने के लिये एक प्रस्ताव गोखले ने कांग्रेस के सम्मुख रखा था। तिलक ने उनका घोर विरोध किया। अन्त मे दबाव मे वापिस ले लिया, किन्तु उसी समय पंडाल से बाहर

चले आये। विरोध की यह ध्वनि सुनाई पडी। सन् 1906 मे कलकत्ते मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। प्रयाग आने पर मेरे विचार तेजी से बदलने लगे। हिन्दू बोर्डिंग हाउस उग्र विचारो का केन्द्र था। पंडित सुन्दरलाल जी उस समय विद्यार्थियों के अगुवा थे। अपने राजनीतिक विचारो के कारण वे विश्वविद्यालय से निकाले गये। उस समय बोर्डिंग हाउस मे रात-दिन राजनीतिक चर्चा हुआ करती थी। मैं बहुत जल्दी गरम दल के विचार का हो गया हममे से कुछ लोग कलकत्ते के अधिवेशन मे शरीक हुए। रिपन कालेज में हम लोग ठहराये गये। नरम-गरम दल का संघर्ष चल रहा था और यदि श्री दादाभाई नौरोजी सभापति न होते तो वही दो टुकडे हो गये होते। उनके कारण यह संकट टला। इस नवीन दल के कार्यक्रम के प्रधान अंग थे स्वदेशी। विदेशी माल का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा। कांग्रेस का लक्ष्य बदलने की भी बातचीत थी। दादाभाई नौरोजी ने अपने भाषण मे 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया और इस शब्द को लेकर दोनो दल में विवाद खड़ा हो गया। यद्यपि पुराने नेता बहिष्कार के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि इससे विद्वेष और धर्षों का भाव फैलता है, तथापि बंगाल के लिए उनको भी इसे स्वीकार करना पड़ा।

जापान की विजय से एशिया मे जन-जागृति का आरंभ हुआ। एशिया वासियो ने अपने खोये हुये आत्म-विश्वास को फिर से पाया और अंग्रेजो की ईमानदारी पर जो बालोचित विश्वास था वह उठने लगा। इस पीढ़ी का अंग्रेजी शिक्षित वर्ग समझता था कि अंग्रेज हमारे कल्याण के लिए भारत आया है और हमको शासन के कार्य मे दक्ष बना देगा, तब वह स्वेच्छा से राज्य सौंपकर चला जायगा। बिना इस विश्वास को दूर किये राजनीति मे प्रगति आ नही सकती थी। लोकमान्य तिलक ने यही काम किया। इस नये दल की स्थापना की घोषणा कलकत्ते मे की गयी। इसकी ओर से कलकत्ते मे दो सभाएं हुई। एक सभा बडा बाजार मे हुई थी। उसमे भी मैं मौजूद था इस सभा की विशेषता यह थी कि इसमें सब भाषण हिन्दी में हुए थे। श्री विपिन-चन्द्रपाल और लोकमान्य तिलक भी हिन्दी मे बोले थे। श्री पाल को हिन्दी बोलने में कोई विशेष कठिनाई नही प्रतीत हुई, किन्तु लोकमान्य की हिन्दी टूटी-फूटी थी। बड़ा बाजार में उत्तर भारत के लोग अधिकतर रहते हैं। उन्ही की सुविधा के लिए हिन्दी मे भाषण कराये गए थे। बंगाल में इस नये दल का अच्छा प्रभाव था। कलकत्ते

का ग्रेस के बाद संयुक्त प्रांत को गरम करने के लिए दोनों दलों में होड़ लग गयी प्रयाग में दोनों दलों के बड़े नेता आये और उनके व्याख्यानों को सुनने का मुझे अवसर मिला। सबसे पहले लोकमान्य आये। उनके स्वागत के लिये हम लोग स्टेशन पर गये। उनकी सभा का आयोजन थोड़े से विद्यार्थियों ने किया था। शहर के नेताओं में से कोई उनके स्वागत के लिए नहीं गया। उनकी सवारी के लिए एक सज्जन घोड़ा गाड़ी लाये थे। हम लोगों ने घोड़ा खोल कर स्वयं गाड़ी खींचने का आग्रह किया किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। लोकमान्य के शब्द थे--"इस उत्साह को किसी और अच्छे काम के लिए सुरक्षित रखिये।" एक वकील साहब के अहाते में उनका व्याख्यान हुआ था। वकील साहब इलाहाबाद से बाहर गये हुए थे। उनकी पत्नी ने इजाजत दे दी थी। हम लोगों ने दरी बिछायी। एक विद्यार्थी ने 'वन्दे-मातरम्' गाना गाया और अंग्रेजी में भाषण शुरू हुआ। लोकमान्य तर्क और युक्ति से काम लेते थे। उनके भाषण में हास्य-रस का भी पुट रहता था। किन्तु वह भावुकता से बहुत दूर थे। उन्होंने कहा कि अंग्रेजी मसल है कि ईश्वर उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता करता है। तो क्या तुम समझते हो कि अंग्रेज ईश्वर से भी बड़ा है? इसके कुछ दिनों बाद श्री गोखले आए और उनके कई व्याख्यान कायस्थ पाठशाला में हुए। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा कि आवश्यकता पड़ने पर हम और टैक्स देना भी बन्द कर सकते हैं। इसके बाद श्री विपिनचन्द्र पाल आए और उनके 4 ओजस्वी व्याख्यान हुए इस तरह समय-समय पर किसी न किसी दल के नेता प्रयाग आते रहते थे। लाला लाजपतराय और हैदरजा भी आए। नरम दल के नेताओं में केवल श्री गोखले का कुछ प्रभाव हम विद्यार्थियों पर पड़ा। हम लोगों ने स्वदेशी का व्रत लिया और गरम दल के अखबार मंगाने लगे। कलकत्ते से दैनिक 'वन्दे-मातरम्' आता था, जिसे हम बड़े चाव से पढ़ा करते थे। इसके लेख बड़े प्रभावशाली होते थे। श्री अरविन्द घोष इसमें प्रायः लिखा करते थे। उनके लेखों ने विशेष रूप से प्रभावित किया। शायद ही उनका कोई लेख होगा जो मैंने न पढ़ा हो और जिसे दूसरों को न पढ़ाया हो। पांडिचेरी जाने के बाद उनका प्रभाव कायम रहा और मैं 'आर्य' का वर्षों ग्राहक रहा। बहुत दिनों तक यह आशा थी कि वह साधना पूर्ण करके बंगाल लौटेंगे और राजनीति में पुनः प्रवेश करेंगे। सन् 1921 में उनसे ऐसी प्रार्थना भी की गयी थी किन्तु उन्होंने अपने भाई बीरेन्द्र को लिखा

कि सन् 1906 के अरविन्द को बगाल चाहता है, किन्तु मै सन् 1908 का अरविंद नही रहा। यदि मेरे ढग के 99 भी कभी तैयार हो जाय तो मै आ सकता हू। बहुत दिनो तक मुझे यह आशा बनी रही, किन्तु अन्त मे जब मै निराश हो गया तो उधर से मुंह मोड़ लिया। उनके विचारो में ओज के साथ-साथ सच्चाई थी। प्रचीन संस्कृति के भक्त होने के कारण भी उनके लेख मुझे विशेष रूप से पसन्द आते थे। उनका जीवन बडा सादा था। जिन्होंने अपनी पत्नी को लिखे उनके पत्र पढे हैं, वे इसको जानते हैं। उनके सादे जीवन ने मुझको बहुत प्रभावित किया। उस समय लाला हरदयाल अपनी छात्रवृत्ति को छोड़ कर विलायत से लौट आये थे। उन्होंने सरकारी विद्यालयों मे दी जाने वाली शिक्षा प्रणाली का विरोध किया था और 'हमारी शिक्षा समस्या' पर 14 लेख पजाबी मे लिखे। उनके प्रभाव में आकर पजाब के कुछ विद्यार्थियों ने पढना छोड़ दिया था। उनके पढ़ाने का भार उन्होंने स्वयं लिया था। ऐसे विद्यार्थियों की संख्या बहुत थोड़ी थी। हरदयाल जी बडे प्रतिभाशाली थे और उनका विचार था कि कोई बडा काम बिना कठोर साधना के नही होता। एडविन् आरनोल्ड की 'लाइट आफ एशिया' को पढ़कर वह बिलकुल बदल गए थे। विलायत मे श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा का उन पर प्रभाव पडा था। उन्होने विद्यार्थियों के लिए दो पाठ्यक्रम तैयार किये थे। इन सूचियों की पुस्तकों को पढ़ना मैंने आरभ किया। उग्र विचार के विद्यार्थी उस समय रूस-जापान युद्ध, गैरीबाल्डी और मैजनी पर पुस्तकें और रूस के आतंकवादियों के उपान्यास पढा करते थे। सन् 1907 से प्रयाग से रामानन्द बाबू का 'माडर्न रिव्यू' भी निकलने लगा। इसका बडा आदर था। उस समय हम लोग प्रत्येक बगाली नवयुवक को क्रांतिकारी समझते थे। बंगला साहित्य मे इस कारण और भी रूचि उत्पन्न हो गयी। मैंने रमेशचन्द्र दत्त और बंकिम के उपान्यास पढे और बगला-साहित्य थोडा बहुत समझने लगा। स्वदेशी के व्रत मे हम पूरे उतरे। उस समय हम कोई भी विदेशी वस्तु नही खरीदते थे। माघ मेला के अवसर पर हम स्वदेशी पर व्याख्यान भी दिया करते थे। उस समय म्योर कालेज के प्रिंसिपल केनिंग्स साहब थे। वह कट्टर एग्लो-इडियन थे। हमारे छात्रावास मे एक विद्यार्थी के कमरे मे खुदीराम बसु की तसवीर थी। किसी ने प्रिंसिपल को इसकी सूचना दे दी। एक दिन शाम को वह आये और सीधे मेरे मित्र के कमरे मे गये। मेरे मित्र कालेज से निकाल

दिये गये, किन्तु श्रीमती एनी बेसेण्ट ने उनको हिंदू कालेज मे भरती कर लिया। धीरे-धीरे हम में कुछ का क्रान्तिकारियो से सम्बन्ध होने लगा। उस समय क्रान्तिकारियो का विचार था कि आई० सी० एस० मे शामिल होना चाहिये, ताकि क्रान्ति के समय हम जिले का शासन संभाल सकें। इस विचार से मेरे 4 साथी इगलैड गये। मैं भी सन् 1911 में जाना चाहता था, किन्तु माता जी की आज्ञा न मिलने के कारण न जा सका। इधर सन् 1907 में सूरत मे फूट पड़ चुकी थी। और काँग्रेस के गरम दल के लोग निकल आये थे। कन्वेन्शन बुलाकर काग्रेस का विधान बदल गया। इसे गरम दल के लोग कन्वेन्शन काँग्रेस कहते थे। गवर्नमेंट ने इस फूट से लाभ उठाकर गरम दल को छिन्न भिन्न कर दिया। कई नेता जेल मे डाल दिये गये। कुछ समय को प्रतिकूल देखकर भारत से बाहर चले गये और लदन, पेरिस, जिनेवा और बर्लिन मे क्रान्ति के केन्द्र बनाने लगे और वहां से ही साहित्य प्रकाशित होता था। मेरे जो साथी विलायत पढने गये थे, वह इस साहित्य को मेरे पास भेजा करते थे। श्री सावरकर की 'वार आफ इडियन इनडिपेण्डेन्स' की एक प्रति भी मेरे पास आयी थी। और मुझे बराबर हरदयलाल का 'बन्दे मातरम्' बर्लिन का 'तलवार' और पेरिस का 'इडियन सोशलाजिस्ट' मिला करता था। मेरे दोस्तो मे से एक सन् 1908 की लड़ाई मे जेल में बन्द कर दिये गये थे तथा अन्य दोस्त केवल बैरिस्टर होकर लौट आये। मैने सन् 1908 के बाद से काँग्रेस के अधिवेशनो में जाना छोड़ दिया, क्योंकि हम लोग गरम दल के साथ थे। यहा तक कि जब काग्रेस का अधिवेशन प्रयाग में हुआ, तव भी हम उसमे नही गये। सन् 1916 में जब काग्रेस मे दोनों दलो का मेल हुआ तव हम फिर कांग्रेस मे आ गए।

बी०ए० पास करने के बाद मेरे सामने यह प्रश्न आया कि मैं क्या करूँ। मै कानून पढ़ना नही चाहता था, मैं प्राचीन इतिहास मे गवेषणा करना चाहता था। म्योर कालेज मे भी अच्छे-अच्छे अध्यापकों के सम्पर्क में आया। डाक्टर गगानाथ झा की मुझ पर बडी कृपा थी। बी० ए० में प्रोफेसर ब्राउन से इतिहास पढा। भारत के मध्य युग का इतिहास वह बहुत अच्छा जानते थे। पढाते भी अच्छा थे। उन्हीं के कारण मैंने इतिहास का विषय लिया। बी०ए० पास कर मै पुरातत्व पढ़ने काशी चला गया। वहा डाक्टर वेनिस और नारमन

ऐसे सुयोग्य अध्यापक मिले। क्वींस कालेज मे जो अग्रेज अध्यापक थे, वह संस्कृत सीखने का प्रयत्न करते थे। डाक्टर वेनिस ऐसा पढ़ाने वाला कम होगा। नारमन साहब के प्रति भी मेरी बड़ी श्रद्धा थी। जब मैं क्वीस कालेज मे था, तब वहा श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल से परिचय हुआ। विदेश से आने वाला साहित्य वह मुझसे ले जाया करते थे। उनके द्वारा मुझे क्रान्तिकारियो के समाचार मिलते रहते थे। इन लोगों के साथ बड़ी सहानुभूति थी। किन्तु मैं डकैती आदि के सदा विरुद्ध था। मै किसी भी क्रातिकारी दल का सदस्य न था। किन्तु उनके कई नेताओ से परिचित था। वे मुझ पर विश्वास करते थे और समय समय पर मेरी सहायता भी लेते रहते थे। सन् 1913 में जब मैंने एम० ए० पास किया तब मेरे घरवालों ने वकालत पढ़ने का आग्रह किया। मै इस पेशे को पसन्द नही करता था, किंतु जब पुरातत्व विभाग मे स्थान न मिला, तब इस विचार मे कि वकालत करते हुये मैं राजनीति में भाग ले सकूगा, मैंने कानून पढ़ा।

सन् 1915 में मैं एल०एल०बी० पास कर वकालत करने फैजाबाद आया। मेरे विचार प्रयाग में परिपक्व हुये और वही मुझको एक नया जीवन मिला। इस नाते मेरा प्रयाग से एक प्रकार का आध्यात्मिक सबध है। मेरे जीवन मे सदा दो प्रवृत्तियां रही है—एक पढ़ने लिखने की ओर, दूसरी राजनीति की ओर। इन दोनो में संघर्ष रहता है—यदि दोनों की सुविधा एक साथ मिल जाती है तो मुझे बड़ा परितोष होता और यह सुविधा मुझे विद्यापीठ में मिली। इसी कारण वह मेरे जीवन का सबसे अच्छा हिस्सा है जो विद्यापीठ की सेवा मे व्यतीत हुआ और आज भी उसे मैं अपना कुटुंब समझता हूं।

सन् 1914 में लोकमान्य मांडले जेल मे रिहा होकर आये और अपने सहयोगियों को फिर से एकत्र करने लगे। श्रीमती एनी बेसेन्ट का उनको सहयोग प्राप्त हुआ और होमरुल लीग की स्थापना हुई। सन् 1916 मे हमारे प्रांत में श्रीमती बेसन्ट की लीग की स्थापना हुई। मैंने इस सबध मे लोकमान्य से बातें कीं और उनकी लीग की एक शाखा फैजाबाद मे खोलनी चाही, किंतु उन्होंने यह कह कर मना किया कि दोनो के उद्देश्य एक है दो होने का कारण केवल इतना है कि कुछ लोग मेरे द्वारा कायम की गई किसी संस्था में शरीक नही होना चाहते और कुछ लोग श्रीमती बेसेन्ट द्वारा स्थापित किसी स्थान मे

नही रहना चाहते। मैंने लीग की शाखा फैजाबाद मे खोली और उसका मंत्री चुना गया। इसकी ओर से प्रचार का कार्य होता था और समय समय पर सभाओं का आयोजन होता था। मेरा सबसे पहला भाषण अलीबन्धुओं की नजरबंदी का विरोध करने के लिए आमन्त्रित सभा में हुआ था। मैं बोलते हुए बहुत डरता था, किंतु किसी प्रकार बोल गया और कुछ सज्जनो ने मेरे भाषण की प्रशंसा की इससे मेरा उत्साह बढा और फिर धीरे धीरे संकोच दूर हो गया। मैं सोचता हूं कि यदि मेरा पहला भाषण बिगड़ गया होता तो शायद मैं भाषण देने का फिर साहस न करता।

मैं लीग के साथ साथ काँग्रेस मे भी था और बहुत जल्दी उसकी सब कमेटियो मे बिना प्रयत्न के पहुच गया। महात्मा जी के राजनीति क्षेत्र मे आने मे धीरे-धीरे काग्रेस का रूप बदलने लगा। प्रारम्भ मे वह ऐसा हिस्सा नही लेते थे, किंतु सन् 1919 से वह प्रमुख भाग लेने लगे। खिलाफत के प्रश्न को लेकर जब महात्मा जी ने असहयोग आदोलन चलाना चाहा तो असहयोग के कार्यक्रम के सम्बन्ध मे लोकमान्य से उनका मतभेद था। जून 1920 मे काशी मे ए० आई० सी० की बैठक के समय मैंने इस सम्बन्ध मे लोकमान्य से बातें की। उन्होने कहा मैने अपने जीवन मे कभी सरकार के साथ सहयोग नहीं किया : प्रश्न असहयोग के कार्यक्रम का है। जेल से लौटने के बाद जनता पर उनका वह पुराना विश्वास नही रह गया था और उनका ख्याल था कि प्रोग्राम ऐसा हो जिस पर जनता चल सके। वह कौंसिल के बहिष्कार के खिलाफ थे। उनका कहना था कि यदि आधी भी जगहें खाली रहे तो यह ठीक है, किंतु यदि वहाँ जगहें भर जायेगी तो अपने को प्रतिनिधि कहकर सरकार-परस्त लोग देश का अहित करेगे।

उनका एक सिद्धात यह भी था कि काग्रेस में अपनी बात रखो और अत मे जो उसका निर्णय हो उसे स्वीकार करो। मै तिलक का अनुयायी था, इसलिए मैंने काग्रेस मे कौंसिल-बहिष्कार के विरुद्ध मत दिया, किंतु जब एक बार निणय हो गया तो उसे शिरोधार्य किया। वकालत के पेशे मे मेरा मन न था। नागपुर के अधिवेशन में जब असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया तो उसके अनुसार मैंने तुरन्त वकालत छोड दी। इस निश्चय मे मुझे एक क्षण की भी देर न लगी। मैंने किसी से परामर्श भी नहीं किया क्योंकि मैं काँग्रेस के निर्णय से अपने को

बधा हुआ मानता था। मैंने अपने भविष्य का भी ख्याल नहीं किया। पित जी से एक बार पूछना चाहा, किन्तु यह सोचकर कि यदि उन्होंने विरोध किया तो मैं उनकी आज्ञा का उल्लघन न कर सकूगा, मैंने उनसे भी अनुमति नही मांगी। किंतु पिता जी को जब पता चला तो उन्होने कुछ आपत्ति न की। केवल इतना कह कि मुझको अपनी स्वतंत्र जीविका की कुछ फिक्र करनी चाहिये और जब तक जीवित रहे, मुझे किसी प्रकार की चिंता नही होने दी। असहयोग आंदोलन के शुरू होने के बाद एक वार जवाहरलाल नेहरू फैजाबाद आये और उन्होंने मुझसे कहा कि बनारस मे विद्यापीठ खुलने जा रहा है। वहां लोग तुम्हें चाहते है। मैंने अपने प्रिय मित्र श्री शिव प्रसाद जी को पत्र लिखा। उन्होने मुझे तुरन्त बुला लिया। शिवप्रसाद जी मेरे स पाठी थे और विचार-साम्य होने के कारण मेरी उनकी मित्रता हो गयी। वह बडे उदार हृदय के व्यक्ति थे। दुनिया में मैंने उन्ही को एक पाया जो नाम नही चाहते थे। क्रातिकारियो की भी वह धन से सहायता करते थे। विद्यापीठ के काम मे मेरा मन लग गया। श्रद्धेय डाक्टर भगवानदास जी ने मुझ पर विश्वास कर मुझे उपाध्यक्ष बना दिया। उन्ही की देख-रेख मे मैं काम करने लगा। मै दो वर्ष तक छात्रावास मे ही विद्यार्थियो के साथ रहता था। एक कुटुम्ब-सा था। साथ-साथ हम लोग राजनीतिक कार्य भी करते थे। कराची मे जब अलीबन्धुओ को सजा हुई थी, तब हम सब बनारस के गाँवों मे प्रचार के लिए गये थे। अपना-अपना बिस्तर बगल में दबा, नित्य पैदल घूमते थे। सन् 1926 में डाक्टर साहब ने अध्यक्ष के पद से त्यागपत्र दे दिया और मुझे अध्यक्ष बना दिया। बनारस मे मुझे कई नये मित्र मिले। विद्यापीठ के अध्यापको से मेरा बड़ा मीठा सम्बन्ध रहा। श्री श्रीप्रकाश जी से मेरा विशेष स्नेह हो गया। यह अत्युक्ति न होगी कि वह स्नेहवश मेरे प्रचारक हो गये। उन्होंने मुझे आचार्य कहना शुरू किया, यहाँ तक कि वह मेरे नाम का एक अग बन गया है। सबसे वह मेरी प्रशसा करते रहते थे। यद्यपि मेरा परिचय जवाहरलाल जी से होमरूल आंदोलन के समय मे था, तथापि श्री श्रीप्रकाश जी द्वारा उनसे तथा गणेश जी से मेरी घनिष्टता हुई। मैं उनके घर में महीनों रहा हूं। वह मेरी सदा फिक्र उसी तरह किया करते हैं जैसे माता अपने बालक की। मेरे बारे मे उनकी राय है कि मैं अपनी फिक्र नहीं करता हूं, शरीर के प्रति बडा लापरवाह हूं, मेरे विचार चाहे उनसे

मिले या न मिलें उनका स्नेह घटता नहीं। रियासती दोस्ती पायदार नहीं होती, किन्तु विचारों में अन्तर होते हुए भी हम लोगो के स्नेह में फर्क नही पड़ा है। पुराने मित्रो से वियोग दुखदायी है। किंतु शिष्टता बनी रहे तो सम्बन्ध मे बहुत अन्तर नही पड़ता। ऐसी मिसालें हैं, किन्तु बहुत कम।

नेता का मुझमें कोई भी गुण नही है। महत्वाकाक्षा भी नही है। यह बड़ी कमी है। मेरी बनावट कुछ ऐसी हुई है कि मैं न नेता हो सकता हूं और न अन्धभक्त अनुयायी। इसका यह अर्थ नही है कि मैं अनुसाशन में नहीं रहना चाहता। मैं व्यक्तिवादी नही हूं। नेताओं की दूर से आराधना करता हूं। उनके पास बहुत कम जाता रहा हूं। यह मेरा स्वाभाविक संकोच है। आत्मप्रशंसा सुनकर कौन खुश नही होता, अच्छा पद पाकर किसको प्रसन्नता नही होती, किंतु मैंने कभी इसके लिये प्रयत्न नही किया। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति होने के लिए मैंने अनिच्छा प्रकट की, किन्तु अपने मान्य नेताओं के अनुरोध पर खड़ा होना पड़ा। इसी प्रकार जब पंडित जवाहर लाल नेहरू ने मुझसे कार्य समिति मे आने को कहा, मैंने इन्कार कर दिया किन्तु उनके आग्रह करने पर मुझे निमंत्रण स्वीकार करना पड़ा।

मैं ऊपर कह चुका हू कि मै नेता नही हू। इसलिए किसी नये आन्दोलन या पार्टी का आरम्भ नही कर सकता। सन् 1934 मे जब जयप्रकाशजी ने समाजवादी पार्टी बनाने का प्रस्ताव रखा और मुझे सम्मेलन का सभापति बनाना चाहा तो मैंने इन्कार कर दिया। इसलिए नहीं कि मैं समाजवाद को नही मानता था, किन्तु इसलिए कि मैं किसी बड़ी जिम्मेदारी को उठाना नही चाहता था। उनसे मेरा काफी स्नेह था और इसी कारण मुझे अन्त मे उनकी बात माननी पड़ी। सम्मेलन मई सन् 1934 मे हुआ था। बिहार में भूकम्प हो गया था। उस सिलसिले में विद्यार्थियो को लेकर काम करने गया था। वहाँ पहली बार डाक्टर लोहिया से परिचय हुआ। मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि जब पार्टी का विधान बना तो केवल डाक्टर लोहिया और हम इस पक्ष में थे कि उद्देश्य के अन्तर्गत पूर्ण स्वाधीनता भी होनी चाहिये। अन्त में हम लोगों की विजय हुई। श्री मेहरअली से एक बार सन् 1928 में मुलाकात हुई थी। बम्बई के और मित्रों को मैं उस समय तक नही जानता था। अपरिचित व्यक्तियो के साथ-साथ काम करते मुझको घबराहट होती है, किन्तु प्रसन्नता की बात है कि सोशलिस्ट पार्टी के सभी प्रमुख कार्यकर्ता शीघ्र ही एक कुटुम्ब के सदस्य की तरह हो गये।

यों तो अपने सूबे में बराबर भाषण किया करता था, किंतु अखिल भारतीय काँग्रेस मे मैं पहली बार पटना में बोला। मौलाना मुहम्मद अली ने एक बार कहा था कि बंगाली और मद्रासी कांग्रेस में बहुत बोला करते हैं, बिहार के लोग जब औरों को बोलते देखते है तो खिसक कर राजेन्द्र बाबू के पास जाते हैं कि "रौवा बोली न," और यू० पी० के लोग खुद नहीं बोलते और जब कोई बोलता है तो कहते हैं, 'क्या बेवकूफ बोलता है।" हमारे प्रान्त के बड़े-बड़े नेताओं के आगे हम लोगों को कभी बोलने की जरूरत नहीं पड़ती थी। एक समय पंडित जवाहरलाल भी बहुत कम बोलते थे किंतु सन् 1934 में मुझे पार्टी की ओर से बोलना पड़ा। यदि पार्टी बनी न होती तो शायद मैं काँग्रेस मे बोलने का साहस भी नहीं करता।

पंडित जवाहरलाल नेहरू जी से मेरी विचारधारा बहुत मिलती-जुलती थी। इस कारण तथा उनके व्यक्तित्व के कारण मेरा उनके प्रति सदा आकर्षण रहा। उनके सम्बन्ध में कई कोमल स्मृतियाँ हैं। यहाँ केवल एक बात का उल्लेख करता हूँ। हम लोग अहमदनगर के किले में एक साथ थे। एक बार टहलते हुए कुछ पुरानी बातों की चर्चा चल पड़ी। उन्होंने कहा—'नरेन्द्रदेव ! यदि मैं कांग्रेस के आन्दोलन मे न आता और उसके लिए कई बार जेल की यात्रा न करता तो मै इंसान न बनता।" उनकी बहन कृष्णा ने अपनी पुस्तक मे जवाहरलाल जी का एक पत्र उद्धृत किया है, जिससे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। पंडित मोतीलाल जी की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपनी बहिनों को लिखा कि पिता की सम्पत्ति मेरी नहीं है, मै तो सबके लिए उसका ट्रस्टीमात्र हूँ। उस पत्र को पढ़कर मेरी आँखों में आँसू आ गये और मैंने जवाहरलाल जी की महत्ता को समझा। उनको अपने साथियों का बड़ा ख्याल रहता है। और बीमार साथियों की बड़ी शुश्रूषा करते है।

महात्मा जी के आश्रम में चार महीने रहने का मौका मुझे सन् 1942 मे मिला। मैंने देखा कि वे कैसे अपने प्रत्येक रोगी की पूछ-ताछ करते थे। प्रत्येक छोटे-बड़े कार्यकर्ता का ख्याल रखते थे। आश्रमवासी अपनी छोटी समस्याओं को लेकर उनके पास जाते थे और वह सबका समाधान करते थे। आश्रम में रोग-शय्या पर पड़े-पड़े मैं विचार करता था कि वह पुरुष जो आज के हिंदू धर्म के किसी नियम को नहीं मानता, वह क्यों असंख्य सनातनी हिंदुओं का आराध्य देवता बना हुआ है। पंडित समाज चाहे उनका भले ही विरोध करे, किंतु

अनपढ़ जनता उनकी पूजा करती है। इस रहस्य को हम तभी समझ सकते हैं, जब हम जानें कि भारतीय जनता पर श्रमणसंस्कृति का कहीं प्रभाव पड़ा है। जो व्यक्ति घर-बार छोड़कर निःस्वार्थ सेवा करता है, उसके आचार की ओर हिन्दू जनता ध्यान नहीं देती। पण्डित भले ही उसकी निन्दा करें, किन्तु सामान्य जनता उसका सदा सम्मान करती है। अक्टूबर, सन् 1941 मे जब मैं जेल से छूटा तब महात्मा जी ने मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे मुझसे पूछा और प्राकृतिक चिकित्सा के लिए आश्रम मे बुलाया। मैं महात्मा जी पर बोझ नहीं डालना चाहता था। इसलिए कुछ बहाना कर दिया। पर जब मैं ए० आई० सी० सी० की बैठक मे शरीक होने वर्धा गया और वहां बीमार पड गया, तब उन्होंने रहने के लिये आग्रह किया। मेरी चिकित्सा होने लगी। महात्मा जी मेरी बडी फिक्र रखते थे। एक रात मेरी तबियत बहुत खराब हो गयी। जो चिकित्सक नियुक्त थे, घबरा गये, यद्यपि इसके लिए कोई कारण न था। रात को 1 बजे बिना मुझे बताये महात्मा जी जगाये गये और वह मुझे देखने आये। वह उनका मौन का दिन था। उन्होंने मेरे लिए मौन तोडा। उसी समय मोटर भेज कर वर्धा से डाक्टर बुलाये गये। सुबह तक तबियत सम्भल गयी थी। दिल्ली में स्टैफर्ड क्रिप्स वार्तालाप के लिए आये थे। महात्मा जी दिल्ली जाना नही चाहते थे, किन्तु आग्रह होने पर गये। जाने के पहले मुझसे कहा कि वह हिन्दुस्तान के बंटवारे का सवाल किसी न किसी रूप में लायेंगे इसलिए उनकी दिल्ली जाने की इच्छा न थी। दिल्ली से बराबर फोन से मेरी तबियत का हाल पूछा करते थे। बा भी उस समय बीमार थी। इस कारण वे जल्दी लौट आये। जिनके विचार उनसे नहीं मिलते थे, यदि वे ईमानदार होते थे तो वह उनको अपने निकट लाने की चेष्टा करते थे। उस समय महात्मा जी सोच रहे थे कि जेल में वह इस बार भोजन नहीं करेंगे। उनके इस विचार को जानकर महादेव भाई बडे चिन्तित हुए। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम भी इस सम्बन्ध में महात्मा जी से बातें करो। डाक्टर लोहिया भी सेवाग्राम उसी दिन आ गये थे। उनसे भी यही प्रार्थना की गयी। हम दोनों ने बहुत देर तक बातें की। महात्मा जी ने हमारी बात शांतिपूर्वक सुनी, किन्तु उस दिन अंतिम निर्णय न कर सके। बम्बई में जब हम लोग 9 अगस्त को गिरफ्तार हो गये तो स्पेशल ट्रेन मे अहमदनगर ले जाये गये। उनमें महात्मा जी, उनकी पार्टी और बम्बई के कई

प्रमुख लोग थे। नेताओं ने उस समय भी महात्मा जी से अंतिम बार प्रार्थना की कि वह ऐसा काम न करें। किले में भी हम लोगों को सदा इसका भय लगा रहता था।

सन् 45 में हम लोग छूटे। मैं जवाहरलाल जी के साथ अल्मोड़ा जेल से 14 जून को रिहा हुआ। कुछ दिनों के बाद मैं पूना में महात्मा जी से मिला। उन्होंने पूछा कि सत्य और अहिंसा के बारे में अब तुम्हारे क्या विचार हैं? मैंने उत्तर दिया कि मैं सत्य की तो सदा से आराधना किया करता हूं, किन्तु इसमें मुझको संदेह है कि बिना कुछ हिंसा के राज्य की शक्ति हम अंग्रेजों से छीन सकेंगे। महात्मा जी के सम्बन्ध में अनेक संस्मरण हैं, किन्तु समयाभाव से हम इससे अधिक कुछ नहीं कहते।

इधर कई वर्षों से कांग्रेस में यह चर्चा चल रही है कि कांग्रेस में कोई पार्टी नहीं रहनी चाहिये। महात्मा जी इसके विरूद्ध थे। देश के स्वतंत्र होने के बाद भी मेरी राय थी कि अभी कांग्रेस से अलग होने का समय नहीं है, क्योंकि देश संकट से गुजर रहा है। सोशलिस्ट पार्टी में इस सम्बन्ध में मतभेद था; किन्तु मेरे मित्रों ने मेरी सलाह मानकर निर्णय को टाल दिया। मैंने यह भी साफ कर दिया था कि यदि कांग्रेस ने कोई ऐसा नियम बना दिया जिससे हम लोगों का कांग्रेस में रहना असम्भव हो गया तो मैं सबसे पहले कांग्रेस छोड़ दूंगा। कोई भी व्यक्ति, जिसको आत्मसम्मान का ख्याल है, ऐसा नियम बनाने पर नहीं रह सकता। यदि ऐसा नियम न बनता और पार्टी कांग्रेस छोड़ने का निर्णय करती तो यह ठीक ही है कि मैं आदेश का पालन करता, किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि मैं कहां तक उसके पक्ष में होता। कांग्रेस के निर्णय के बाद मेरे सब सन्देह मिट गए और अपना निर्णय करने में मुझे एक क्षण भी न लगा। मेरे जीवन के कठिन अवसर, जिनका मेरे भविष्य पर गहरा असर पड़ा है, ऐसे ही हुए हैं। इन मौकों पर ऐसी घटनाएं हुईं कि मुझे अपना फैसला करने में कुछ देर न लगी। इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूं।

मेरे जीवन के कुछ ही वर्ष रह गए हैं। शरीर सम्पत्ति अच्छी नहीं है, किन्तु मन में अब भी उत्साह है। सदा अन्याय से लड़ते ही बीता। यह कोई छोटा काम नहीं है। स्वतंत्र भारत में इसकी और भी आवश्यकता है। अपनी जिन्दगी पर एक निगाह डालने से मालूम होता है कि जब मेरी आंखें मुंदेंगी, मुझे एक परितोष होगा कि जो काम मैंने विद्यापीठ में किया है, वह स्थायी है। मैं कहा करता हूं कि यही मेरी पूंजी है और इसी के आधार पर मेरा राजनीतिक कारोबार चलता है। यह सर्वथा सत्य है।

☐

जनवाणी, मई सन् 1947

सृजनात्मक साहित्य से ही हिन्दी का विकास संभव

आचार्य नरेन्द्र देव

भारतीय संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रुप में स्वीकार कर लिया है। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उनका इस विषय में विशेष कर्तव्य है। उनको यह समझना चाहिये कि इस कार्य में उदारता, सहिष्णुता से काम लेने से ही सफलता मिल सकती है। अपनी मातृभाषा के लिये सबको पक्षपात होता है। अब जिसकी भाषा का साहित्य प्राचीन और उत्कृष्ट है वह किसी दूसरी भाषा को राष्ट्रभाषा के रुप में स्वीकार करते है तो उसका यह कारण नही है कि वे हिन्दी को अपनी भाषा से अधिक उत्कृष्ट मानते है। इसका एकमात्र कारण यही है कि वे अनुभव करते हैं कि राष्ट्रीय एकता को पुष्ट करने के लिये तथा परस्पर विचार-विनिमय की सुविधा के लिये एक राष्ट्रभाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। उन्होंने राष्ट्रहित मे ही हिन्दी को स्वीकार किया है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि हिन्दी उनकी मातृभाषा का स्थान ले लेगी। यह कार्य अहिन्दी भाषा भाषियों के हार्दिक सहयोग से और उनकी सद्भावना द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। इसमें तनिक भी सन्देह नही है कि जो थोड़ा बहुत विरोध कहीं-कहीं आज भी दिखाई देता है वह दूर हो जायेगा यदि हम लोग सतर्कता से काम ले और विनयपूर्वक हिन्दी के प्रचार में संलग्न हो। किन्तु यह मान लेना अनुचित होगा कि दक्षिण भारत में हिन्दी सीखने की तीव्र अभिलाषा का प्रमाण पाते हैं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा द्वारा बहुत अच्छा काम हो रहा है और हिन्दी का प्रचार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। मैसूर, त्रिवांकूर, आन्ध्र तथा कर्नाटक विश्वविद्यालय ने हिन्दी को माध्यम स्वीकार करने का निश्चय किया है। कहीं-कही हिन्दी एक ऐच्छिक विषय के रूप मे नियत पाठ्यक्रम में स्थान पा गयी है और यह देखा गया कि 75 प्रतिशत विद्यार्थी हिन्दी लेना पसन्द करते है। जो थोड़ा बहुत विरोध दिखाई पड़ता है उसके लिये

हम स्वयं उत्तरदायी हैं। हमको अपना कार्य इस प्रकार नहीं करना चाहिए जिससे हमारे भाइयों पर यह प्रभाव पड़े कि हम अपनी भाषा उन पर लादना चाहते हैं। असहिष्णुता और जल्दबाजी से हिन्दी का प्रचार नहीं होगा। हमारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि दूसरे राष्ट्रहित की भावना से प्रेरित होकर और एक सामान्य संस्कृति को विकसित करने के लिये हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करें। हमारी तनिक भी इच्छा नहीं है कि हिन्दी अन्य भाषाओं को अपने स्थान से परिच्युत करे। हम केवल इतना चाहते हैं कि अहिन्दी भाषा भाषी अपनी-अपनी भाषा के साथ-साथ हिन्दी का भी अध्ययन करें जिससे शनैः शनैः हिन्दी व्यापक रूप से देश में फैल जाय। हम चाहते हैं कि सबकी समवेत चेष्टा से हिन्दी भाषा का साहित्य समृद्ध और उज्जवल हो, जिसमें उसको राष्ट्रीय पद प्राप्त हो सके यदि उस पर सबको समान रूप से उचित गर्व हो।

राष्ट्रभाषा केवल राष्ट्रीय व्यवहार की सुविधा प्रदान नहीं करती वरन् उसके साहित्य द्वारा राष्ट्र में एकरूपता की और भी आवश्यकता है। हमारा देश विशाल है। अनेक जातियाँ यहाँ बसती हैं, जिनके आचार-विचार भिन्न हैं। इन सबको एक मत्य में ग्रंथित करने के लिये कुछ सामान्य प्रतीक और सामान्य उद्देश्यों की आवश्यकता है। इनके अभाव में विविध समुदायों में संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। हमारी सामान्य आवश्यकतायें और अभिलाषायें हम में एकरूपता ला रही हैं। जिन विश्वव्यापी शक्तियों ने हमें स्वतन्त्रता दिलायी है, उनका कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ है। ये शक्तियाँ राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की ही हैं। यह युगधर्म है इनके मार्ग में जो बाधा उपस्थित करेगा वह विनष्ट होगा। सम्प्रदाय इस युग में पनप नहीं सकता। हमारे राष्ट्रीय साहित्य को इन शक्तियों का प्रतिनिधित्व करना पड़ेगा। किन्तु उसमें यह सामर्थ्य तभी आ सकती है जब हिन्दी भाषा भाषियों की चिन्ताधारा उदार और व्यापक हो और जब हिन्दी साहित्य भारत के विभिन्न साहित्यों को अपने में आत्मसात् करे और उत्तर-दक्षिण के भेद को मिटा दे। यदि यह तर्क ठीक है तो इसका परिणाम यह निकलता है कि हिन्दी भाषा भाषियों को दक्षिण की एक भाषा का अवश्य अध्ययन करना चाहिए (उत्तर की भाषाओं को सीखने में हम लोगों को कोई कठिनाई नहीं है।)

यदि सब एक लिपि को स्वीकार कर लें तो यह काम और भी सुगम हो जायेगा। किन्तु इनकी अपेक्षा दक्षिण की भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना अधिक

आवश्यक है। भविष्य में किसी भी व्यक्ति को शिक्षित नहीं समझना चाहिए जब तक वह दो-तीन देशी भाषाओं का ज्ञान नहीं रखता है। कम से कम हिन्दी भाषा भाषियों को अन्य भाषाओं के साहित्य का ज्ञान कराना अत्यन्त आवश्यक है। बंगला तथा गुजराती के अनेक ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम ठीक विवेचन करें तो हमें मालूम होगा कि सब देशी भाषाओं में प्रायः एक ही प्रकार का झुकाव पाया जाता है। आधुनिक युग में राष्ट्रीयता देशभक्ति की प्रेरणा प्रधान रही है और यह प्रेरणा सब भारतीय साहित्य में समान रूप से पायी जाती है। ये सब साहित्य युरोप के साहित्य से भी प्रभावित हुये हैं। टेकनीक और विषय की दृष्टि से सब पर योरोपीय साहित्य का प्रभाव पड़ा है। सभी कमोवेश आधुनिक विचारधाराओं से भी प्रभावित हुये है। यह इस बात का प्रमाण है कि समस्त भारत स्थानीय प्रभावों के अतिरिक्त कुछ देशव्यापी प्रभावों से भी प्रभावित हो रहा है। यदि हम विविध भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करें तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मै ऊपर कह चुका हूं कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त कराना हम हिन्दी भाषा भाषियों का कर्त्तव्य है। इसका यह अर्थ नहीं है कि केन्द्रीय शासन को इस विषय में कुछ करना ही नहीं है। किन्तु हमारा कुछ ऐसा स्वभाव बन गया है कि सब कार्यों के लिये सरकार का मुंह ताकते हैं। जनतन्त्र इस तरह नहीं पुष्ट हो सकता है। सरकार की शक्ति और उसके साधन की भी सीमा है। जनता का सहयोग प्राप्त किये बिना गवर्नमेन्ट भी अपनी योजना में सफल नहीं हो सकती। पुनः साहित्य की वृद्धि के लिये हमको अपने कलाकारों और लेखकों पर ही मुख्यतः निर्भर करना पड़ेगा। ऊँचे दर्जे के लेखकों तथा उनके द्वारा स्थापित संस्थाओं की समवेत क्रिया से ही हम अभिलक्षित फल पा सकते है। राज्य ऐसी संस्थाओं की स्थापना में सहायक हो सकता है। और उनको आवश्यक सहायता प्रदान कर सकता है। किन्तु कार्य तो साहित्यकों को ही करना होगा। हिन्दी का क्षेत्र विशाल है, दस राज्यों की यह प्रादेशिक राजभाषा है। हिन्दी की प्रगति द्रुत वेग से हो रही है। किन्तु कुछ आवश्यक कार्य संपन्न नहीं हो रहे है। एक निश्चित योजना की बड़ी कमी है।

यदि हम हिन्दी का व्यापक प्रचार चाहते हैं तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम प्रत्येक देशी भाषा के लिये एक कोश, एक व्याकरण, एक पाठावली तैयार

करें। इस दिशा मे थोडा काम हुआ है। किन्तु वह संतोषजनक नहीं। खेद का विषय है कि अंग्रेजी हिन्दी का कोई अच्छा कोश अभी तक तैयार नही हुआ है। पारिभाषिक शब्दों के कोश तैयार हो रहे हैं, किन्तु इस सम्बन्ध मे इतना निवेदन करना आवश्यक है कि प्रयत्न यह होना चाहिए कि जहां तक सम्भव हो सब देशीभाषाओं मे समान पारिभाषिक **शब्दों के कोश तैयार हो** किन्तु इस सम्बन्ध मे इतना निवेदन करना आवश्यक है कि प्रयत्न यह होना चाहिए कि जहा तक सम्भव हो सब देशी भाषाओं मे समान पारिभाषिक शब्द व्यवहार मे आयें। विश्वविद्यालयों के लिये पाठ्य पुस्तको के तैयार करने का भी कार्य अत्यन्त आवश्यक है। विदेशी भाषाओं में लिखे गये प्रामाणिक ग्रन्थों का हिन्दी मे अनुवाद होना चाहिए। इन सब कार्यों से अधिक महत्व का कार्य मौलिक ग्रन्थो की रचना का है जो कला और भाव की दृष्टि से उत्कृष्ट हों। टेकनीक और विषय की दृष्टि से सफल हों। यह कार्य आदेश देने से नही हो सकता।

साहित्य एक सामाजिक प्रक्रिया है। इसका समाज पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है। बड़े-बड़े कलाकार ही उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि करते है। वे टेकनीक को पूर्ण करते हैं, भाषा को अलकृत करते हैं और उसे सूक्ष्म और कोमल भावो और अनुभूतियो को व्यक्त करने की सामर्थ्य प्रदान करते हैं। कलाकार अपनी आंतरिक अनुभूतियों को अपनी कृतियो मे व्यक्त करता है, अपने युग की विश्वदृष्टि से जो विभिन्नता वह अपने में पाता है, उसे उसका व्यक्तित्व अपने ढग से व्यक्त करता है। इस प्रकार वह दूसरों को वह अनुभव कराता है जो उनके लिए नये हैं और भाव तथा ज्ञान की नयी गहराइयों को प्रकाश मे पाता है। कलाकार इस प्रकार मानव अनुभूति को समृद्ध करता है। जितनी मात्रा में कलाकार की सामाजिक जागरूकता होती है, उसी मात्रा मे उसका प्रभाव समाज पर पड़ता है। यदि उसको उन शक्तियों का स्पष्ट ज्ञान है जो समाज को बदल रही हैं यदि वह सामाजिक विकास की दिशा का ज्ञान रखता है तो वह अपनी जागरूकता को अपनी कृतियो द्वारा दूसरो को दे सकता है तथा वह दूसरों के साथ सहयोग कर ऐसी संस्थाओ को जन्म दे सकता है जो सामाजिक विकास की दिशा को मानव समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उपयुक्त बना सके।

विज्ञान ने मनुष्य को वह शक्ति प्रदान की है कि यदि वह चाहे तो विकास की दिशा को निर्धारित कर सकता है। विकास की क्रिया अब एक अधप्रणाली

नही है, बुद्धिपूर्वक उसकी दिशा निश्चित हो सकती है। यह लाभ कला को भी प्राप्त है। जब तक समाज मे ऐसे व्यक्तियो का समुदाय जन्म नही लेता जो उन शक्तियो का ज्ञान रखते हैं जो सामाजिक परिवर्तन के आधार को निश्चित करती है तब तक समाज मे जागरुकता का एक ऊँचा स्तर उत्पन्न नही हो सकता। यदि जब तक ऐसा नही होता तब तक सस्कृति विकास का क्रम समाज के हित की दृष्टि से नही, अपितु व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर चलता रहता है। इस प्रकार हम देखते है कि समाज के विकास और मूल्यो की सृष्टि के लिये साहित्य का कितना महत्व है। यह सत्य है कि सिनेमा, रेडियो और टेलीवीजन ने साहित्य के क्षेत्र मे आक्रमण कर साहित्य के महत्व को घटा दिया है। विज्ञान और टेकनालाजी के आधिपत्य ने भी साहित्य के मर्यादा को घटाया है। किन्तु यह असदिग्ध है कि साहित्य जो आज भी कार्य कर सकता है वह कोई दूसरी प्रक्रिया नही कर सकती। विज्ञान वेत्ताओ की आर्थिक अवस्था दयनीय नही है। इसका कारण यह है कि उनके अनुसधान का उपयोग उद्योग व्यवस्था के क्षेत्र मे ही हो सकता है। यही कारण है कि बड़े-बडे व्यवसायी अपनी एक प्रयोगशाला भी रखते हैं। भौतिक गवेषणा का भी उपयोग व्यापार के लिये होता है। अत विज्ञान वेत्ता सत्य की अराधना अविचलित भाव से कर सकता है। व्यापार के लाभ के लिये सिनेमा आदि के मौलिक तथा ग्रथ प्रकाशक साहित्य का भी उपयोग करते हैं। किन्तु इस विषय मे साहित्यिक स्वतंत्रता नही है। उसको वही लिखना पड़ता है जिसका व्यापार के लिये मूल्य है। इसलिये जो लेखक कटुसत्यव्यक्त करता है, उसको किसी प्रकार का प्रोत्साहन नही मिलता। विश्वविद्यालयों मे भी साहित्य के क्षेत्र मे जो काम होता है उसका सम्बन्ध प्राय: पुराने साहित्य के मूल्यांकन से ही रहता है। आलोचना को प्रवणता दी जाती है। इसी मे साहित्य की समाप्ति होती है। कोई भी विश्वविद्यालय किसी राज्य या उपन्यास की रचना के लिये डाक्टर की उपाधि नही देता। प्राचीन साहित्य की व्याख्या या आलोचना करना ही उनका मुख्य कार्य है उसमे सदेह नही कि इसका अपना महत्व है। किंतु कोई कारण नही कि नवीन रचनाये जो साहित्यिक भडार को समृद्ध करती है और इस प्रकार उसे बल और ओज प्रदान करती है क्यो न महत्वपूर्ण समझी जाय। मेरे समक्ष मे यदि साहित्य को अपने सामाजिक कर्तव्य का पालन करना है तो इस

प्रकार के कृतियों को महत्व और प्रोत्साहन मिलना चाहिये। ऐसी कृतियों का तभी मूल्य है जब कलाकार निश्शंक होकर अपनी अन्दभूतियों को व्यक्त करता है। मानव सम्बन्धो के विषय मे विशेषकर उस सम्बन्ध के विषय मे जिनका गम्भीर महत्व है। जनता को ज्ञान कराना साहित्य का काम होना चाहिये। जहां विज्ञान भौतिक जगत के विषय में ज्ञान कराता है वहा सच्चा साहित्य मानव सम्बन्धों का ज्ञान कराता है। अतीत के अनुभव के आलोक में वर्तमान को देखना गुजर रहा है और जिसके भविष्य के बारे मे दायनवी ऐसे इतिहास वेत्ता निराश हो गये हैं, निराश होने की आवश्यकता नहीं है। भारत ने स्वतन्त्रता अर्जित कर नवीन जीवन प्राप्त किया है। उसका जीवन अब स्थिर और जड़ नहीं रह सकता। उसकी समस्यायें ऐसी है जो उसको चुप बैठने नहीं देगी। सारे एशिया के लिये एक नये युग का आरम्भ हो गया है। यह सच है कि दो युगों का भार हमारे दुर्बल कन्धो पर पडा है किन्तु इस कारण हमको अवसन्न और निराश नही होना चाहिये। विश्व आदि मानव के प्रति हमारी विशाल दृष्टि होनी चाहिये। विश्व की परिधि मे हमको अपने भविष्य का निर्माण करना है। हम हिन्दी भाषा-भाषी यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के गौरवमय स्थान पर बिठाना चाहते हैं तो हमको संकीर्णता, प्रान्तीयता और पक्षपात का परित्याग करना होगा।

भारत के विभिन्न साहित्यको की अराधना कर उनको उत्कृष्टता को हिन्दी मे उत्पन्न कर, हिन्दी साहित्य को सचमुच राष्ट्रीय और सघर्ष राष्ट्र के विकास का एक समर्थ उपकरण बनाना हमारा आपका कार्य है, इस दायित्व को हम दूसरों पर नही छोड़ सकते। यदि 10 हिन्दी भाषा-भाषी राज्य हिन्दी के साहित्यको के सहयोग से एक निश्चित योजना बनावे और उसको मिल-जुल कर कार्यान्वित करें तो हिन्दी साहित्य बहुत आगे बढ सकता है। हमको यह नही भूलना चाहिये कि अब प्रचार का युग चला गया, यह काम करने का युग है। स्थानीय बोलियो के अध्ययन की हम अब तक उपेक्षा करते रहे। इधर अवश्य इस ओर ध्यान गया है और इस दिशा मे कुछ अच्छा काम हो भी रहा है। लोक भाषाओं की कहावते, मुहावरे, लोकगीत और उनके शब्दो का तथा आज के समाज मे जो शक्तियाँ काम कर रही हैं उनको समझना तथा मानव समाज की दृष्टि से उनका सचालन करना एक सच्चे कलाकार का काम है। आज

के युग ने सतुलन खो दिया है। हमने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है। उसके रहस्यो का उद्घाटन किया है और प्राकृतिक शक्तियो का अपने लिये उपयोग करना सीखा है। किन्तु विज्ञान की इस शक्ति के फलस्वरूप जो नवीन परिस्थिति उत्पन्न हो गई है उसके ज्ञान की अत्यन्त कमी है। जिन समस्याओ की हम उपेक्षा करते है वह मुख्यत सामाजिक ही और बिना इसका समाधान किये समाज की स्थिति नही हो सकती और वह अपने खोये हुये सतुलन को प्राप्त नही कर सकता।

किन्तु इस उद्योग-व्यवसाय के युग मे जब रुपये के माप-दण्ड से सब कुछ नापा जाता हो, एक सच्चे साहित्यिक का दम घुटता है, उसको सुरक्षा भी नही मिलती, मान आदि प्रतिष्ठान का क्या कहना। राज्य और समाज से ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। ऊँचे कलाकारों को वह सब सुविधाये प्रदान करना चाहिए जिनके मिलने पर ही वह अपनी सृजन शक्ति को प्रदर्शित कर सकता है।

व्यापार को सम्पूर्ण सत्य से क्या स्वीकार ? किन्तु मानव को सम्पूर्ण सत्य चाहिए। समाज को जागरूक करनी उसकी चेतना को जगाना, आज की समस्याओ को और उनके साधनो को प्रस्तुत कर समाज को विकास के कार्य मे बुद्धिपूर्वक अग्रसर करना साहित्य का कार्य है।

जितनी ही अधिक सख्या में हम सच्चे साहित्यिक उत्पन्न कर सकेंगे, उतना ही अधिक महत्व हिन्दी साहित्य को प्राप्त होगा, राष्ट्रभाषा के पुजारियो मे सद्विवेक, नवीन दृष्टि, विनिश्चय, सतुलन और साहस की आवश्यकता है। हमको पश्चिमी यूरोप के समान, जिसने अपने सामजस्य को खो दिया है, जो सास्कृतिक सकट से सग्रह करना बडा आवश्यक है साहित्य भाषा के लिये उनमे अपने उपयुक्त शब्द और मुहावरे मिलेगे जो किसी समय साहित्य मे प्रचलित थे, किन्तु किसी कारणवश उनका चलन बन्द हो गया। इस तरह भाषा समृद्ध और जानदार होगी। किन्तु इसका फल यह न होना चाहिए कि विभिन्न बोली बोलने वाले लोग अपने प्रदेश के लिये पृथक राज्य की माँग करे। जहाँ प्रधान भाषाओ के आधार पर अन्य बातो का विचार करते हुये राज्य का पुन. संगठन होना चाहिए वहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस भावना को इतना प्रोत्साहन न दिया जाय जिसमे भारत के अनेक खड हो जाये जो आत्मनिर्भर न हो और प्रान्तीयता के अन्य भाव को पुष्ट करे।

□

चेतना शील, प्रतिबद्ध साहित्य

आचार्य नरेन्द्र देव

वैसे तो प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा के सम्बन्ध में अब भी विवाद चला आता है, किन्तु मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करके चलने वाला साहित्य प्रगतिशील साहित्य है। जीवन और मानव एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं। इनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से ही सामाजिक परिवर्तन होते हैं। समाज के भीतर क्रियाशील रहते हुए भी अपने को अलग से देखने, आत्म-निरीक्षण करने की आवश्यकता सदैव होती है। किन्तु उससे पृथक रहकर, जीवन-प्रवाह से हटकर व्यक्ति अपना विकास नहीं कर सकता। समाज के भीतर रहकर व्यक्ति को सामूहिक हित को दृष्टि मे रखते हुए एक मर्यादा, बन्धन एव अनुशासन स्वीकार करना पड़ता है। मनुष्य और पशु मे एक मुख्य भेद यह भी है कि मनुष्य का जीवन अपने समाज मे मर्यादित होता है। अतः सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह मनुष्य को समाज से पृथक करके, अमूर्त मानवता को स्वतत्र प्रतीक के रूप में सीमित न कर उसे सामाजिक प्राणी के रूप में देखे—ऐसे समाज के सदस्य के रूप मे जिसमें निरन्तर संघर्ष हो रहा है। इन संघर्षों के कारण जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।

कहा जाता है कि कलाकार 'स्वान्त. सुखाय' रचना करता है। प्रत्येक रचनात्मक कृति द्वारा रचयिता को एक प्रकार का आन्तरिक सन्तोष या सुख प्राप्त होता है, इस अर्थ में यह धारणा यथार्थ मानी जा सकती है। किन्तु यदि इसका अर्थ यह लगाया जाय कि कलाकार का और कोई उद्देश्य नही होता तो यह धारणा भ्रमपूर्ण होगी। अपने अध्ययन तथा अनुभूति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एव कलाकार का एक दर्शन, जीवन की व्याख्या का एक विशेष दृष्टिकोण होता है और उसकी रचना के पीछे यह दृष्टिकोण छिपा रहता है। जीवन के इस दृष्टिकोण के अनुसार कलाकार जीवन को एक विशेष दिशा में

प्रगटित होते देखना चाहता है। कलाकार के मन में यह बात स्पष्ट हो अथवा अस्पष्ट किन्तु उसकी रचना में भी उसकी यह अभिलाषा अपेक्षाकृत सुप्त अथवा चैतन्य रूप में विद्यमान रहती है। हमारा जीवन पृथक से दिखाई पड़ने वाले अनेक क्षेत्रों में बँटा हुआ है। इन पृथक क्षेत्रों के भीतर और इनमें परस्पर नाना प्रकार के संघर्ष हो रहे हैं। दर्शन अथवा जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण इस संघर्ष और पृथकता से ऊपर उठकर सभी को एक सूत्र में सम्बद्ध करके और उन्हें यथासम्भव रखकर समूचे जीवन-क्षेत्र का एक सम्बद्ध दृश्य प्रस्तुत करता है। यह जीवन-दर्शन जितना ही सुलझा हुआ होगा, साहित्यिक अथवा कलाकार की रचना सामाजिक प्रगति में उतनी ही सहायक हो सकेगी। जीवन के अन्तर्गत अनेक प्रकार के धर्मों—व्यक्ति, कुल, राष्ट्र तथा विश्व के बीच एक प्रकार का संघर्ष जान पड़ता है। साथ ही उनमें एक प्रकार की अन्योन्याश्रयता, शृंखला और परम्परा दिखाई देती है। वस्तुतः यह संघर्ष तभी दिखाई पड़ता है जब हम अन्योन्याश्रयता को दृष्टि से ओझल कर देते हैं और इन धर्मों को मर्यादित नहीं कर पाते, उनका उचित सामन्जस्य नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ राष्ट्रधर्म का हमें उससे भी उच्चतर विश्वधर्म के साथ सामन्जस्य करना पड़ेगा। सामन्जस्य होने पर राष्ट्रधर्म का सर्वथा लोप नहीं होता, वह केवल मर्यादित स्थान ग्रहण करता है; राष्ट्रधर्म और विश्वधर्म के साथ बीच गहराई में न जाकर केवल सतह पर से देखने पर जो संघर्ष दृष्टिगोचर होता है उसका लोप होता है। चूंकि व्यक्ति राष्ट्र अथवा विश्व का अंग है। अतः राष्ट्र और विश्व के विकास के साथ ही व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त होता है। जीवन के केन्द्र में मानव की प्रतिष्ठा की मूल भावना को लेकर चलने वाले प्रगतिशील साहित्यिक के लिये विश्वव्यापी जीवन दृष्टिकोण का होना आवश्यक है।

प्रत्येक युग की सामाजिक व्यवस्था अपनी आवश्यकताओं के अनुसार एक विशेष जीवन-दृष्टिकोण को जन्म देती है। प्राचीनकाल में भी, चाहे पौर्वात्य जगत हो अथवा पाश्चात्य, जब तक एक प्रकार की आर्थिक संस्थाएँ और परम्पराएँ प्रचलित रहीं, उनमें क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुए, तब तक समाज में इस जीवन दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भी सहमति रही। किन्तु इस निरंतर परिवर्तन-शील संसार में समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसकी

भौतिक आर्थिक मूल भित्ति मे परिवर्तन होता रहता है और इस मूलभित्ति पर निर्मित विचारों का प्रसाद भी नया रूप ग्रहण करता रहता है। विचारधारा का तीव्र संघर्ष प्राचीन के विनाश और नवीन के उदय की सन्धि-बेला में होता है। प्राचीन के गर्भ से ही नवीन का सृजन करने वाली शक्तिया जन्म लेती हैं। समाज को अतीत की ओर ले जाने वाली तथा भविष्य की ओर ले जाने वाली शक्तियो में संघर्ष होता है। प्राचीन के गर्भ से निकल कर नवीन भविष्य का निर्माण करने वाली शक्तिया प्रबलतर होती जाती है। विरोधी शक्तियो के क्रमिक विकास के प्रसंग में हमें समाज मे गुणात्मक परिवर्तन, कई स्तरों के एक साथ उल्लघन अथवा उत्क्रांति के दर्शन होते हैं। वे विचारशील व्यक्ति जिनके तीव्र सवेदनशील कोमल मानस-पट पर क्षुद्र से क्षुद्र घटनायें भी अपना प्रभाव अकित कर जाती हैं, नये परिवर्तनों के क्रम-विकास के साथ समाज को नये विचार देते हैं।

नई व्यवस्था की स्थापना के साथ प्राचीन का सर्वथा लोप नही हो जाता। अर्वाचीन के भीतर भी प्राचीन बहुत कुछ बना रहता है। नवीन और प्राचीन मे एक नैरन्तर्य, एक शृखला, एक परम्परा बनी रहती है। पूंजीवाद मे भी बहुत दुर्बल और क्षीण रुप में सामन्तवाद बहुत दिनो तक वर्तमान रहता है और समाजवाद की स्थापना के साथ भी बहुत दिनों तक पूंजीवाद की कतिपय विशेषतायें सम्बद्ध रहेगी। विनाश और निर्माण के क्रम मे अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच उनको आपस मे जोडने वाली एक अटूट कडी बनी रहती है। प्रगतिशील साहित्यिक इस ऐतिहासिक सत्य को हृदयंगम करते हुये अतीत का सर्वथा परित्याग नही करता; साधक तत्वों को वह चुन लेता है, बाधक तत्वों का सर्वथा परित्याग करता है। मनुष्य स्वभावत परम्परापूजक होता है और जो जाति जितनी ही प्राचीन होती है, उसके भीतर अपनी सस्कृति की श्रेष्ठता की भावना उतनी ही अधिक बद्धमूल होती है। अतः भारत जैसे प्राचीन देश में हमें नवीन सस्कृति के निर्माण की दृष्टि मे अतीत के साधक एव समर्थक तत्वो का उपयोग करना ही चाहिये।

अतीत की अनेक विचार-पद्धतिया जो आज हमें प्रतिगामी होती हैं, अपने समय के समाज के लिये कल्याणप्रद रही हैं भौतिकवाद तथा यथार्थवाद को मानकर चलने वाली विचार-धारायें ही जनकल्याण के मार्ग का अनुसरण

करती रही है और इसके विपरीत आध्यात्मिक अथवा 'विज्ञानवादी' विचार धाराएं सदैव अप्रगतिशील रही हैं, ऐसा सोचना उचित न होगा। विज्ञानवाद भी विशेष काल में प्रगतिशील का द्योतक था। उदाहरण के लिए हम बौद्ध-काल की अप्रतिष्ठित निर्वाण की कल्पना को लें। निर्वाण की इस कल्पना के अनुसार साधक निर्वाण मे प्रवेश की क्षमता रखते हुए भी सामाजिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने को उससे वचित रखता है, जबकि असंख्य जीवन दुख से आहत हों और क्लेश-पाश मे फसे हुए हों, ऐसी अवस्था में केवल अपने वैयक्तिक मोक्ष की ओर ध्यान देना उसे क्षुद्र प्रतीत होता है। निष्काम कर्म की भावना भी इसी काल मे जन्म लेती है। कर्म बन्धन का हेतु है। बिना कर्म का परित्याग किए हुए मनुष्य आवागमन के चक्र से छुटकारा पाकर मोक्ष की प्राप्ति नही कर सकता। किन्तु बिना कर्म में प्रवृत्त हुए साधक जन-समूह का उद्धार भी नही कर सकता। जन-कल्याण की दृष्टि से कर्म मे प्रवृत्त होने की आवश्कता तथा कर्म में स्वाभाविक परिणामगत बन्धनों से निर्लिप्त रहने के उद्देश्य मे सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से निष्काम कर्म के सिद्धांत की उत्पत्ति हुई। प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से चतुर्थ एव पंचम शताब्दी का काल निश्चय ही भारतीय इतिहास का एक अत्यत गौरवपूर्ण अध्याय है। इस काल में भारतीय जीवन के प्रत्येक विभाग में सक्रियता के दर्शन होते हैं। इस समय निवृत्ति-मार्ग मे विश्वास रखने वाले भी प्रवृत्ति-पथपर चलते दिखाई पडते हैं। भारतीय साधुओं ने मध्य एशिया और दक्षिण पूर्वीय एशिया में भारतीय संस्कृति के अखड राज्य की स्थापना इसी काल में की थी। विदेशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध भी इसी काल में सुदृढ हुआ।

जहा हमे अपने देश के गौरवपूर्ण अतीत के उन तत्वों को ग्रहण करना है जो वर्तमान काल मे पुरुषार्थ को प्रेरणा देने वाले हैं, वहा आज की अवस्था मे भार बनने वाली परम्पराओं का परित्याग कर हमें हल्का होना है और नवीन के विकासमान मूल्यों को अपनाना है। ये नवीन मूल्य कहा से आते हैं, उनका उपक्रम या मूल-स्रोत कहां से होता है, इस बात की खोज करने की आवश्यकता नही है। आज सारा ससार एक इकाई का रूप धारण कर रहा है। सभी देशों की समस्याएं बहुत कुछ समान सी हैं। पूजीवादी शोषण से त्राण पाने की समस्या ही संसार के अधिकांश देशों की समस्या है। यह स्पष्ट है कि हमारे देश मे आज जो परिस्थिति है वह दूसरे जिन देशों में हमारे देश से पूर्व आई और उस का जो हल दूसरे देशो ने पहले निकाला उन

देशों से हमें प्रेरणा ग्रहण करनी ही होगी। नवीन या विदेशी होने के कारण ही किसी जनकल्याणकारी विचार या मूल्य का परित्याग नहीं किया जा सकता। संस्कृतियाँ जब जीर्ण पड़ जाती हैं, तो नई संस्कृतियों के साथ संघर्ष होने से ही उनका कायाकल्प होता है। अपने पुराने रत्न जो कर्दम में रहते हैं, वे भी इस संघर्ष से परिष्कृत होते हैं। जब कि सारा विश्व आज पूँजीवादी विषमता की चक्की में पिसते हुए समान यातना भोग रहा है, यह स्वाभाविक है कि इस यातना से परित्राण पाने के लिए एक समान विचारधारा अपनायी जाय। जो लोग नवीन मूल्यों को ग्रहण करने से भागते हैं और विचारधारा सम्बन्धी संघर्ष से घबड़ाते हैं, वे अपने को विकास के पथ से विरत करते हैं। समाज में विभिन्न स्वार्थों के संघर्ष के कारण निरन्तर परिवर्तन होता रहता है और इस संघर्ष के फलस्वरूप ही समाज विकास के पथ पर नये कदम बढ़ाता है। यदि क्रमागत विचारों और संस्थाओं को बिना आलोचना के स्वीकार कर लिया जाय तो भावी विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। समाज के अंतर्गत विभिन्न स्वार्थों के संघर्ष और उसके फलस्वरूप समाज में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन करके हम सामाजिक विकास में बोधपूर्वक सहायता दे सकते हैं।

पूँजीवाद के ह्रास के इस युग में और महायुद्ध के उपरान्त राष्ट्रीयता का अन्त नहीं हो रहा है—लोगों का विचार है। प्रत्येक युद्ध के पश्चात् राष्ट्रीयता की जबरदस्त लहर आया करती है। किन्तु राष्ट्रीयता की भावना भी अभिशाप नहीं है, यदि वह संकीर्ण, आक्रमणशील राष्ट्रीयता न हो और विश्व-धर्म से मर्यादित होकर चल सके। साहित्यिकों का कर्तव्य जनता को चिन्ताशील बनाना और मर्यादित राष्ट्रीयता के सच्चे रूप को समझाना है। उस संकुचित, विकृत राष्ट्रीयता से जनता को छुटकारा दिलाना है। जिसमें जाति अथवा देश को अनावश्यक और अस्वाभाविक प्रधानता दी जाती है और जो वर्तमान सामाजिक समस्याओं के हल में बाधक हैं। एक लम्बी अवधि तक स्वातन्त्र्य संग्राम में रत रहने के कारण हमारे देश में राष्ट्रीयता का जोर होना स्वाभाविक है। किन्तु अनुभव ने सिद्ध यही किया है कि इस राष्ट्रीयता की जड़ें गहरी नहीं थीं। यह राष्ट्रीयता देश के बंटवारे को रोकने में असमर्थ रही और बंटवारे के परिणामस्वरूप उसने जो रूप ग्रहण किया है, उसका समन्वय विश्व-धर्म के साथ करने में हमें काफी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। प्रान्त, समुदाय और जातियों के बीच कलह भारत का पुराना रोग है, बँटवारे के

बाद फिर उभड़ना चाहता है। प्रगतिशील साहित्यिकों का कर्तव्य इस विकृत राष्ट्रीयता के खतरों को पहचानने की चेतना जनता में उत्पन्न करना है। संसार में एक नये महायुद्ध की तैयारियाँ हो रही है। यदि महायुद्ध छिड़ा और हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रहने वाले एक दूसरे से बदला लेने के ही चक्कर में रहे तो दोनों का विनाश निश्चित है। यदि हम चाहते हैं कि आने वाले युद्ध में तटस्थ रहकर उसकी विभीषिकाओं से अपने देश की रक्षा करें तो हमे तटस्थ राष्ट्रों के एक तृतीय शिविर का निर्माण करना होगा। हम कम से कम दक्षिण-पूर्वी एशिया के नव-स्वतन्त्रता-प्राप्ति राष्ट्रों तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए युद्धरत राष्ट्रों का इस प्रकार का तीसरा शिविर स्थापित कर सकते हैं। जबकि हम घरेलू झगड़े मे फँसकर अपनी समस्त शक्ति उसी में नष्ट न कर दें, जब हम अपनी दृष्टि को उदार बनावें। यदि भारत प्रतिशोध की भावना से ऊपर न उठ सका, यदि उसने आर्थिक क्षेत्र मे ऐसी प्रगतिशील नीति न अपनाई जिसके द्वारा वह अपने उत्पादन संकट आदि के प्रश्नों को हल करने के साथ अपने को सुदृढ़ बनाने में समर्थ हो और अपने पड़ोसी राष्ट्रों को भी महायुद्ध मे तटस्थ रहने के लिए तैयार न कर सका, तो हमारा भविष्य बहुत अन्धकारमय सिद्ध हो सकता है। प्रगतिशील साहित्यिको को देश को इस विपत्ति की पूर्व सूचना देनी है। साहित्यिक अपने कर्त्तव्य का तभी निर्वाह कर सकता है, जबकि वह जीवन का गहराई से अध्ययन करे, वह समाज की जीवन-सरिता के ऊपरी तल पर सचालित होने वाली प्रवृत्तियो तक ही अपनी दृष्टि को सीमित न रखे, अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति नीचे रहकर प्रच्छन्न रूप से कार्य करने वाली शक्तियों का भी अध्ययन करे। यह अध्ययन जन जीवन से अलग रहकर नहीं किया जा सकता; प्रगतिशील साहित्कि को जीवन की समस्याओं का अध्ययन करना होगा, अपनी रचनाओ में उसे समाज के वर्तमान रूप का चित्रण करना होगा, जनता की मूक अभिलाषाओ को वाणी देनी होगी, इतिहास का अध्ययन करके उसकी जीवन-प्रदायिनी शक्तियों का समर्थन करते हुए जनता का मार्ग-प्रदर्शन करना होगा। साहित्यिक अपने को जनता का पथ-प्रदर्शन करने योग्य तभी बना सकता है, जबकि वह अपने को जीवन-सघर्ष से सर्वथा पृथक न रखे, उसमे जनसाधरण के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता हो, वह इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन करके उसके विकास की दिशा को पहचानने में समर्थ हो, उसकी जीवन-दृष्टि सही हो। इतने गुणों के अभाव में कितने ही कलाकार, जो प्रथम महायुद्ध के

उपरान्त प्रगतिशील साहित्यकों के शिविर मे प्रविष्ट हुए थे, आज दिशा भ्रमित होकर भटक रहे हैं। युद्धकाल में तथा उसके पश्चात पुरानी मान्यताओं को भंग होता देखकर वे अवसाद, खिन्नता और विचार-कुंठा को प्राप्त हो रहे हैं। स्वस्थ जीवन्त दृष्टिकोण के अभाव मे वे पलायनवाद का सहारा ले रहे है। कोई रोमन कैथलिक दर्शन की शरण ले रहा है, कोई भारतीय योग के प्रति आकर्षित हो रहा है। कितने ही किंकर्त्तव्यविमूढ होकर केवल नैराश्य भावना को व्यक्त कर रहे हैं। कारण-कार्य की शृंखला और सामाजिक सम्बन्धों की ठीक धारणा न होने के कारण कितने ही कलाकार विज्ञान को ही वर्तमान सास्कृतिक पतन के लिए उत्तरदायी मान बैठे हैं। जीवन-सघर्ष मे भागने वाले कलाकार आकस्मिक कारणो से भले ही प्रगतिशीलो की कोटि मे आ जाये, किन्तु उनकी प्रगतिशीलता क्षणिक ही होगी। जीवन-सघर्ष से पृथक रहकर सच्चे और प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि सम्भव नही है। किन्तु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नही कि कलाकार के लिए राजनीतिक सघर्ष मे लिप्त होना आवश्यक है। सघर्ष के इतने निकट रहना कि उसका निरीक्षण कर सके, उसके लिए आवश्यक है। किन्तु सघर्ष के सम्बन्ध मे निष्पक्ष सम्मति बना सकने और साहित्यि सृजन के लिए अवकाश प्राप्त करने के लिए सघर्ष मे सक्रिय भाग लेने से कलाकार को बचना पड़ता है। स्वास्थ्यप्रद साहित्य-सृजन ही जनान्दोलन मे कलाकार का योग है। नवीन समाज के निर्माण के लिए सघर्ष सभी क्षेत्रो मे हो रहा है। साहित्यिक क्षेत्र मे कलाकारो को उस साहित्य का विरोध करना है जिसकी दृष्टि केवल अतीत की ओर है, जो प्राचीनता और परम्परा का अध पुजारी है, जिसकी आस्था विश्व के प्रति नही, वर्तमान भारत के प्रति नही, बल्कि प्राचीन भारत के किसी कल्पित, विकृत के रूप के प्रति है, जो सकुचित आकर्षणशील, राष्ट्रीयता का प्रचार कर रहा है। इस प्रसग में प्रगतिशील कलाकारों को यह नहीं भूलना है कि उनकी रचनाएँ भोड़ा प्रचार न होकर मर्मस्पर्शी, प्रभावोत्पादक उच्च कलाकृतियां हों। कला सोद्देश्य होनी है। प्राय प्रत्येक रचना के पीछे एक सन्देश होता है, इस व्यापक अर्थ मे तो सभी कला-कृतियाँ प्रचार का साधन कहीं जा सकती हैं। किन्तु कलाकृति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्रत्यक्ष प्रचार का साधन न बनाया जाय। दूसरी बात जिसे प्रगतिशील साहित्यिकों को ध्यान मे रखनी है, यह है कि जहाँ कथा-वस्तु और विवेचना उनकी अपनी वस्तु होगी और नवीन शैलियों को भी वे अपनायेंगे, वहाँ दीर्घकाल से आचार्यों

द्वारा पुष्ट की जाने वाली शैली, टकनीक, छन्द एवं शब्द-विन्यास आदि की भी वे सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते । प्राचीन साहित्य की टैकनीक सम्बन्धी विशेषताओं को उन्हे अपनाना होगा ।

जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है, सारा ससार आज शोषण की चक्की मे पिसकर समान यातना भोग रहा है और उसकी मुक्ति की स्थापना में सहायता देना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। मानव-मात्र की एकता और उसकी मुक्ति की स्थापना मे सहायता देना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। मानव-मात्र की एकता और उसकी सिद्धि के लिए शोषणमुक्त सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता इन आदर्शों की भित्ति पर हमे एक नवीन सस्कृति का निर्माण करना है। नवीन संस्कृति के निर्माण मे हमें प्राचीन संस्कृति के साथ उसकी परम्परा को भी दिखलाना है। हमारी प्राचीन भारतीय सस्कृति नवीन व्यवस्था की स्थापना मे सर्वथा बाधक न होकर अनेक अशों में साधक है। मानव-मात्र की एकता, 'वसुधैव-कुटुम्भकम्' का आदर्श इस देश मे बहुत पुराना है। वस्तुतः जो कार्य श्रमण-धर्म ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे मानव की एकता को स्वीकार करते हुए किया था, वही कार्य भौतिक क्षेत्र मे समाजवाद को स्वीकार करके हमे सम्पन्न करना है।

□

संस्कृति

आचार्य नरेन्द्र देव

सस्कृति शब्द का व्यवहार अग्रेजी शब्द कल्चर के लिए होता है। रवि बाबू प्राचीन आर्य शब्द 'कृष्टि' का व्यवहार करते हैं। सस्कृति शब्द की व्याख्या करना कठिन है। यदि हम शाब्दिक अर्थ ले तो हम कह सकते हैं कि सस्कृति चित्त-भूमि की खेती है। चूंकि कर्म मे मन या चित्त की प्रधानता है अत यह निष्कर्ष निकलता है कि जिसका चित्त सुभावित है, उसकी वाणी और उसकी शरीर चेष्टा भी सुसस्कृत होगी। जिस प्रकार की हमारी दृष्टि होगी उसी प्रकार का हमारा क्रिया कलाप होगा। विश्व और मानव के प्रति एक दृष्टि-विशेष की आवश्यकता रहती है। विकास-क्रम मे यह दृष्टि व्यापक होती जाती है और जब विश्व की एकता के साधन एकत्र हो जाते है तब यह एकता कार्य मे परिणित होने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है। प्राचीन काल मे एक सुभावित चित्त के लिए इतना ही सम्भव था कि वह व्यक्तिगत रूप से विश्व के अखिल पदार्थो के साथ तादात्म्य स्थापित करे और जीवन मात्र के लिए मैत्री और अद्वेष की भावना से वासित हो किन्तु उसके कार्य करने का क्षेत्र बहुत सकुचित था। अतः कार्यरूप मे यह भाव एक छोटे क्षेत्र मे ही प्रयुक्त हो सकता था। व्यक्तियो के चित्त के साथ-साथ एक लोक चित्त भी बनता रहता है। मनुष्य सामाजिक है; क्योंकि समाज में रहने से ही उसके गुणों का विकास होता है। अत' समाज में कई बातों में समानता उत्पन्न होती है। समूहो का विस्तार होता रहता है और एक समय आता है जब राष्ट्रीयता की प्रबल भावना से प्रेरित हो एक देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले सभी लोग कुछ बातो में अपनी समानता और एकता का अनुभव करते हैं। एकता की भावना देश की सीमा का भी अतिक्रमण करती है। और 'एक विश्व' की भावना की ओर अग्रसर होती है। जिन बातो मे समानता उत्पन्न होती है। उन्ही के आधार पर लोकचित भी बनता है।

आज विविध राष्ट्रों का अपना-अपना एक लोकचित्त भी है। किन्तु क्योंकि आज एक ही प्रकार के अनेक अचार-विचार सारे विश्व मे प्रचलित हो रहे है इसलिए कुछ बातों में विविध राष्ट्रों के लोकचित्त भी समान होते जाते है।

आज व्यक्तिगत चित्त और लोक-चित्त दोनों को सुभावित करने की आवश्यकता है। आज के युग की आवश्यकताओ और आकांक्षाओ को पूरा करने के लिए जो जीवन के मूल्य और पुरुषार्थ के उद्देश्य तथा लक्ष्य निर्धारित होते हैं उन्ही के अनुकूल चित्त को सुभावित करना चाहिये। एशिया के सब देश आज राष्ट्रीयता और जनतत्र की भावना से प्रभावित हो रहे हैं। यही शक्तियाँ इन देशो के आचार विचार को निश्चित करती है। और आज इनका कार्य सर्वत्त देखा जाता है। किन्तु कुछ प्रतिगामी शक्तियाँ पुराने युग का प्रतिनिधि बनकर इन नवीन शक्तियो के विकास की गति को रोकती है। और हमारे जीवन को अवरुद्ध करती है। यह शक्तियाँ युग-धर्म के विरुद्ध खड़ी हुई है और जीवन प्रवाह को अतीत की ओर लौटाना चाहती हैं। हमारे राष्ट्रीय जीवन को एक सोते से बन्द करना चाहती है और उसी को एक पुण्य तीर्थ कल्पित कर जीवन की अविच्छिन्न धारा से हमको पृथक करना चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र को इन शक्तियों को पहचानना चाहिए और उनका विरोध करना चाहिये। विज्ञान ने नई शक्तियो को उन्मुक्त किया है। उन्होने मानव को एक नया स्वप्न दिया है। और उसके सम्मुख नये आदर्श, नये प्रतीक और लक्ष्य रखे हैं। अतरराष्ट्रीय विज्ञान के आलोक मे समाज का कलेवर बदल रहा है, अतरराष्ट्रीयता के नए साधन और उपकरण प्रस्तुत हो रहे हैं। एक भावना सकल विश्व को व्याप्त करना चाहती है और एक नए सामन्जस्य की ओर संसार बढ़ रहा है। यह शक्तिया सफल होकर रहेंगी क्योंकि यह युग की मांग को पूरा करना चाहती हैं।

हमको यह न भूलना चाहिये कि जीवन के साथ-साथ संस्कृति बदलती रहती है। जीवन स्थिर और जड नही है। इसीलिए सस्कृति भी जड़ और स्थिर नही है। समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिवर्तन होते रहते है और साथ-साथ सास्कृतिक जीवन भी बदलता रहता है। हमारे देश मे समय-समय पर अनेक जातियाँ बाहर से आयी और यहां के समाज मे घुल-मिल गई। वह अपने साथ आचार-विचार लाई। उन्होने यहां के आचार-विचार स्वीकार किये और अपने कुछ आचार-विचार हमको दिये। सस्पर्श से सस्कृतियो का आदान-प्रदान होता रहता है। प्राचीनकाल मे जब धर्म-मजहब समस्त जीवन

को व्याप्त और प्रभावित करता था तब संस्कृति के बनाने में उसका भी हाथ था। किन्तु धर्म के अतिरिक्त अन्य भी कारण और हेतु सांस्कृतिक निर्माण मे सहायक होते थे। किन्तु आज मजहब का प्रभाव बहुत कम हो गया है। अन्य विचार जैसे राष्ट्रीयता आदि उसका स्थान ले रहे हैं। अतः अब तो उसका मान बहुत कम हो गया है। राष्ट्रीयता की भावना तो मजहबो के ऊपर है, यदि ऐसा न होता तो एक देश में रहने वाले विविध धर्मों के अनुयायी उसे कैसे अपनाते। विश्वव्यापी धर्म तो राष्ट्रीयता के विरोधी रहे हैं। वह देश, नस्ल और रङ्ग की सीमाओं को पार कर चुके थे। इस्लाम धर्म पुराने काल में देश की भौगोलिक सीमाओं की उपेक्षा करता था। किन्तु आज उन्नतिशील इस्लामी देश राष्ट्रीयता के आधार पर नहीं, किन्तु देश और नस्ल के आधार पर प्रतिष्ठित होते है। रोमन कैथोलिक चर्च को छोड कर ईसाई दुनिया का भी यही हाल है। राष्ट्रीय भावना के पुष्ट होने पर एशिया के पिछड़े देशों का भी यही हाल होगा। हमारे देश मे दुर्भाग्य से लोग संस्कृति को धर्म से अलग नहीं करते हैं। इसका कारण अज्ञान और हमारी संकीर्णता है। हम पर्याप्त मात्रा में जागरूक नहीं हैं। हमको नहीं मालूम है कि कौन-कौन सी शक्तियां काम कर रही हैं, और इसका विवेचन भी हम ठीक नहीं कर पाते कि कौन सा मार्ग है। इसी कारण हम मे सुविवेक और साहस की कमी है और इसीलिए यह सुगम है कि अतीत का मार्ग ग्रहण करे। किन्तु हम भूल जाते हैं कि हम ऐसे युग मे रह रहे है जब क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे है चारों ओर इसके स्पष्ट चिह्न दीख पड़ते हैं। समाज का पुराना सामंजस्य विनष्ट हो गया है, वह नए सामंजस्य, नए समन्वय की तलाश मे है। ऐसे युग मे हम केवल अतीत के सहारे कैसे चल सकते है। इतिहास बताता है कि वही देश पतनोन्मुख है जो युग धर्म की उपेक्षा करते है। और परिवर्तन के लिए तैयार नही है। इतने पर भी हम आँख नही खोलते।

परिवर्तन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि अतीत की सर्वथा उपेक्षा की जावे, ऐसा हो भी नही सकता। अतीत के वह अंश जो उत्कृष्ट और जीवनपद ह उनकी तो रक्षा करना ही है, किन्तु नए मूल्यों का हमको स्वागत करना होगा तथा वह आचार-विचार जो युग के लिए अनुपयुक्त और हानिकारक हैं उनका परित्याग भी करना होगा।

राष्ट्रीयता की मांग है कि भारत मे रहने वाले सभी मजहब के लोगों के साथ समानता का व्यवहार होना चाहिये और सदा एकरूपता लाने का प्रयास होना

चाहिये सास्कृतिक दष्टि भी आवश्यक है जब 4 करोड मुसलमान हमारे देश के अधिवासी है तो उनका सस्पर्श आप बचा नही सकते। ऐसी अवस्था में एक-रुपता के अभाव मे तथा संकीर्ण बुद्धि से उनके साथ व्यवहार करने मे सदा भय बना रहेगा और संघर्ष होता रहेगा। भेद-भाव की बुद्धि मिटाकर तथा एकरुपता के लिये उचित साधनों को एकत्रित करके ही इस भय को दूर कर सकते हैं। एक व्यापक और उदार बुद्धि से काम लेने से तथा कानून और आर्थिक पद्धति की समानता से धीरे-धीरे विभिन्नता दूर होगी और इस देश के सभी लोग समान रूप से इस देश की उन्नति मे लगेगे।

'संस्कृति' का ठीक-ठीक अर्थ और उसके स्वरूप को समझ कर ही हम आगे बढ़ सकते है। अन्यथा 'सस्कृति' के नाम पर बहुअनर्थ होगा और राष्ट्रीय एकता के काम में बाधा पडेगी।

☐

भारतीय समाज और साहित्य संस्कृति

आचार्य नरेन्द्र देव

आज साहित्य का मानदण्ड क्या हो—इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व जीवन और साहित्य का क्या सम्बन्ध है और जीवन को सचालित करने वाली कौन-सी शक्तियां है इस पर विचार करना आवश्यक है। आज जनकल्याण, रक्षा, अर्थनीति-सभी कुछ राजसत्ता द्वारा सचालित होती है। पहले जो भी स्थिति रही हो, आज राजा (अर्थात् राजसत्ता) वास्तव मे काल का कारण है। राजशास्त्र में सभी शास्त्र समा गये है। आज हम राजनीति से अलग नहीं रह सकते। हमारा आशय दलगत राजनीति से नही है। हमारा अभिप्राय तो उस उच्च कोटि की राजनीति से है जो जनजीवन की धारा मे प्रवाहित होती रहती है और उसे बल प्रदान करती है। राजनीति की इस जीवन्त धारा से कोई भी विचारक या साहित्य सृष्टा अलग नही रह सकता। आज हमारे सामाजिक जीवन मे जो सकट, जो अस्तव्यस्तता दिखाई दे रही है, क्या उसके कोई इन्कार कर सकता है। क्या हमें उसका समाधान ढूढना नही चाहिए ?

अर्थनीति के बदलने पर राजनीति मे परिवर्तन अवश्यम्भावी है। 19वी सदी मे जब लोग सम्पन्न थे, यह सोचते थे कि विज्ञान से हमारी तरक्की हो सकती हे, किन्तु आज इस विचार पर से आस्था उठ गयी है। आज लोग विज्ञान को कोसने लगे हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि विज्ञान की प्रगति के साथ अर्थनीति मे जैसा परिवर्तन होना चाहिये था, वह नही हुआ। सारे संकटो की जड़ में यही वास्तविकता है। पहले अर्थ-क्षेत्र मे व्यक्ति को विकास करने की स्वतन्त्रता देने के उद्देश्य से मुक्त व्यापार की नीति (लाजेज फेयर) का अवलबन किया गया। किन्तु वैज्ञानिक और यान्त्रिक विकास से धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि मुक्त व्यापार की नीति मे सारा आर्थिक क्षेत्र कुछ लोगों की मुट्ठी में चली जा रहा है और शेष जनता गरीब और असहाय होती जा रही है। अब समाज

मे घोर आर्थिक विषमता उपस्थित हो गयी है। अतः सभी प्रकार के अर्थशास्त्री किसी न किसी रूप में नियोजन को स्वीकार करने लगे हैं। आर्थिक जीवन का यह संघर्ष सांस्कृतिक जीवन मे भी प्रतिफलित हुआ है। आज की राजनीति मे भी आर्थिक, सांस्कृतिक समस्यायें गुंथ गयी है। कौन ऐसा साहित्यकार होगा जो चतुर्दिक व्याप्त इस संघर्ष, असन्तुलन और असामजस्य से मुँह मोड सके? उसे इसका सामना करना ही होगा। सघर्ष को समाप्त कर सामजस्य स्थापित करना जैसे सबका कर्तव्य है, उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में साहित्यकार का भी यह परम कर्तव्य है।

व्यष्टि और समष्टि का समन्वय

साहित्य और समाज के संबंधों को समझने के लिये व्यक्तिगत मानस और लोक-मानस दोनो पर विचार होना चाहिये। जो एकांत जीवन व्यतीत कर रहा है उसे मानव-भावना की क्या आवश्यकता है। उसमें प्रेम, आदर आदि मानवीय गुण नही आ सकते। मानवीय गुणों की सृष्टि समाज में ही होती है, और अतत मानवीय भावनाये ही साहित्य की उपलब्धि है। इस प्रकार साहित्य और समाज का सबंध स्पष्ट हो जाता है।

साहित्य का दूसरा पहलू यह है कि वह व्यक्तिगत प्रयत्न परिणाम है। यहा व्यक्ति का महत्व स्पष्ट हो जाता है। ससार मे शुरु से ही दो प्रकार की विचार-धारायें चलती रही हैं। एक के अनुसार व्यक्ति समाज के लिये है और दूसरे के अनुसार समाज व्यक्ति के लिये है। असल में इन दोनो विचारधाराओ मे सन्तुलन होना चाहिये। इसी संतुलन से ही मानवता का कल्याण संभव है। सामाजिक नियमो का प्रतिपालन किये बिना व्यक्ति का विकास नही हो सकता और व्यक्ति की महत्ता को मिटाकर समाज भी समृद्ध नही हो सकता। राम, कृष्ण, गांधी, प्लेटो, न्यूटन, विवेकानन्द जैसे व्यक्तियो को मिटाकर क्या समाज विकास कर सकता है? समाज के विकास के लिये विभूति से सुशोभित मानव चाहिये। यह अवश्य है कि किसी में शरीर और किसी मे प्रतिभा की शक्ति होगी। दोनो प्रकार की शक्तियो का सम्मान होना चाहिये। इन दोनों के सहयोग से ही समाज की स्वस्थ रचना हो सकती है। ऐसे वातावरण का निर्माण होना चाहिये जिसमे इन दोनों शक्तियो का पूर्ण विकास हो सके। किसी भी हालत मे

आत्माभिव्यक्ति का दमन न होना चाहिये। इससे समाज नष्ट हो जायेगा साहित्य सजग आत्माभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम है।

विज्ञान का उपयोग आवश्यक

विचारों के संघर्ष से ही नवीन विचार पल्लवित होते हैं और सत्य का पता चलता है। मनुष्य ने धीरे-धीरे प्रकृति पर विजय प्राप्त की। एक प्रकार से विज्ञान का जयघोष हुआ। नये विचारों से और विज्ञान की इस जययात्रा से मानव-कल्याण तभी संभव है जब व्यक्ति मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य करे। यदि उनके कार्यों के पीछे करुणा की, मैत्री की भावना न होगी तो वह ध्वंस में ही लगेगा। आज मानव विकास की उस अवस्था पर पहुच गया है जहाँ वह उच्च-से-उच्चतर और उत्कृष्ट होता जायेगा। मानव की आत्मा के विकास के लिये इस बात की परख होनी चाहिये कि उसके प्रयत्नों से समाज कहाँ तक सुसंस्कृत और सभ्य बना है। अधिकाधिक ऐसे मानवों को जन्म देना हमारा प्रधान कर्तव्य है जिनसे मानवता सुसंस्कृत बने इसके लिये व्यक्तिगत प्रतिभाओं को विकास का अनुकूल वातावरण मिलना चाहिये।

यहां यह प्रश्न उठता है कि जब तक राष्ट्र दरिद्र है, उसमें वर्गविषमता का विष व्याप्त है; ऐसे वातावरण का निर्माण कैसे हो सकता है? मनुष्य ने विज्ञान का जो विकास किया है उसका लाभ उठाकर इस विषमता को दूर किया जा सकता है। प्राविधिक ज्ञान और औद्योगिक विकास को सुनियोजित कर हम समता और समृद्धि का युग ला सकते हैं। समता का यह तात्पर्य नहीं है कि सारा जनसमाज सम हो जायेगा एक सा हो जायेगा। ऐसा साम्य तो प्रलय है। समता का वास्तविक अर्थ हर व्यक्ति के लिये ऐसे समान अनुकूल वातावरण का निर्माण करना है जिसमे वह अपनी शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक क्षमता का पूर्णतया विकास कर सके। उसे अपना सर्वांगीण विकास करने मे किसी प्रकार की बाधा न हो। राष्ट्र का वातावरण ऐसा हो जिसमे पापी-से पापी का भी सुधार हो सके। हम सबको समान प्रतिभाशाली नहीं बना सकते, किन्तु जो प्रतिभाएं आज प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर मर रही हैं, उन्हें जिला सकते हैं, उन्हें पनपने का मौका दे सकते हैं। दरिद्रता का

अभिशाप दूर कर हम लाखो, करोडो आदमियो को सुसंस्कृत बना सकते है। इसमे हमारा राष्ट्र आगे बढ़ेगा।

पश्चिम की एक महत्वपूर्ण देन

कोई भी विचारक समाज के निरतर विकास की उपेक्षा नही कर सकता। मानव-समाज आदिम युग मे बराबर प्रगति कर रहा है। इस प्रगति मे बराबर समय-समय पर नये-नये आध्यात्मिक मूल्यो की सृष्टि हुई है। पर्व मे विकास की अपनी परम्परा रही है, किन्तु पश्चिम ने जो कुछ किया हे उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। कोई भी सजग चिन्तक पश्चिम की देन को अस्वीकार नही कर सकता। विज्ञान के क्षेत्र मे-भाषण, लेखन और सघटन के क्षेत्र मे स्वतत्रता प्राप्ति के लिए पश्चिम के लोगो ने जो सघर्ष किया है वह मानवता के इतिहास मे अभूतपूर्व है। उसमे मानव-चेतना का जैसा प्रसार हुआ है-जिन नये मूल्यो की सृष्टि हुई है—भारतीय साहित्यकार की प्रतिभा उससे प्रणोदित हुए बिना नही रह सकती।

सयुक्त राष्ट्र सघ के घोषणा पत्र को देखने मे पता लगेगा कि मानव-समाज आरम्भिक युगों से कितना बढा है। उसमे निखिल विश्व के मानव-समाज के मूलभूत अधिकारों की रक्षा का जैसा आश्वासन दिया है, वह उसके पूर्व संभव न था। उसमे पहली बार मानव-समाज के संघटन और प्रगति के लिए अन्तर राष्ट्रीय दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा हुयी है। यह दूसरी बात है कि अन्तर राष्ट्रीयतावाद का खतरा बना हुआ है, किन्तु इससे राष्ट्रसघ के घोषणापत्र का ऐतिहासिक महत्व कम नही हो जाता। सारे ससार का मानव-समाज एक ही है—विश्व के राष्ट्रो द्वारा इसकी घोषणा से मानवता के एक नये युग का आरंभ हो गया है। अब मनुष्य इसके पीछे नही लौट सकता।

नये मानव-समाज की समस्त उदीयमान शक्तियों के पीछे राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र मे उद्घोषित मानवमात्र के ऐक्य की भावना की प्रेरणा है। वे उदीयमान शक्तियां हमारे युग की देवशक्तिया है। इनसे लड़ने वाली आसुरी शक्तियां भी मौजूद हैं, किन्तु देवशक्तिया की विजय ध्रुव है। हमारे साहित्य में इन्ही देव-शक्तियो का तेज व्यक्त होना चाहिए। आज का साहित्यकार अतिराष्ट्रीयतावाद वर्गवैषम्य, सामाजिक ऊंच-नीच की भावना, धार्मिक और साम्प्रदायिक सकीर्णता का कट्टर शत्रु है। उसमें अन्तराष्ट्रीय शांति स्थापित करने की नयी उत्सुकता

जग चुकी है। उसके सामने नये मानव-समाज का स्वप्न है। उसे मूर्तरुप देने तथा व्यक्तिगत और सामाजिक आचार-विचार मे नये मानव की प्रवृत्तियों को साकार करने के लिए वह सतत प्रयत्नशील है। इससे कौन इनकार कर सकता है कि नये मानव का यह स्वप्न पश्चिम के विज्ञान और प्राविधिक प्रगति के कारण ही सभव हो सका है। पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति को अपनाकर भी क्या हम दो सौ वर्ष पूर्व के वही पुराणपथी बने रह सकते है।

भारतीय संस्कृति की विशेषता

हमें नये जीवन के लिए नये उद्देश्य स्थिर करने होगे। हमारे देश की बहुत ऊची सस्कृति रही है। हमारी संस्कृति मे वे सभी तत्व मौजूद है जिनमे हम नवयुग और नव-मानव का निर्माण कर सकते है। हमारी सस्कृति का सबसे बडा तत्व विभिन्न जीवन प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र मे समन्वय स्थापित करना है। विशाल भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत अनेक छोटी-छोटी सस्कृतियां है, किन्तु उनमे एकरूपता है। इसी प्रकार, धर्म के भी अनेक स्वरुप है—सनातन, आर्य, जैन और बौद्ध। इनमें उपासना का भेद है, उत्सव—पर्व और साधना का भेद है, किन्तु इस भेद के होते हुए भी कुछ मुख्य बातो मे अद्भुत एकतानता और समरसता मिलती है। वैविध्य और वैभिन्य में एकता का जो सूत्र है वह हमे सदा से अनुप्राणित करता रहा है। हमने जीवन में इतने प्रयोग किये हैं कि पश्चिम के प्रयोग से हमे लाभ ही होगा, किसी प्रकार की क्षति नही हो सकती। हम पश्चिम के उच्च तत्वो को अपनी सस्कृति मे सहज ही आत्मसात् कर सकते हैं। आदान-प्रदान मे ही सस्कृतियां पुष्ट और ऐश्वर्यमय हुआ करती हैं। हमें आदान-प्रदान का द्वार बन्द न करना चाहिये।

भारतीय सस्कृति की दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना है। जीवन मे सफल सचालन और स्वस्थ विकास के लिये एक-न-एक प्रकार की नैतिक व्यवस्था आवश्यक है। कर्मफल मे विश्वास प्रकट कर मानवीय कर्म को सहज ही महान् लक्ष्य की ओर प्रेरित करने के उद्देश्य मे भारतीय सस्कृति में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थो की प्रतिष्ठा हुई हैं। मोक्ष को हमारे यहा सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। मोक्ष से तात्पर्य मनुष्य की आध्यात्मिक और बौद्धिक मुक्ति से है। योग के बिना कोई मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। योग

से तात्पर्य मन की समहित अवस्था और प्रवृत्तियों पर नियंत्रण से है। हमारे यहा के सभी सम्प्रदाय, चाहे वे आत्मवादी हों या अनात्मवादी, इस विचारसरणि पर एकमत हैं। उन सब का गन्तव्य एक ही है—मानव की मुक्ति। कर्मफल की वासना न रखते हुए और शुभ कर्म करते हुए मोक्ष की ओर निरंतर बढ़ते जाना, यही भारतीय संस्कृति का मूलाधार है।

हमें यह न भूलना चाहिये कि विभिन्न धर्मों के योग से ही विशाल भारतीय सस्कृति का निर्माण हुआ है। जैन और बौद्ध धर्म को नास्तिक कहकर उसकी उपेक्षा करने की वृत्ति हमे छोडनी पड़ेगी। यूरोपीय सस्कृति, यूनानी कला और साहित्य तथा रोमन-विधानों से बनी है। यूनानी और रोमन संस्कृति पर भी भारतीय सस्कृति की छाप पडी है। स्वतंत्र भारत में प्राचीन भारत की खोज होनी चाहिए। इस खोज से हमे पता चलेगा कि एशियाई महाद्वीप में हमने अपने विचारो को फैलाया था—राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व प्राप्त करने का प्रयन्त नही किया था। यह हमारा सांस्कृतिक वैशिष्य है, हमारी अमूल्य सम्पदा है। यदि हम इस सम्पदा के सच्चे उत्तराधिकारी बनना चाहते है तो हमें अपने साम्कृतिक गुणों को कायम रखने के लिए लगन और निष्ठा से अध्यवसाय करना होगा।

अतीत के प्रति मोह होना चाहिये, आदर होना चाहिये, किन्तु अन्धविश्वास नही होना चाहिये। आज के युग में जो किसी प्रकार की संकीर्णता से आबद्ध रहना चाहता है वह आज के संसार का नागरिक होने के अयोग्य है। हमारी सस्कृति का एक बड़ा सन्देश आचरण की शुद्धता है। किसी देश में काव्य, शास्त्र दर्शन का बहुत प्रचार होने पर भी यह आवश्यक नही कि वहा के लोगो का पारस्परिक आचरण भी शुद्ध हो। अपना ख्याल रखते हुए दूसरों का भी ख्याल रखना संस्कृत का मूल है। मनुष्य एक-दूसरे के साथ की खोज मे बडे-बडे संगठन बनाने की ओर प्रवृत हुआ। भोजन और विवाह बहुत जरुरी चीजे हैं। इसके लिए दूसरों से सम्पर्क स्थापित करना होता है। और इस प्रकार समाज की रचना होती है। दूसरो के सुख-दुःख का ध्यान रखे बिना मानव-समाज ही नष्ट हो जायगा। इसीलिए हमारे यहां कहा गया है कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत, यह सामाजिकता का और मानवता का मूलमन्त्र है। यदि हम दूसरों का दोष देखने की आदत छोड़ दें तो हमे अपने दोष दिखाई देने लगेंगे

और हम अपना सुधार कर सकग ऱम प्रकार म सार समाज का सुधार हो जायगा। इसीलिए हमार संस्कृति मे आत्मनिरीक्षण पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है।

हमारा कर्तव्य: आश्रय की परावृत्ति

भारतीय सस्कृति की इस पृष्ठभूमि में ही हम भारत के साहित्यकारो का कर्तव्य निर्धारित कर सकते हैं। दृढ़ सकल्प और विशाल हृदय से ही भारत मे नये मानव का जन्म होगा। नये मानव का जन्म होने पर हमारे आश्रय की परावृत्ति (चित्तवृत्तियों का उत्तोलन, सब्लिमेशन) होगी, भारत का कायाकल्प होगा। नये मानवो के लिए ही नया भारत बना है। सत् साहित्य ने हमेशा से ही आश्रय की परावृत्ति का महान् उत्तरदायित्व वहन किया है, भविष्य मे भी उसे इसका भार वहन करना होगा।

समष्टि और व्यक्ति

आचार्य नरेन्द्र देव

व्यक्ति और समष्टिका विवाद बहुत पुराना है। दर्शनिकों में भी दोनो मतवादो के पक्षपाती पाये जाते हैं। प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' में समष्टिवाद का समर्थन किया है। हेगेल ने अपने दार्शनिक विचारो में इसी वाद को आश्रय दिया है। हेगेल के अनुसार सर्व समष्टि के प्रतिरूप इस बाह्य जगत में संस्थाओ का आकार धारण करते हैं, भाषा, राज्य, कला, धर्म इसी प्रकार की संस्थाए है। इन संस्थाओं की अन्तरात्मा का आत्मसात् करने से ही व्यक्तिगत विकास होता है। संस्थाओ के विरुद्ध व्यक्तियों के कोई आध्यात्मिक अधिकार नही है। यह ठीक है कि इतिहास बताता है कि संस्थाओ में परिवर्तन होता है, किन्तु यह परिवर्तन विश्वात्मा का काम है। विश्वात्मा अपने महापुरुषो का वरण करता है। यही उसके उपकरण है। इनसे अन्यत्र व्यक्तियों का कोई हाथ नही होता। १९ वीं शती के अन्तिम भाग में हेगेलवाद का सम्मिश्रण जीवशास्त्र के विकास-सिद्धान्त से हो गया। "विकास" (evolution) वह शक्ति है जो अपने लक्ष्य में परिणत होता है। इसके विरुद्ध व्यक्तिो के भाव और उनकी इच्छाए अशक्त हैं अथवा इन्ही के द्वारा 'विकास' अपना कार्य सम्पन्न करता है। हेगेल के कुछ अनुययायियों ने सर्व समष्टि और व्यक्ति का सामंजस्य करने की चेष्टा की। उन्होंने समाज को समुदाय मात्र न मानकर एक अवयवी माना। इसमें सदेह नहीं कि व्यक्तिगत योग्यता के प्रयोग के लिये सामाजिक संगठन का होना आवश्यक है। किन्तु समाज को अवयवी मानने का यह अर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक मर्यादित स्थान और उसकी एक नियत वृत्ति है और उसकी पूर्ति अन्य अवयवों और वृत्तियों से होती है। इसकी उपमा शरीर से दी जाती है। शरीर के विभिन्न अवयवो का अन्योन्य सम्बन्ध होता है तथा शरीर के साथ एक विशेष सम्बन्ध होता है। प्रत्येक अवयव की वृत्ति नियत है। वह इस विषय में स्वतंत्र नहीं है। अपनी नियत क्रिया को सम्पन्न करने

मे ही अवयव की कृतकृत्यता है और इसी प्रकार शरीर की स्थिति सभव है। इस दृष्टान्त को समाज मे लागू करने का यह फल होता है कि समाज के वर्गो का जो विभेद है उसको दार्शनिक आश्रय प्राप्त होता है।

समाज शास्त्रियो मे ऐसे विचार के भी है जो व्यक्ति पर समाज की प्रधानता स्वीकार करते है। यह समाज का भी अपना एक व्यक्तित्व मानते है। इनके अनुसार समाज व्यक्तियों का समुदाय मात्र नही है। समाज के व्यक्तित्व को यह मानव के व्यक्तित्व की अपेक्षा कही अधिक ऊँचा मानते है। इसके अनुसार समुदाय तथा समाज, राष्ट्र, राज्य का ही वस्तुत व्यक्तित्व है। व्यक्ति एक क्षुद्र, अकिंचन अंशमात्र है, समाजरुपी बृहत् शरीर का वह एक तुच्छ कण है।

इस विचार-सरणि का २० वी शती पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। फैसिज्म को इसी से प्रेरणा मिली थी। राष्ट्र और राज्य सब कुछ हैं, व्यक्ति कुछ नही है। राष्ट्र और राज्य के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को विलीन करने में ही व्यक्ति की सफलता और परिपूर्णता है। इसी विचार ने राज्य को सर्वोपरि बना दिया और उसको मनुष्य के जीवन के सब विभागो पर पूर्ण अधिपत्य प्रदान किया।

इस विचार के फैलने के कई कारण है। पूंजीवादी युग के जनतंत्र की असफलता और बडे पैमाने के उद्योग, व्यापार की अतिशय वृद्धि इसके कारण है। राजनीतिक जनतंत्र व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की रक्षा करता है और प्रत्येक व्यक्ति को वोट का अधिकार देता है, किन्तु गरीबी और बेकारी की समस्या को हल नही करता। इसका इलाज तो यह था कि अधूरे जनतन्त्र को पूर्ण किया जाय, आर्थिक क्षेत्र में भी जनतंत्र का प्रयोग किया जाय और इस प्रकार व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की रक्षा करते हुए गरीबी और बेकारी को दूर किया जाय। किन्तु ऐसा न करके जनतंत्र पर ही आक्रमण किया और उसका उपहास किया गया। इससे जनतंत्र को आघात पहुंचा और लोग यह समझने लगे कि राजनीतिक जनतंत्र एक प्रकार का ढोग है। लोगों का विश्वास जनतंत्र के उन मूल्यो पर से उठने लगा जिनको पश्चिमी यूरोप ने अनेक कष्ट सहकर और अनेक सघर्षो के पश्चात प्राप्त किया था। इससे फैसिज्म को बल मिला।

पूंजीवाद के प्रसार ने छोटे पैमाने के उद्योग, व्यापार को छिन्न-भिन्न कर दिया। बैंको के पास अथाह पूंजी हो गयी और वह भी इस पूंजी को प्रत्यक्ष रुप से उद्योग, व्यवसाय मे लगाने लगे। बड़े-बड़े व्यवसाइयो ने छोटे दुकानदारो पर भी धावा बोल दिया और उनके व्यापापार को खत्म कर दिया।

व्यवसाइयो के बडे-बडे समुदाय बन गये और इनका मुकाबला करना असम्भव हो गया। पूजीवाद, के विकास का यही प्रकार है। आर्थिक क्षेत्र मे जब यह व्यवस्था उत्पन्न हो गयी तब इसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ने लगा। जिस समाज मे धन का सबसे अधिक महत्व हो उस समाज मे आर्थिक पद्धति सामाजिक जीवन के सब आकारो को प्रभावित करने लगती है। इसके परिणामस्वरुप व्यक्ति का महत्व केवल आर्थिक क्षेत्र मे ही नही किन्तु समस्त जीवन में बँट गया। व्यक्ति एक बड़ी मशीन का कल-पुर्जा मात्र रह गया और बृहत् समुदाय की तुलना मे तुच्छ और नगण्य हो गया। इस परिस्थिति मे अपने क्षुद्र व्यक्तित्व के विकास की बात सोचना अर्थशून्य हो गया, और जो इस प्रकार सोचता है वह समाज का शत्रु और व्यक्तिवादी समझा जाता है। राष्ट्र और राज्य के हित ही सर्वोपरि है और उनके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थो का बलिदान करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। नागरिक अधिकार, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य आदि व्यर्थ की बकवाद है, और यदि वस्तुत: जनसाधारण सकल अधिकार और स्वत्व का प्रभव और उद्गम स्थान है तो राज्य जो जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता हैं, व्यक्ति पर प्रधानता पाने का अधिकारी है। इसीलिये शासक अपने शासन को सच्चा जनतन्त्र घोषित करते है।

समाजवादी भी इस विचारधारा से प्रभावित हुये। उन पर हेगेल के विचारो की छाप है। रैमजे मैकडोनाल्ड तक ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि व्यक्ति उस दैवी घटना का उपकरण मात्र है जिस ओर सारी सृष्टि बढ़ रही है। राज्य सर्व समष्टि के राजनीतिक व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है, वह समष्टि के लिये सोचता-विचारता है।

कुछ समाजवादियो का कहना है कि भविष्य के आदर्श समाज में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अनुभव ही नही करेगा और हर प्रकार से समुदाय मे विलीन हो जायगा। उसका जीवन सामुदायिक जीवन हो जायेगा, उसके विचार, उसकी वेदना और उसकी अभिलाषायें सामुदायिक हो जायेंगी।

यह विचार-सरणि व्यक्ति के महत्व को सर्वथा विनष्ट कर देती है और उसकी बलिवेदी पर समुदाय के महत्व को बढ़ाती हैं। किन्तु मार्क्स तथा एंगेल्स की शिक्षा के वह सर्वथा प्रतिकूल है। कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो में मार्क्स ने कहा है कि प्रत्येक के स्वच्छन्द विकास से सबका स्वच्छन्द विकास होता है। एक दूसरे स्थल पर मार्क्स कहते हैं कि श्रमजीवी तभी स्वतन्त्र है जब वह अपने उपकरणो

का मालिक है। यह स्वामित्व दो में से एक रूप धारण करता है और जब व्यक्तिगत स्वामित्व का नित्य लोप होता जाता है तब उसके लिये केवल सामुदायिक स्वामित्व रह जाता है। समाजवाद के उपक्रम के इतिहास पर यदि हम विचार करें तो मालूम होगा कि वह उस पूँजीवादी समाज के विरोध में उत्पन्न हुआ था, जो मनुष्य को वस्तु उपकरण मात्र बनाकर गुलाम बनाना चाहता था। मार्क्स व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये समाजवाद की स्थापना चाहते थे। "समुदाय का अपना ऐसा कोई आन्तरिक महात्म्य नहीं है। इसकी आवश्यकता स्वतन्त्रता की गारंटी देने के लिये है। समाज में रहकर ही व्यक्ति का विकास सम्भव है और उद्योग-व्यवसाय के युग में राष्ट्र की सम्पत्ति के समाजीकरण से ही इस स्वतन्त्रता और पूर्ण व्यक्तित्व का आधार सम्भव है। किन्तु समाजीकरण का फल यह होता है कि राजकर्मचारियों की प्रधानता हो जाती है और जब राजनीतिक और आर्थिक शक्ति राज्य में केन्द्रित हो जाती है तब सारा झुकाव समुदाय को प्रधानता देने का हो जाता है। तब समुदायत्व ही सिद्धान्त बन जाता है। और जो आरम्भ में एक लक्ष्य के पाने का उपकरण मात्र था वह स्वयं लक्ष्य हो जाता है। इस दोष का निवारण हो सकता है और व्यक्ति स्वातंत्र्य और समुदायिक आर्थिक जीवन में कोई नैसर्गिक नहीं है।

समष्टिवाद के विरुद्ध काण्ट व्यक्ति को किसी बाह्य उद्देश्य की पूर्ति का साधन नहीं मानता। उसका विचार है कि प्रत्येक मानव स्वतः उद्देश्य स्वरूप है। उसका महत्व सबसे अधिक है। मानव गौरवपूर्ण है, उसके व्यक्तित्व का विकास सर्वोत्कृष्ट नियम है। इसे व्यक्तिवाद कहते हैं।" किन्तु कुछ लोगों ने इसे अति व्यक्तिवाद का रूप दे दिया। उनका कहना है कि व्यक्ति के विकास के लिये जायदाद पर उसका स्वामित्व होना आवश्यक है। स्वामित्व की कोई सीमा निर्धारित करनी चाहिये। यह अनियन्त्रित उद्योग, व्यापार के समर्थक हैं। उनका मत है कि इस स्वतन्त्रता का प्रतिषेध करना व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का प्रतिषेध करना है।

वस्तुतः व्यक्ति और समष्टि में कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है। आज के युग में आर्थिक क्षेत्र में समुदायत्व अनिवार्य है। इस समुदायत्व को स्वीकार करके ही हम आगे बढ़ सकते हैं, यही मानव का उत्कृष्ट मूल्य है। उसको पूर्ण विकास का अवसर मिलना चाहिए। आज करोड़ों लोग इस अवसर से वंचित हैं। परिस्थितियां ऐसी है जो उसको विकास का अवसर नहीं देती। इन परिस्थियों को बदलना चाहिए। स्वतन्त्र वातावरण में ही व्यक्तित्व निखरता है, उसका

विकास होता है। किन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृङ्खलता नही है, मर्यादाहीनता नही है। विकास प्राप्त मानव सुसस्कृत है और दूसरों की स्वतन्त्रता का ध्यान रखता है, वह सयत होता है। समाज मे रह कर ही मानवोचित गुणों का विकास होता है। दया, भ्रातृत्व, त्याग आदि गुण समाज मे रह कर ही प्रादुर्भूत होते है। समाज द्वारा ही मानव का विकास हुआ है। किन्तु यह विकास कुछ मर्यादा स्वीकार करके ही हो सकता है। अन्तर इतना ही है कि एक मर्यादा या नियन्त्रण स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है, दूसरा बाहर से आरोपित होता है। समाज मे रह कर तरह तरह के नियम मानने पड़ते हैं, अन्यथा समाज विशृखल हो जाता है और किसी को भी विकास का अवसर नही मिलता। अतः सबकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उचित मर्यादा का स्वीकार करना आवश्यक है। किन्तु यदि राज्य की ओर से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है, यदि उसके नागरिक अधिकार सुरक्षित नही है, यदि उसको अपने भावो को व्यक्त करने तथा दूसरों के साथ सहयोग कर किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सगठन बनाने की स्वतन्त्रता नही है तो व्यक्ति के विकास मे बाधा पहुंचती है।

प्राचीन भारत मे वर्णाश्रम की व्यवस्था थी। इसकी रक्षा करना राज्यका कर्तव्य था। सामाजिक सगठन मे राज्य का हस्तक्षेप नही होता था। समाज वर्णो में विभक्त था। प्रत्येक वर्ण की जीविका नियत थी, सामाजिक नियन्त्रण कुछ बातो मे कठोर था। खानपान, विवाह-सम्बन्ध और जीविका के विषय मे कठोर नियन्त्रण था। किन्तु विचार की स्वतन्त्रता थी। आप चाहे ईश्वर के अस्तित्व को मानें या न मानें, आपका धर्म चाहे वेद बाह्य हो, आप समाज से बहिष्कृत नही हो सकते। किन्तु जिस काल मे प्रतिलोम विवाह मना था उस काल में प्रतिलोम विवाह करने पर समाज से पृथक होना पड़ता था और जिस काल मे केवल सवर्ण विवाह की ही अनुज्ञा थी उस काल मे असवर्ण विवाह करने पर समाज से अलग होना पड़ता था। इसी प्रकार अन्त्यज अपनी जाति के रिवाज और नियमों से बधे हुए थे। जो अधिकार द्विजों को प्राप्त था वह शूद्रो और दूसरे लोगो को नही था। आजीविका के कुलागत होने के कारण और प्रत्येक वर्ण की आजीविका के नियत होने के कारण स्वाभाविक विकास मे रुकावट होती है। किन्तु जो सन्यास ग्रहण करता था और घर बार छोड़ कर आध्यात्मिक चिन्तन मे लगता था उसके लिए सामाजिक नियम नहीं थे। श्रमण सब कोई हो सकते थे और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो सकते थे। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। उपनिषदो मे लिखा है कि मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ नही

है। स्वर्ग और नरक भोग-भूमियाँ हैं। मनुष्य जन्म में ही मोक्ष की भावना हो सकती है। भव चक्र से छुटकारा पाना और सब बन्धनों से विनिर्मुक्त होना जीवन का चरम लक्ष्य समझा जाता है। सब दर्शनों का ध्येय मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस या निर्वाण है। इस अर्थ मे सब दर्शन मोक्षशास्त्र हैं। जो परम पुरुषार्थ के लिए यत्नशील हैं वह साधारण जन के समान आचरण नही करता। उसकी चर्या भिन्न है, उसका समाज में सबसे अधिक आदर होता है। उसके लिए समाज के बन्धन नहीं हैं। अतः हमारे देश में आध्यात्मिक जीवन के विषय मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य था। किन्तु सामाजिक बन्धन कुछ बातों मे कठोर था। प्राचीन काल में सब देशो में अपने समाज पर व्यक्ति को बहुत कुछ आश्रित रहना पड़ता था। यही बात यहा भी थी। इसीलिए व्यक्ति पर समाज का नियन्त्रण भी अधिक था। सम्मिलित कुल की प्रणाली मे कुल का कठोर नियन्त्रण होता है। कुल इकाई समझा जाता है, व्यक्ति नही। मनुष्यो का सगठन कुल-कबीलों से गुजर कर राष्ट्र के स्तर तक पहुंचा है और अब वह साधन एकत्र हो रहे हैं जो एक ससार, एक राज्य की भावना को साकार कर सकते हैं। पश्चिम यूरोप का व्यक्ति किस प्रकार कुल और धार्मिक सस्थाओ के नियन्त्रण से स्वतन्त्र हुआ है और किस प्रकार उसने राज्य के विरुद्ध लड़कर नागरिक अधिकार प्राप्त किये हैं इसका इतिहास बड़ा रोचक है। प्राचीन काल में हमारे यहाँ राज्य की ओर से कोई ऐसे नियन्त्रण न थे जिनसे विचार स्वातन्त्र्य को क्षति पहुचे। समाज का नियन्त्रण अवश्य था। उसकी ओर से भी विचार की स्वतन्त्रता में कोई बाधा न थी। किन्तु कुछ विषयो मे कार्य की स्वतन्त्रता न थी। समष्टि का इन विषयों में व्यक्ति पर अक्षुण्ण अधिकार था। यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को अमर्यादित स्वतन्त्रता नही दी जा सकती, क्योंकि सब व्यक्तियों की स्वतंत्रता की रक्षा करनी है। मर्यादा को स्वीकार करके ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा। यह ठीक है कि व्यक्ति पर परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है, किन्तु यह भी सत्य है कि व्यक्ति परिस्थिति को बदलता है। मानव और प्रकृति की एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। जीवन और समाज स्थिर नहीं है। उनको बदलने की आवश्यकता पड़ती रहती है। यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का लोप हो जाय और कानून, परम्परा और रूढ़ि द्वारा उसको स्वतन्त्र रीति से सोचने और काम करने का अधिकार न दिया जाय तो समाज की उन्नति का क्रम बन्द हो जाय और मानवोन्नति असम्भव हो जाय। इतिहास बताता है कि

जिस समाज मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया और राज्य या समाज की ओर से विचारों का दमन हुआ उस समाज मे गत्यवरोध हुआ और उसका ह्रास और पतन हुआ। विचार और सस्था के इतिहास मे एक समय आता है जब वह जड़ और स्थिर हो जाती है। परिस्थितियां बदल जाती है और नये विचारो और नयी सस्थाओ की माँग करती है किन्तु पुराने विचार और पुरानी सस्थाएं मनुष्य पर प्रभाव जमाये रहती हैं कि वह नये सिरे से सोचने को तैयार नही होता। अतः समाज के स्वस्थ जीवन के लिये ऐसे केन्द्र चाहिये जहा से पुराने विचारो और सस्थाओ की आलोचना होती रहे और जिनसे नये विचारो के उपक्रम मे सहायता मिलती रहे, जिनमे जीवन का प्रवाह कभी रुके नही और जीवन किसी सोते मे अबद्ध न हो। इसके लिये विचार-विनिमय की स्वतन्त्रता अपेक्षित है।

यदि प्रत्येक अपनी मर्यादा को समझे तो व्यक्ति और समष्टि में कोई झगड़ा नही है। आखिर, यह व्यक्ति का विकास है क्या? अपनी निहित शक्तियो का पूर्ण आविर्भाव। यह कार्य समाज मे रहकर ही होता है, अन्यथा नही। ज्यो ज्यों समाज ऊँचे स्तर में उठता है त्यो त्यो व्यक्तित्व के विकास की गहराई बढती जाती है। एक कबीले के व्यक्ति और राष्ट्र के व्यक्ति की परस्पर तुलना करने से मालूम होगा कि राष्ट्र के विचार, अनुभव और कल्पना में कितना आकाश पाताल का अन्तर हो गया है। धीरे-धीरे व्यक्तित्व समृद्ध होता है। पुनः एक अन्तरराष्ट्रीय व्यक्ति जो सकल विश्व को अपने व्यक्तित्व मे समा लेता है, राष्ट्र की सीमा का उल्लघन करता है; जाति, धर्म, रग का भेद न कर मनुष्य मात्र के प्रति आदर और प्रीति का भाव रखता है, तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना से प्रेरित हो अपने सब कार्यों को करता है। उसके व्यक्तित्व की उदारता, समृद्धि तथा वैचित्र्य का क्या कहना? उसकी सूक्ष्म दृष्टि, उस की गम्भीर और कोमल अनुभूति सकल विश्व से उसका तादात्म्य स्थापित करती है। ऐसा मनुष्य जगद्वन्द्य है। ऐसे व्यक्तित्व के लिये स्वच्छन्द वातावरण चाहिये। अतः व्यक्ति और समष्टि के बीच सामजस्य करना होता है। समाज का उचित हस्तक्षेप कहा और किस दरजे तक हो सकता है तथा वह कौन सा क्षेत्र है उसकी क्या सीमाये है जिसमे व्यक्ति का एक मात्र अधिपत्य होना चाहिये, इन बातो का निणय होना आवश्यक है।

हमारे समाज मे विचार-स्वातत्र्य रहा है। इसके कारण धार्मिक सहिष्णुता

भी रही है। इसी कारण आज भी हम स्त्रियों को या हरिजनों को राजनीतिक अधिकार देने का विरोध नहीं करते। यूरोप को या रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटों को वोट के सामान्य अधिकार के लिये कितना संघर्ष करना पड़ा है! हां, हमारे यहां सामाजिक अधिकार देने के लिये अवश्य विरोध किया जाता है। इस विचार स्वातंत्र्य की जो हमारी सबसे बड़ी निधि है, हमको रक्षा करनी है और उसकी युग के अनुकूल वृद्धि भी करनी है। बिरादरी के बन्धन ढीले हो रहे हैं, व्यक्ति उनके कठोर नियंत्रण से मुक्त हो रहा है। किन्तु एक ओर अति-व्यक्तिवाद का भय है और दूसरी ओर यह भय है कि कहीं भविष्य में अति-समष्टिवाद व्यक्ति को ग्रसित न कर ले। हमको इन दोनों भयों का प्रतिकार करना है और एक ऐसी व्यवस्था के लिये यत्नशील होना है जो व्यक्ति और समष्टि का उचित समन्वय कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि मानव से श्रेष्ठतर कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यह भी सत्य है कि समाज में रहकर ही मानवइसका अधिकारी बन सकता है। समाज से वह अपनी शक्तियों के विकास के लिये सामग्री पाता है, समाज में ही वह अपनी शक्तियों का प्रयोग कर उनको विकसित करता है और समाज को ही अपना सर्वस्व देकर पूर्ण और कृतकृत्य होता है।

□

भारतीय धर्म

आचार्य नरेन्द्रदेव

भारतीय धर्म एक उदार और विशाल धर्म है। यह सम्प्रदाय विशेष नही है। यह ठीक है कि इसके गर्भ से समय-समय पर अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ, किन्तु यह भी ठीक है कि इन विविध सम्प्रदायो के अतिरिक्त एक ऐसा भी धर्म है जिसको सम्प्रदाय की व्याख्या नहीं प्रदान की जा सकती। सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति विशेष प्रवर्तक होता है, उसके निश्चित पवित्र ग्रन्थ होते है जो उस प्रवर्त्तक की कृति हैं अथवा जिसको आदि प्रवर्तक की वाणियो या संवादो का सग्रह समझा जाता है। यह ग्रन्थ पवित्र और प्रमाणिक माने जाते है। ऐसा समझा जाता है कि सब बातो का अन्तिम उत्तर इनमे दिया गया है। जो उस आदि सम्प्रदाय के मानने वाले हैं वह अपने-अपने पक्ष का समर्थन उसी ग्रन्थ का उद्धरण देकर करते हैं। कभी-कभी सम्प्रदाय के भीतर भी अनेक वाद प्रचलित हो जाते हैं। किन्तु इनमे से एक भी ऐसा नहीं है जो ग्रन्थ की प्रमाणिकता को स्वीकार न करता हो। अपने-अपने पवित्र ग्रन्थ के अतिरिक्त वह आदि प्रवर्त्तक को पैगम्बर या गुरु मानते है, पैगम्बर या गुरु का जीवनचरित्र अनुयायियो के लिये पथप्रदर्शक होता ह। साथ-साथ प्रत्येक सम्प्रदाय के कुछ सस्कार और अनुष्ठान होते है जो उसको अन्य सम्प्रदायों से व्यावृत्त करते है। इन्ही के आधार पर हम बता सकते है। कि अमुक सम्प्रदाय के यह लक्षण हैं। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि इस्लाम का मानने वाला वह हैं जो एक ईश्वर मे विश्वास करता है और मुहम्मद साहब को उनका पैगम्बर मानता है तथा कुरान और हदीस को प्रमाणिक मानता है। नमाज, जकात, रोजा आदि उसके अनुष्ठान और धार्मिक कृत्य हैं। इन सम्प्रदायों मे से कुछ ऐसे है जो सार्वभौमिक होते है, अर्थात् उनमे सब देश और जाति के लोग सम्मिलित हो सकते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो स्थानीय हैं, उनका प्रभाव देश विशेष तक ही सीमित रहता है। जो सार्वभौमिक हो जाते ह उनमे कुछ ऐसी विशेषता अवश्य होती है जो उनको जाति और देश का अतिक्रमण करने मे समर्थ बनाती है। किन्तु यह सब होते हुए भी यह सब धर्म सम्प्रदाय विशेष हैं। इसका अर्थ यह है कि जहाँ

इनमें उदारता है वहाँ इनमें एक प्रकार की संकीर्णता भी है। अपने सम्प्रदाय के लोगों को ही यह स्वर्ग या मोक्ष का अधिकारी समझते है। चरम लक्ष्य प्राप्ति का यह एक ही मार्ग मानते है और यह मार्ग वही है जिसका अन्वेषण या निर्देश सम्प्रदाय के आचार्य, प्रवर्त्तक, शास्ता या पैगम्बर ने किया है। जो सम्प्रदाय से बाहर के है उनके लिए स्वर्ग या मोक्ष नही है। इसके अतिरिक्त यह तीर्थिको को अर्थात् अन्य सम्प्रदाय के मानने वालो को हीन समझते हैं और कभी-कभी उनके साथ विद्वेष भी करते है।

किन्तु जिस **भारतीय धर्म का** मैने ऊपर उल्लेख किया है वह ऐसा नही है। उसका न कोई आदि प्रवर्त्तक है और न उसके कोई एसे **अनुष्ठान या कृत्य** विशेष है जिनको हम उसका लक्षण ही बता सके। उसका कोई एक पवित्र ग्रन्थ भी नही है जिसको वह एक मात्र प्रमाण माने। वह दूसरो में पवित्र ग्रन्थो को अपना लेता है, यही कारण है कि उसकी व्याख्या नही हो सकती। जैसे ब्रह्म के लिए हम नेति-नेति कहते हैं वैसे ही इसके लिए भी हम इतना ही कह सकते हैं कि यह अमुक धर्म नहीं है, किन्तु यह निश्चित रुप से नही कह सकते कि यह क्या है। इसका कोई स्थिर रुप नही है। इसमे सदा विकास होता रहता है। यद्यपि हम इसका लक्षण नहीं बता सकते तथापि हम इसके अस्तित्व का अनुभव करते है। यदि इसे कोई नाम देना चाहें तो हम व्यापक रुप में इसे सनातन धर्म के नाम से संकीर्तित कर सकते हैं। किन्तु सनातन धर्म नाम भी आज एक सम्प्रदाय विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसीलिए इसे भारतीय धर्म कहना पसन्द करता हू। भारत की अधिकाश जनता इसी धर्म को मानती है। यद्यपि सम्प्रदायो का उस पर प्रभाव पड़ा है, तथापि मुख्य-मुख्य बातो मे यह आज भी उदार है। इस धर्म का विश्वास है कि स्वर्ग और मोक्ष लाभ के अनेक मार्ग हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म में रहकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। स्पष्ट है कि यह साम्प्रदायिक दृष्टि नही है। यह मानता है कि लोगो की रुचि भिन्न-भिन्न होती है और विविध मार्ग पर चलकर भी एक ही लक्ष्य पर पहुचा जा सकता है। पुनः इसकी मान्यता है कि अनुष्ठान, संस्कार विशेष सम्प्रदाय विशेष के चिह्न हैं, अमुक-अमुक सम्प्रदाय के लोगो को इन कृत्यों को करना चाहिए, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि दूसरो के लिए भी इनका कोई मूल्य है अथवा चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इनकी नितान्त आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक धर्म के लिए कुछ अनुष्ठान और कृत्यो

की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं के द्वारा **जनसमूह का आचरण व्यवहार** बनाता है। यह देश और काल पर निर्भर करता है, किन्तु यह सत्य, अहिंसा आदि का स्थान नहीं ले सकते, किन्तु सम्प्रदायवादी अपने-अपने अनुष्ठानों को बड़ा महत्व देते है और जो उनको नहीं मानते उनके लिए सुख और नि:श्रेयस् का मार्ग अवरुद्ध समझते है। सम्प्रदाय न होने के कारण इसकी **दूसरी विशेषता यह है**—कि यह किसी एक व्यक्ति को पैगम्बर या गुरु नही मानता। दूसरे सम्प्रदायों के गुरुओं को अपनाने में इसे झिझक नही होती। जहा-जहां वह विभूति, श्री और ऐश्वर्य देखता है उसी को वह ईश्वर के तेज का अंश समझता है। हिन्दुओं ने भगवान बुद्ध को भी अवतार माना। वह सब सन्तों को मानता है, सबकी वाणी को सुनाता है वह मुसलमान सूफी फकीरों को भी मानता है, उनकी दरगाह पर भी मिन्नत करता है। यदि राजनीतिक कारण उपस्थित न हो गये होते तो आज भी वह ऐसा ही करता। क्योंकि यह सब धर्मों को मोक्ष का उपाय मानता है, इसलिए वह किसी धर्म के विरुद्ध प्रचार नहीं करता। दूसरों को अपने धर्म मे दीक्षा देने का प्रयत्न नहीं करता। यदि किसी सम्प्रदाय के किसी व्यक्ति को उसकी साधना पसन्द है तो वह उसे अपने सम्प्रदाय में रहते हुए उस साधना का साधक बना लेता है, धर्मपरिवर्तन की अनुमति नहीं देता। यदि उसकी बस्ती के चारों ओर रहने वाले लोग किसी धर्म विशेष में दीक्षित नहीं है, और उसके प्रभाव में आकर उसके आचार-विचार को स्वीकार करना चाहते हैं, तो वह इसकी सुविधा उत्पन्न कर देता है।

इन्हीं गुणों के कारण दूसरे जो उससे अलग होते हैं और अपना एक पृथक सम्प्रदाय बना लेते हैं उनको यह अपने से अलग नहीं होने देता। भारतीय धर्म की इस अद्भुत शक्ति को विद्वानों ने स्वीकार किया है। भारतीय धर्म में अनेक पन्थ उत्पन्न हुए। भारतीय जनता ने उनके गुरुओं का आदर किया और अपनी श्रद्धा के फूल चढाये। अन्त में भारतीय धर्म की विजय हुई, और समाज से अलग हुये यह सम्प्रदाय भारतीय धर्म के दायरे में फिर आ गये। यहां एक दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा। सिख सम्प्रदाय के दशम् गुरु ने सिखों का संगठन किया और उनको कुछ विशेष चिन्ह धारण करने की आज्ञा दी। धीरे-धीरे साधारण समाज से सिखों का पार्थक्य होने लगा, किन्तु हिन्दुओं ने गुरुओं की उपासना की और उनको समाज का रक्षक समझ अपने प्रत्येक सस्कार के अवसर पर गुरु ग्रंथ साहब का भी पाठ कराया। धीरे-धीरे यह पार्थक्य दूर

होने लगा और सिख अपने को हिन्दू समझने लगे। मैकोलिक जिसने 6 जिल्दो में सिखों का इतिहास लिखा है, पुस्तक की भूमिका में लिखता है कि सन् 1908 मे सिख युवकों को यह देखकर कि वह हिन्दू हैं मुझे आश्चर्य हुआ और अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि भारतीय धर्म मे एक ऐसी शक्ति है जो उन लोगों को भी अपने पास ले आती है जो उनसे दूर रहना चाहते हैं। मध्य युग में सन्त और सूफियो ने जो हिन्दू-मुसलमानो को मिलाने का सफल प्रयत्न किया वह भी इसी भारतीय धर्म की अन्तरात्मा का प्रदर्शन है। भारतीय मुसलमानो को भी यह मानना पड़ा कि प्रत्येक को अपने-अपने धर्म का आचरण करना चाहिए। दूसरा उदाहरण आर्यसमाज का है। एक समय था जब आर्य-समाज के उपदेशक अपनी सारी शक्ति सनातन धर्म की (जिसे वह पौराणिक धर्म कहते हैं) टीका टिप्पणी में व्यय करते थे। आये दिन सनातनियों से उनके वाद-विवाद होते थे। इन्ही के कटु प्रचार ने भारत धर्म महामण्डल को जन्म दिया था। अब आज यह टीका-टिप्पणी नही के बराबर है और शास्त्रार्थ भी बन्द हो गये हैं। समाज सुधार की जो शिक्षा आर्यसमाज ने दी उसे भारतीय समाज ने स्वीकार सा कर लिया और आर्यसमाज के प्रवर्तक के प्रति अपना आदर प्रकट कर आर्यसमाज के धार्मिक प्रचार के कार्य को एक प्रकार से कुंठित सा कर दिया।

जब तक हम भारतीय धर्म के इस महत्व को नही समझेंगे, यह समझना कठिन है कि हमने विविधता में एकता का कैसा सफल अन्वेषण किया। हमारा देश विशाल है। इसमें अनेक जातियाँ बसती थीं। बाहर से भी समय-समय पर अनेक जातियाँ आक्रमणकारी के रूप में आयी और यहाँ बस गयी तथा भारतीय समाज में घुल-मिल गयी। विभिन्न जातियों के अपने-अपने विश्वास थे। इन सब में सामंजस्य करना एक दुष्कर कार्य था और बिना किसी प्रकार का समन्वय किये परस्पर के संघर्ष से समाज की रक्षा करना सम्भव न था। दो ही उपाय थे। या तो सबको चाहे इच्छा से हो या अनिच्छा से, एक किसी धर्म में दीक्षित कर लिया जाता, विविधता की रक्षा करते हुए एकता प्रतिष्ठित की जाती। भारत ने दूसरा मार्ग अपनाया। उस समय पहला मार्ग स्वीकार करना सम्भव भी न था, और यह मार्ग श्रेयस्कर भी न था इसलिए कुल, देश, जाति के आचार मान्य किये गये तथा धार्मिक विश्वासों और सिद्धांतो की अपेक्षा समाज-व्यवस्था पर अधिक जोर दिया गया। चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम के सिद्धांत को समाज-व्यवस्था का आधार बनाया गया और जब देखा कि चार से कहीं अधिक जातें हैं तो उनको चार वर्णों के परस्पर के

अनुलोम प्रतिलोम विवाह के आधार पर बना हुआ माना। समाज-व्यवस्था के साथ-साथ भारतीय धर्म के तत्वो पर जोर दिया गया। अर्थात् एक ओर विविधता को मान्यता देते हुए समाज के प्रचलित विभागो को चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के अनुकूल प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी, जिससे वह एक ही समाज के अग माने जा सके और दूसरी ओर प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायो मे भारतीय धर्म के उदार तत्वो को निहित करने का प्रयत्न किया गया। यह उदार तत्व किसी एक ग्रथ में उपनिबद्ध नही हैं। आप इनको उपनिषदो मे, सन्तो की वाणी में, और इनसे भी कही अधिक, सामान्य जनता के जीवन मे बिखरा हुआ पायेगे।

आध्यात्मिक शिक्षा के क्षेत्र मे एकत्व की इसी बुद्धि ने योग द्वारा ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, अनात्मवादी को मिलाया और एक लक्ष्य पर पहुंचाया। यह आश्चर्य की बात है कि न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, बौद्ध, जैन दर्शन सभी योग द्वारा मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति बताते हैं। सामंजस्य की इसी बुद्धि के कारण भारत मे धर्म के नाम पर बहुत कम रक्तपात हुआ। प्राय. सब राजाओ ने सब धर्मो का सत्कार किया और धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा दी। इसी भाव के प्रताप से मुसलमान बादशाहो ने भी हिन्दू मन्दिरों को जागीरें दी और आरम्भ मे ईस्ट इंडिया कम्पनी भी हिन्दु-मुसलमानो के पवित्र स्थानो की देख-रेख करती थी।

भारतीय धर्म का यह उदार भाव कभी-कभी दुर्बल हो जाता है, किन्तु इसमे सन्देह नही कि बार-बार विताड़ित होने पर भी नष्ट नही होता। अभी जब भारत का बंटवारा हुआ और उसके फलस्वरूप हिंसा और बर्बरता का नग्न रूप देखने को मिला तब मन में विचार आया कि उस उदार भाव की अंत्येष्टि हो रही है, किन्तु थोड़े समय के पश्चात् ही भारतीय हृदय बहुत कुछ निर्मल और स्वच्छ होने लगा और यह प्रतीति हुई कि वह पुराना उदार भाव अब भी जीवित है। पडितों की पाठशाला और विद्वानों की गोष्ठी मे तथा तीर्थो मे यह उदार भाव नही मिलेगा। यदि इसे देखना है तो अनपढ़ ग्रामीणो के खेतों और चौपालों में इसे ढूढिये।

यही उदार भाव सब प्राणियों मे अपने को और अपने मे सब प्राणियो को देखने के लिए विवश करता है। यही समत्व का योग है। यही उपनिषदों की शिक्षा है। इसीलिए कहा गया है कि वह स्वराज्य का अधिगम करता है।

किन्तु आज की अवस्था मे यह प्रकार पूर्ण रूपेण सफल नही हो सकता। यह ठीक है कि सर्वरूपेण एकरुपता कभी नहीं हो सकती, विविधता का होना स्वाभाविक है, अतः समन्वय की बुद्धि की सदा आवश्यकता रहेगी। किन्तु राष्ट्रवाद के युग में एक देश मे रहने वाले लोगों के आचार में अधिक से अधिक साम्य होना चाहिए। रेल, तार और विज्ञान विविधता को मिटा रहे हैं। धर्म का प्रभाव ही क्षीण हो रहा है। आधुनिक सुविधाओं के कारण जनता बड़े-बड़े समुदायों में संगठित हो रही है। रेडियो और प्रचार जन्य साधन एकता के कार्य को सुलभ बना रहे हैं। हमारी पुरानी समाज-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है। यह जन-जागरण का युग है। सब अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। ऐसे युग मे जब तक एकता के नये साधन नही निकाले जावेंगे, तब तक संघर्ष और विद्रोह की सम्भावना बनी रहेगी। भिन्न-भिन्न आचार के समुदायों में तीव्र संघर्ष हो सकता है। जब तक सबके लिए कुछ ऐसे प्रतीक और उद्देश्य न हों जो समान हैं तब तक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के बीच होने वाले संघर्ष आज के युग में बड़े भीषण होंगे। जहाँ एक ओर शांति और सहयोग के साधन बढ रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर विद्वेष और विद्रोह के लिये भी सुविधाएँ बढ़ रही हैं। आज प्रत्येक राष्ट्र को आचार-साम्य की चेष्टा करनी चाहिए। जब धर्म के क्षेत्र से जीवन के विविध अंग बहिष्कृत हो रहे हैं तब धर्म या सम्प्रदाय का विचार न कर सबके लिये एक ही कानून होना चाहिए। एकरुपता का यह कार्य बलपूर्वक नहीं हो सकता क्योंकि बल का प्रयोग करने मे तीव्र प्रतिक्रिया होती है और विरोध बढ जाता है। यह कार्य सब बालक-बालिकाओं की समान शिक्षा-दीक्षा से होना चाहिए तथा धीरे-धीरे एक वेषभूषा, एक राष्ट्रभाषा, एक कानून का प्रवर्तन होना चाहिये। आचारो की विभिन्नता राष्ट्रीयता को दुर्बल करती है। अतः उनमे यथाशक्ति एकरुपता लाने का प्रयत्न होना चाहिए। पश्चिम की शिक्षा द्वारा यह कार्य थोड़ा-बहुत सम्पन्न हुआ था, अब नये ढग से इस काम को करना है। किन्तु जैसा कहा जा चुका है, विविधता सर्वथा नही मिट सकती। एक राष्ट्र के भीतर एकरुपता का यह काम हो सकता है, किन्तु संसार मे तो यह विविधता बहुत दिनों तक रहेगी। शाँति-रक्षा के लिए तथा युद्ध को रोकने के लिए भारतीय उदार धर्म के तत्व की अब भी आवश्यकता है। राष्ट्र-राष्ट्र के बीच सौहार्द्र और सहयोग स्थापित करने में इससे सहायता मिलेगी। इस उदात्त भाव की आज विशेष आवश्यकता है। केवल युग के अनुरुप उसके बाह्य रूप और आकार को बदलना है।

□

एक निजी पत्र

बरेली सेन्ट्रल प्रजिन,
16-5-45

प्रिय रमेन्द्र,

आपका पत्र 30 अप्रैल को मिला था। कुछ आवश्यक पत्र लिखने थे इस कारण उत्तर देने मे विलम्ब हुआ। क्षमा चाहता हूं। आपके भाई साहब को मेरा पत्र मिल गया होगा।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप समय का सदुपयोग कर रहे हैं और पुस्तकों के पढ़ने में समय व्यतीत करते हैं। मैं समझता हूं कि पुस्तकों के मिलने में बहुत कठिनाई होती होगी किन्तु आपके पत्र से अवगत हुआ कि पुस्तकों की उतनी कमी नहीं है जैसा कि मेरा ख्याल था। यह जानकर विशेष प्रसन्नता हुई कि आप प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन नवीन दृष्टि से करने का प्रयत्न कर रहे हैं। सामग्री की कमी से तथा इस कारण कि इस दिशा में काम नहीं हुआ है यह कार्य सुगम नहीं है। मैं बराबर इस कार्य के महत्व को अनुभव करता रहा हूं किन्तु अवकाश न मिलने के कारण इस कार्य को स्वयं न कर सका। वस्तुतः यह काम एक व्यक्ति का है भी नहीं, किन्तु नवीन दृष्टि रखने वाले इतिहास वेत्ताओ की नितान्त कमी है। अपने प्राचीन दार्शनिक विचारो की भी नवीन पद्धति से आलोचना होनी चाहिये, उनके ठीक-ठीक मूल्य को आंकना बहुत जरुरी है। मेरा तो यह निश्चित मत है कि इस कार्य का अभाव हमारी उन्नति में बाधक है।

जब कोई दार्शनिक मत सुपल्लवित होता है तो उसका जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। दार्शनिक पडितो में भले ही छोटी-छोटी बातो को लेकर वाद विवाद हो किन्तु जब विचार सरणी में कोई मौलिक परिवर्तन होता है तो वह कोरे पडित से ही उत्पादित नहीं होता किन्तु उसके गम्भीर कारण समाज में निहित हैं। बौद्ध धर्म में हम इसका बहुत अच्छा उदाहरण पाते हैं।

महायान और हीनयान में आकाश पाताल का अन्तर है। यद्यपि प्राचीन परम्परा की रक्षा की गई है तथापि तुलना करने से दोनों में बड़ा पार्थक्य है। इस परिवर्तन के सामाजिक कारणों का थोड़ा बहुत पता है।

ऐसा भी होता है कि एक दार्शनिक विचार का उपयोग कोई वर्ग प्रगति के लिये करता है और कोई स्थिर स्वार्थों की रक्षा के लिये, उस दार्शनिक विचार में चाहे कितनी भी त्रुटियां क्यों न हों यदि उसका प्रगति के लिये उपयोग हो तो अपेक्षित रूप से वह अच्छा ही है। जब तक विज्ञान की शिक्षा फैलती नहीं तब तक नये दर्शन का गठिन होना सम्भव नहीं है। उस समय तक या तो प्राचीन दर्शनों की उपेक्षा होगी या उनका व्यवहारिक उपयोग संसार के झंझटों से बचने के लिये होगा। दोनों अवस्थायें ठीक नहीं है। राष्ट्रीयता की मिथ्या भावना से प्रेरित हो अपने प्राचीन दर्शनों को विज्ञान सम्मत सिद्ध करने का भी प्रयत्न होगा। थोड़े से लोग भले ही पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान से प्रभावित हो नवीन दर्शन को स्वीकार कर लें किन्तु जब तक हमारी शिक्षा प्रणाली आमूल परिवर्तित नहीं होती और उसमें तथा जीवन में विज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिलता तब तक दर्शन में हमारी आस्था न होगी। समाज में यह एक बड़ी कच्चाई है। इसका एक मात्र इलाज विज्ञान की शिक्षा का प्रसार है और यह काम देश में उद्योग व्यवसाय के बढ़ने से ही हो सकता है। योरुप में दार्शनिक विचार में जो प्रगति हुई है उसका इतिहास शृंखलाबद्ध है। हम उन्नति की दिशा को जान सकते हैं किन्तु हमारे देश में आधुनिक ज्ञान को प्राचीन ज्ञान से बाधा नहीं है। उनका परस्पर सम्बन्ध भी जानने की चेष्टा नहीं है। इस विशृंखलता के कारण ज्ञान असम्बद्ध रहता है और उसमें पूर्व पर ज्ञान नहीं होता। इस ज्ञान को जीवन से सम्बद्ध करने की भी चेष्टा नहीं है। इन त्रुटियों के कारण किसी कार्य में गम्भीरता नहीं रहती।

मैंने बौद्ध धर्म पर जो पुस्तक लिखी है उसमें इस प्रकार की कोई आलोचना नहीं है। एक ग्रन्थ तो फ्रेंच का भाषान्तर मात्र है। दूसरा स्वतंत्र ग्रन्थ है इसमें मैंने यत्र तत्र भारत के अन्य दर्शनों से तुलना की है किन्तु अपना कोई विवेचन नहीं दिया है। ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य बौद्ध धर्म दर्शनों की जानकारी कराना है। हां, मैंने यह जरुर निश्चय किया है कि स्फुट लेखों में इनकी स्वतंत्र आलोचना करूंगा। एक लेख लिख भी चुका हूं। कुछ और लेखों की

सामग्री भी एकत्र कर ली है। उनके लिखने में समय न लगेगा। प्राचीन दर्शनों की आलोचना दो दृष्टियों से होती है। एक उनके विज्ञान सम्मत होने की दृष्टि से, दूसरे उनके समाज के लिये उन्नतिशील होने की दृष्टि से प्रत्येक दर्शन का निरन्तर शोध होता रहना।

मैं बौद्ध दर्शन के अभ्यास मे बुरी तरह फंस गया। चीनी यात्रियों का ऋण भी चुकाना था। दूसरे एक बहुत बड़ी कमी को पूरा करना था। किन्तु इससे अन्य कोई लाभ न हुआ। मैं अन्य विषयो पर कुछ लिख न सका। यह मेरे स्वभाव का दोष है। अन्य विषयों की सामग्री जुटाना मेरे लिए कठिन था और जब तक मुझको संतोष न हो कि मैंने विषय की सब प्रमाणिक पुस्तको का अवलोकन कर लिया है तब तक मै लिखने का साहस नहीं करता। इसी दोष के कारण मेरे एक दो ग्रन्थ पहले भी अधूरे रह गये और आज तक अधूरे पड़े हैं।

जिन पुस्तकों का आप ने उल्लेख किया है वह प्राय: मेरी देखी हुई हैं। डा० भूपेन्द्र नाथ दत्त की पुस्तक मैंने नही देखी है। उसकी समालोचना देखी है। जरूर अच्छी होगी। वह विद्वान हैं। मेरा उनसे परिचय है। 17-18 वर्ष हुये मैंने विद्यापीठ मे उनके व्याख्यान कराये थे। वह लगभग एक महीने तक मेरे अतिथि थे। अब तो बहुत वृद्ध हो गये हैं। तिस पर भी उनका उत्साह कम नहीं होता। इस पुस्तक को जरूर मंगाऊंगा। मसानी साहब की पुस्तक देखी है। उसके बहुत से विचारों से मैं सहमत नही हूं किन्तु एक बात उनकी अवश्य विचारणीय है। आजकल इसकी बड़ी चर्चा भी है। प्रश्न है कि आर्थिक योजना पर आश्रित समाज का लोकतन्त्र से समन्वय कैसे किया जाय। कुछ लोग कहते है कि आर्थिक योजना से नौकरशाही की शक्ति बढ़ती है और जनता की स्वतन्त्रता अवश्यमेव जाती रहती है। यह बात ठीक नहीं है किन्तु दोनों का सामन्जस्य तभी हो सकता है जब हम उचित उपायो का अवलम्बन कर नये समाज को इन दोषों से बचावें, अन्यथा यह दोष अवश्य आ जाते हैं। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही संस्थाओं का जन्म होता है और जब तक वह उद्देश्य सफल नही होते तब तक उन संस्थाओं की भी आवश्यकता रहती है। अत संस्था के लोप का प्रश्न ही नही उठता। बदलते हुये समय को देख कर उसकी आवश्यकता और भी बढ़ जाती है किन्तु मनुष्य को कट्टर मत के दोष से सदा बचना चाहिये।

(Degma) हमारा शत्रु है। सिद्धान्त ठीक हो किन्तु उनके प्रयोग से सारी कठिनाई हैं। किसका प्रयोग ठीक है किसका नहीं, इस प्रश्न को लेकर सम्प्रदाय बनने लगते है। इससे संकीर्णता आ जाती है। सब धर्मों का यही हाल हुआ। इस लिये सतर्कता की जरूरत है। उदार भाव और मिष्ठ भाषण मनुष्य के ऐसे गुण हैं जो उसको लोक प्रिय बनाते हैं। सब मे गुण-दोष रहते है। लोग अपने साथियों के दोष को क्षम्य समझते हैं क्योंकि वह उसके गुणो को भी जानते है और उन परिस्थितियों को भी जानते हैं जिनका उनके साथियों को मुकाबला करना पड़ता है। पुनः उनका इन पर स्नेह भी है। किन्तु अपरिचितो के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता है। यह ठीक नही है। समालोचना करने के पूर्व समझने का प्रयत्न होना चाहिये और यदि आलोचना करना है तो उसकी भाषा संयत होनी चाहिये। ऐसी ही आलोचना का प्रभाव होता है। अस्तु,

आपको यदि इतिहास की पुरानी पुस्तकों की आवश्यकता हो तो आप पुस्तको की सूची मेरे लड़के के पास भेज दें। वह विद्यापीठ के पुस्तकालय से भिजवाने का प्रबन्ध कर देंगे। आपके पास कुछ रुपया भेजने के लिये लिख दिया है। पुस्तको को कृपया सभाल कर रखे और जब उनका काम हो जाय तो उन्हे सीधे विद्यापीठ लौटा दे। सबसे मेरा नमस्कार कहियेगा। मैं अच्छा हूं।

भवदीय,
नरेन्द्रदेव

पुनश्च: — 'पायरिया' के कारण मुझको अपने सब दात निकलवा देने पड़े थे। जून सन् 42 से ही निकलवा दिये थे। Dental Plate अहमदनगर में बना था। आवाज में फर्क हो ही जाता है।

नरेन्द्रदेव

□

[यह पत्र हमें उस समय के उत्तर प्रदेश विधान मंडलीय कांग्रेस दल के स्थायी सचिव श्री रमेन्द्र वर्मा से प्राप्त हुआ था। आचार्य जी के ऐसे महत्वपूर्ण पत्र कई लोगो के पास होंगे। यदि उन पत्रों की प्रमाणित प्रति आप हमें भिजवा सकें तो अनुग्रह होगा। —सम्पादक]

टिप्पणी

सत्तिवग्गो की एक कथा

श्रावस्ती में।

एक ओर अवस्थित उस देवपुत्र ने भगवान के समीप इस गाथा को पढ़ा।

१. सत्तिया

जिस प्रकार एक धार वाले शस्त्र से आहत मनुष्य व्रणचिकित्सक की खोज करता है तथा स्वस्थ होने के लिये अनेक प्रयोग करता है, जिस प्रकार सिर की जलन को शान्त करने के लिये मनुष्य नाना प्रकार के उपचार करता है, उसी प्रकार भिक्षु को चाहिये कि काम राग के प्रहाण के लिये अप्रमत्त होकर विहार करे। (भगवान बोले) जिस प्रकार एक धार वाले शस्त्र से आहत मनुष्य व्रणचिकित्सक की खोज करता है तथा स्वस्थ होने के लिये अनेक प्रयोग करता है, जिस प्रकार सिर की जलन को शान्त करने के लिये मनुष्य नाना प्रकार के उपचार करता है, उसी प्रकार भिक्षु को चाहिये कि सत्काय दृष्टि के प्रहाण के लिये प्रमादरहित होकर विहार करे।

२. फुसति

कर्म बिना किये विपाक का स्पर्श नहीं होता। कर्म करने पर ही विपाक का स्पर्श होता है। (कर्म और विपाक की यही धर्मता है) इसलिये जो अप्रदुष्ट पुरुष का उपघात करता है वह कर्मविपाक का भोग करता है।

जो शुद्ध हृदय, विगतरज और अप्रदुष्ट पुरुष का उपघात करता है वह दुर्गति को प्राप्त होता है। मूढ़ का पापकर्म उसी को लौट आता है जिस प्रकार वायु के प्रतिकूल फेंकी हुई सूक्ष्म धूल अपने ही ऊपर पड़ती है।

३. जटा

तृष्णा रुपी जटा भीतर-बाहर (अध्यात्म तथा बाह्य आयतनों में) उत्पन्न होती रहती है। सब सत्व तृष्णारुपी जटा से अवनद्ध हैं। हे गौतम! मैं आपसे पूछता हूं कि कौन ऐसा पुरुष है जो इस जटा को सुलझाने में समर्थ है।

जो भिक्षु वीर्य और प्रज्ञा से समन्वागत है वह प्रज्ञावान पुरुष शील। प्रतिष्ठितहो, समाधि और विपश्यना की भावना करते हुये इस तृष्णा-जाल क विच्छेद करता है। जो क्षीण सब अर्हत राग द्वेष और अविद्या से रहित हैं उनक तृष्णाजाल नष्ट हो गया है।

जहाँ सकल नाम-रुप (नाम—चार अरुपी स्कन्ध) अर्थात् पच स्कन्ध क निरोध रूपरूप

स्कन्ध होता है, जहां प्रतिघ सज्ञा (प्रतिघ संज्ञा से काम भव गृहीत होता है) और रुप सज्ञा (रुप भव) का निरोध होता है वहाँ तृष्णारूपी जटा का अत्यन्त विच्छेद होता है।

४. मनो-निवारण

(देवता)

जिसमे-जिमसे मन को हटाये उससे उससे दु ख को नही प्राप्त होता। वह सबसे यदि मन को हटावे तो दु:ख से मुक्त हो जाता है।

(भगवान्)

जो चित्त संयत भाव को प्राप्त है उसका सबसे निवारण नही करना चाहिये (किंतु उसकी वृद्धि करनी चाहिये)।

५. अरहं

देवता—जो भिक्षु अर्हन्त पद को प्राप्त होते हैं, जिसने चार मार्गो द्वारा समस्त कृत्य सम्पादित किये हैं, जिसे आसवो का क्षय किया है, जिसका यह अन्तिम जन्म है, वह (लोकवत् व्यवहार करता है और) कहता है 'मैं कहता हूं' और वह 'मुझे कहते हैं'। (जो भिक्षु अर्हन्त पद को प्राप्त है, जिसने चार मार्गों द्वारा समस्त कृत्य सम्पादित किये है, जिसने आसवों का क्षय किमा है, जिसका यह अन्तिम जन्म है, वह कहता है कि 'मैं कहता हू' और वह मुझे कहते हैं।' वह (स्कन्धादि में) कुशल है। वह लोक व्यवहार को जानकर केवल व्यवहार का भेद न करने के लिये लोकवत् व्यवहार मात्र करता है।

जो भिक्षु अर्हन्त पद को प्राप्त है, जिसने चार मार्गो द्वारा समस्त कृत्य सम्पादित किये है, जिसने आसवो का क्षय किया है जिसका यह अन्तिम जन्म है वह क्या मानवश करता है कि 'मैं कहता हूं' और वह 'मुझे कहते हैं।'

भगवान—देवता के इस सन्देह का निराकरण करने के लिये भगवान् उत्तर

में निम्नलिखित गाथा कहते हैं और दिखलाते हैं कि क्षीणास्रव (भिक्षु) ने नवविधि मान का परित्याग किया है।

उसने नवविधि मान का प्रहाण किया है। उसकी ग्रथियाँ छिन्न हो चुकी हैं। उसके सब मान और उसकी सकल ग्रन्थियाँ ध्वस्त हो चुकी हैं। उस प्रज्ञावान् पुरुष ने तृष्णा, दृष्टि और मान का अतिक्रमण किया है।

वह कहता है कि 'मैं कहता हूं।' और वह 'मुझे कहते हैं।' वह स्कन्धादि में कुशल है। वह लोक व्यवहार को जानकर केवल व्यवहार को भेद न करने के लिये लोकवत् व्यवहार मात्र करता है।

६. पज्जोतो

(देवता)

लोक में कितने प्रकाश हैं जिनसे (यह) लोक प्रकाशित होता है? यह प्रश्न आपसे पूछने आया हूं। मैं इसे कैसे जानूं।

(भगवान्)

लोक में चार प्रकाश हैं; पांचवां नहीं है। दिन में सूर्य का प्रकाश होता है रात्रि में चन्द्रमा का प्रकाश होता है और अग्नि दिन-रात जहाँ-जहाँ प्रज्वलित होती है वहाँ-वहाँ प्रकाश देती है। प्रकाशों में सम्बुद्ध श्रेष्ठ हैं। यह आभा (अर्थात् बुद्ध की आभा) अदृश और सर्वश्रेष्ठ है।

□

[यह टिप्पणी आचार्य जी की नोटबुक से उनकी सुपुत्री सरोज देव से हमें प्राप्त हुयी है। उनकी निजी हस्तलेख में यह कथा नोट की गयी थी। – सम्पादक]

शिक्षा और भाषा

आचार्य नरेन्द्र देव

खेद है कि हमारी नव अर्जित स्वतंत्रता जनता को अनुप्राणित न कर सकी और उससे राष्ट्र की सर्जनात्मक शक्ति निःसृत नही हुई। परिस्थितियो के सयोग से तथा उन विश्व-शक्तियो की सहायता से, जो हमारा भाग्य निर्माण कर रही हैं, हम लोगों को एक नयी हैसियत मिली। किन्तु हमारे अन्दर सामाजिक कर्तव्य और नये दायित्व के प्रति चेतना उत्पन्न नहीं हुई जो इस स्वतन्त्रता से सम्बन्धित है। हैसियत मे परिवर्तन के फलस्वरूप हमारे अन्दर कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही हुआ है। हमारे ध्येय मे गम्भीरता नही है और हमारे प्रयास की कोई दिशा नही है। देश की भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए एक महान राष्ट्रीय प्रयास होने के बजाय जिसमें लाखो व्यक्ति भाग लें, हम चारों ओर सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नो के प्रति घोर निराशा, निवृत्ति और उदासीनता देखते हैं, और सबसे बुरी बात तो यह है कि राष्ट्र की सम्पदा में कोई अभिवृद्धि होने के बजाय जनता का नैतिक स्तर निरन्तर गिरता गया है। जो देश सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र के मानवोपरि प्रयास द्वारा ही दलदल से बाहर निकल सकता है। हम लोग दासो की भाँति हमेशा परित्राणकर्ता की ओर दृष्टि लगाये रहते हैं और युगो से अमूल्य निधियो को उपलब्ध करने के लिए सुगम और सुलभ उपाय ढूंढ़ने के अभ्यस्त हो गये हैं। जब पुराना प्रकाश धुंधला हो जाता था अथवा बुझ जाता था और देश मे चारों ओर अन्धकार छा जाता था तब हम लोग ऐसा मार्ग ढूढ़ने की कोशिश करते थे जिससे करोड़ों व्यक्तियों को बिना अधिक प्रयास के ही मोक्ष और स्वर्गीय आनन्द का लाभ हो सके।

---

*अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन में अध्यक्ष पद से दिया गया अभिभाषण।

सामान्यजन को ऊपर उठाने के बजाय हम लोगो ने क्रम से ऐसे महात्माओ की सृष्टि की जिनका एकमात्र कार्य समाज मे जनता के मोक्ष का मार्ग ढूढना था। ज्ञान और क्रिया के दर्शनों को पीछे ढकेल दिया गया, जीवन की सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त करने के लिये केवल भक्ति और पूर्ण आत्मसमर्पण ही पर्याप्त था। हम लोग सस्ती औषधि के फेर में ही पडे रहे और सम्पूर्ण राष्ट्र पगु और कम्पवायु से ग्रसित हो गया। ऐसे वातावरण मे कोई महान बौद्धिक प्रयास सम्भव नहीं था और सांसारिक वस्तुओं में ही अधिकाधिक दिलचस्पी होती गयी। सारे देश में जडता आ गयी, जीवन मृतप्राय हो गया और राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पतन के गर्त में पहुच गया। अतएव इसमे विशेष आश्चर्य नहीं कि राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति से हमारे अन्दर नयी शक्ति नि सृत न हो सकी। यहाँ तक कि गाँधी जी का सर्वोत्कृष्ट आत्मोत्सर्ग भी उस जड़ता को दूर न कर सका। ऐसे महात्मा का नेतृत्व दुर्लभ होता है, किन्तु जैसी हमारी परम्परा रही है, हम लोगों ने उनके देहावसान के उपरान्त उन्हें सन्तों की कोटि मे बैठा दिया और अपने महापुरुषो मे सम्मानित स्थान देकर सन्तुष्ट हो गये। किन्तु यह हमारे लिये अत्यन्त लज्जा का विषय है कि हम लोग उनके उत्तम उपदेशो को भूल गये और यहाँ तक कि उनका अपरिमित आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति-भण्डार भी हमारे नैतिक अधःपतन को रोक न सका। इस समय सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन भ्रष्टाचार, पक्षपात तथा अनुशासनहीनता से रग गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अधिकार लिप्सा छा गयी। यहाँ तक कि विद्या-केन्द्र भी इस भ्रष्टाचार से बच नही सके हैं। हम लोगो मे सकीर्णता, तुच्छता और स्वार्थपरता आ गयी, समुदाय की अपेक्षा स्वार्थचिन्तन ही अधिक होता है। हमारी उत्तम भावनाएँ विलुप्त हो गयी है, सामाजिक विवेक नष्ट हो गया है और सेवा तथा त्याग की भावना का हमारे अन्दर लोप हो गया है। हमारी स्थिति सचमुच निराशाजनक हो गयी है। अब और आत्म-सन्तोष घातक सिद्ध होगा। सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने चारो ओर के खतरो के प्रति जागरूक होना पड़ेगा। इस समय सर्वोत्कृष्ट बुद्धिमता और साहस की आवश्यकता है। भारतीय जनता की वर्तमान आवश्यकताओ और आकाक्षाओं की तृप्ति करने के लिए आधारभूत जीवन दर्शन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। राष्ट्रीय जीवन को नवीन ढाँचे में पुनः शिक्षित करना तथा ढालना पड़ेगा। भारत की वर्तमान दशा का

साराश यह है कि हम लोग जीवन का ध्येय ही खो बैठे हैं। फलत: हम अंधकार मे टटोल रहे हैं और हमारा प्रयास असम्बद्ध और निरुद्देश्य हो रहा है. अगर हम दृढ़तापूर्वक अपने समक्ष ऐसे स्पष्ट और सुनिश्चित ध्येय को जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, रखें तो हमारी वर्तमान अव्यवस्था दूर हो सकती है। इसी प्रसंग मे हमें शिक्षा के महत्व को समझना चाहिए। विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में नया नेतृत्व शिक्षण-संस्थाएँ ही प्रदान कर सकती हैं। विश्वविद्यालय विचार-केन्द्र बन सकते हैं। और इस प्रकार राष्ट्र की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता पूरी कर सकते है। अन्यत्र सभी देशो मे राष्ट्रीय जीवन मे शिक्षा के महत्व का अनुभव किया जा रहा है और यह समझा जाता है कि कि शिक्षा को किसी भाँति मरने या अशक्त होने नहीं दिया जा सकता। यहाँ तक कि जब ब्रिटेन युद्धलिप्त था तब भी वहाँ शिक्षा-प्रसार के लिये राजकोष द्वारा उदार अनुदान दिया गया था। किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश मे जनता और राज्य को राष्ट्रीय जीवन में उच्च शिक्षा के महत्व का कुछ भी ज्ञान नहीं है। यहां तक कि हमारे विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत भी स्वतन्त्रता की अनुभूति नहीं उत्पन्न हो सकी है और वे अब भी पुरानी लकीर को इस भाँति पीटते जा रहे हैं मानों राष्ट्र मे कोई नवीन घटना ही नही घटी है। जब कभी देश मे आर्थिक सकट खड़ा होता है शिक्षा उसका पहला शिकार होती है। भारत सरकार मुश्किल से अपनी आय का आधा प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करती है। यह केवल तीन विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए उत्तरदायी हैं और सभी स्तरों की शिक्षा का शेष सारा भार इसने राज्य सरकारों पर डाल दिया स्वय कम से कम पोस्ट ग्रेजुएट शिक्षा और अनुसंधान का भार अपने ऊपर ले ले और अपनी आय का पर्याप्त भाग शिक्षा पर व्यय करे।

अगर हम विशुद्ध उपयोगिता की दृष्टि से भी शिक्षा पर विचार करें और सामाजिक और सांस्कृतिक शक्ति के रूप मे इसकी महत्ता को अलग कर दें तो भी हमें यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि शिक्षा, विशेपकर विश्वविद्यालयो की शिक्षा की इतनी उपेक्षा नही होनी चाहिए। समाज कल्याण-राज्य स्थापित करने का दावा करती हैं, किन्तु इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए देश की सामाजिक सेवाओं का निरन्तर विस्तार आवश्यक है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सरकार को काफी संख्या मे अध्यापको, डाक्टरो, इन्जीनियरों,

यंत्रचालकों तथा छोटे-बड़े कार्यों के लिये अन्य सुशिक्षित व्यक्तियों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ेगी। इसका यह अर्थ होता है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा का, वैज्ञानिक और यान्त्रिक शिक्षा की सुविधाओं का निरन्तर प्रसार और वैज्ञानिक अनुसंधान मे प्रगति होनी चाहिए। जन-हित की हमारी सभी योजनाएँ तथा निर्माण-कार्य तब तक सफल नही हो सकते जब तक कि राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे सुशिक्षित और कुशल व्यक्तियो का एक बड़ा दल तैयार नही हो जाता है। राष्ट्र की इस आवश्यकता की पूर्ति विश्वविद्यालय तथा टेकनालॉजिकल इस्टींट्यूट ही कर सकते हैं।

किन्तु शिक्षा का एक दूसरा पक्ष भी है जो स्पष्ट तो नहीं, किन्तु उतना ही महत्वपूर्ण है। आधुनिक युग में शिक्षा का सामाजिक प्रयोजन होना चाहिए। शिक्षा के सम्बन्ध मे शास्त्रवादी और परम्परावादी विचारो के बदले अधिक व्यापक और गत्यात्मक दृष्टिकोण को स्थान मिलना चाहिए। हम लोग एक ऐसे युग मे रहते हैं जब सामाजिक परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। समाज का मूलाधार ही परिवर्तित हो रहा है और प्राचीन मौलिक धारणाएँ काफी विवादस्पद हो गयी हैं। पर दोनो पक्ष अपनी आस्था पर दृढ़ हैं और विभिन्न दृष्टिकोणो मे सामजस्य स्थापित करने की आशा नही की जा सकती। इस प्रकार हमारे जीवन और व्यवहार के नियामक प्राचीन मौलिक सिद्धान्तों में कोई ऐकमत्य नही है। ज्ञान के क्षितिज का विस्तार हो रहा है, और इस दृष्टि से समय-समय पर हमारे मानस की पुनर्व्यवस्था आवश्यक हो गयी है। शिक्षा का उद्देश्य देश के नवयुवकों को भावी जीवन के लिये तैयार करना है, किन्तु जीवन की परिस्थिति मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, अतएव नव-युवकों की शिक्षा भी स्थिर जीवन दर्शन पर आधृत नही हो सकती है। परिवर्तनशील जगत की आवश्यकता पूरी करने के लिये शिक्षा को गत्यात्मक बनाना पड़ेगा, उसमे आधुनिक समाज की आवश्यकताओ तथा आकांक्षाओ पर शेष विश्व की दृष्टि से विचार करना पड़ेगा, विद्यार्थियों मे जीवन के उन मूल्यो की प्रतिष्ठा और प्रचार करना पड़ेगा जो आधुनिक विश्व की प्रगति के लिये आवश्यक हैं। वर्तमान जीवन पर विज्ञान की छाप को स्वीकार करना पड़ेगा और यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान और यन्त्रकला हमारी अनेक समस्याओं को हल करने में काफी सहायक सिद्ध होंगे, किन्तु साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि विज्ञान का तुच्छ स्वार्थों की सिद्धि में दुरूप-

योग न किया जाय, बल्कि उसे सामाजिक हित-कार्य में नियोजित किया जाय। यही विज्ञान का सच्चा धर्म है, किन्तु दुर्भाग्यवश सभी वैज्ञानिको में सामाजिक दायित्व के प्रति इतनी उच्च भावना नहीं है और वे इस बात का कुछ भी विचार न करके कि उनके अविष्कारो का किस प्रकार उपयोग किया जायगा, अपनी सेवा अधिकारूढ़ व्यक्तियों को अर्पित करने के लिये उद्यत रहते हैं। ज्ञान ही शक्ति है, किन्तु अगर इसका शान्ति और सामाजिक कल्याण के लिए उपयोग न कर युद्ध और विनाश के लिए किया जाता है तो यह खतरनाक हो सकता है। आज विज्ञान का लाभदायक कार्यो के साथ-साथ परस्पर विनाश के शस्त्रास्त्र बनाने में भी उपयोग किया जा रहा है। यहाँ तक कि सामाजिक विज्ञानों का भी जो अभी हाल में विकसित हुये है, जनता के विचारो और व्यवहार का मनोवैज्ञानिक तरीके से दुरुपयोग किया जा रहा है। यह सब इसीलिये हो रहा है क्योंकि जनता की किसी प्रकार के सामाजिक और नैतिक मूल्यों में आस्था नही और न उसका कोई मूल्यांकन-दण्ड ही रह गया है। अधिकार-लिप्सा ने हमारी विवेक शक्ति पर पर्दा डाल दिया है, हम साधनो की शुद्धता का विचार नही करते और स्वार्थ-सिद्धि के लिये किसी भी तरीके को अपना सकते हैं, चाहे वह कितना भी निम्न और अयोग्य क्यो न हो। मारा जनसमूह ही अनैतिक हो रहा है क्योंकि धर्म का प्रभुत्व तेजी से क्षीण हो रहा है और पुरानी परम्पराएँ और विश्वास किसी नवीन की सुदृढ़ स्थापना से पहले ही धाराशायी हो गये है। जीवन के प्रति यह नकारात्मक दृष्टिकोण निश्चित रूप से हानिकारक है और विश्व को एक भारी विपत्ति का सामना करना पड़ेगा, अगर समय रहते इसमें संशोधन नहीं हुआ और उन सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को प्रधानता नहीं मिली जिनसे ही विश्व की रक्षा हो सकती है। विज्ञानवेत्ता और राजनीतिज्ञ को समाज के प्रति अपने दायित्व को अवश्य समझना चाहिए और उन नैतिक मूल्यों के प्रकाश में कार्य करना चाहिये जिनसे ही समाज-व्यवस्था चल सकती है। ऐसे अनेक सामाजिक मूल्य हैं जिनका स्थायी महत्व है और मानव-इतिहास मे उनकी यथार्थता और उपयोगिता बारम्बार सिद्ध हो चुकी है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी मूल्य होते हैं जो जनता की नयी आकांक्षाओं और आवश्यकताओ से समय-समय पर उद्भूत होते हैं। वे युग-धर्म होते हैं। राष्ट्रीय प्रगति की दृष्टि से उनका भी समान महत्व है। एक परम्परापूजक व्यक्ति की इन नवीन मूल्यो में पूर्ण आस्था

नही हो सकती है क्योंकि उसकी बिचार पद्धति जड़ हो गई है और वह वर्तमान की अपेक्षा भूत में ही अधिक रहने की कोशिश करता है। परिवर्तित परिस्थितियो के साथ तभी सामजजस्य स्थापित हो सकता है जबकि हमारा दृष्टिकोण गतिशील हो और हमारे अन्तर्गत अपने चारो ओर होने वाले परिवर्तनों की सूक्ष्म अनुभूति और चेतना होनी चाहिये। कोई भी राष्ट्र, विशेषकर हमारा देश जिसकी दीर्घकालिक परम्परा रही है, सर्वथा नये आधार पर आगे नही बढ़ता है। भूत की उपेक्षा नही की जा सकती है, और इसलिये हमारे लिये एकमात्र बुद्धिमत्ता पूर्ण मार्ग यही है कि हम भूत की विवेकपूर्वक परीक्षा करें और आधुनिक अनुभवो के प्रकाश मे उसका उचित मूल्यांकन करे। अगर हम ऐसा नही करते है तो इसके पतनोन्मुख तत्वो का भी हमारे आचरण पर अज्ञात रुप से प्रभाव पडेगा और वे हमारे कार्य के प्रेरक बन जायेंगे। हमारे लिये उच्च कोटि की वास्तविकता और युक्तिपूर्ण विचार की आवश्यकता है। भूत के सम्बन्ध में एक सन्तुलित और आवेगरहित दृष्टि होनी चाहिये और इसमे उन सबका योगदान होना चाहिये जो आधुनिक ज्ञान हमें राष्ट्रीय प्रगति के लिये दे सकता है। हमे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अब हम बिल्कुल पृथक भी नहीं रह सकते है। हमारा जीवन दूसरे राष्ट्रों के जीवन के साथ अनेक प्रकार से बधा हुआ है और हम पारस्परिक सहयोग से ही अपनी समस्याएं हल कर सकते हैं। आधुनिक बिज्ञान ने सम्पूर्ण विश्व में एकता ला दिया है, और अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय मानस का विकास नहीं करते है, तथा विश्वव्यापी दृष्टि से अपनी समस्याओ को देखने का अभ्यास नही करते है तो अन्य राष्ट्रो के साथ हमारा बार-बार सघर्ष होता रहेगा।

जहां तक स्वदेश का सम्बन्ध है, हमारे सामने बहुत बडा काम है। देश मे अनेक समस्याए है और जो कठिनाइयो से भरी हुई हैं। जनता अज्ञानता और गरीबी के गर्त मे पडी हुई है। यद्यपि भारत एक कृषि प्रधान देश है, किन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या के हिसाब से खाद्य-उत्पादन बहुत कम है। हम जनता की आधारभूत आवश्यकतायें भी पूरी करने मे असमर्थ हैं। मृत्यु-सख्या बेहिसाब है। जनता घोर गन्दगी मे रहती है और जीवन की औसत आयु 26 वर्ष है। जनता या तो उदासीन है अथवा उद्विग्न मुद्रा मे। उसमें अनुशासन नही है और वे सहकारिता का महत्व नही समझते हैं। हमारा सम्पूर्ण सामाजिक

ढाँचा जाति-भेद पर आधृत है हम जनतांत्रिक जीवन-विधि से बिल्कुल अभ्यस्त नहीं हैं। वर्तमान आर्थिक और सामाजिक भेदभाव से सबको आत्मोन्नति के लिये समान अवसर नहीं मिलता है। जनतान्त्रिक भावना कमजोर है और जनतांत्रिक परम्परा का बिल्कुल अभाव रहा है। समाज में ऐसी गतिशीलता बहुत कम है। जिससे उन लोगों को जीवन में उत्थान की समुचित आशा हो सके जो पददलित हैं। लोग अपने आपस के मैत्री व्यवहार में जाति, ध्येय और प्रान्त के भेदभाव से ग्रसित हैं। अगर शिक्षा को कुशलता पूर्वक अपना कार्य सम्पन्न करना है तो इसे नये आधार पर एक नये समाज का निर्माण करने तथा अन्य राष्ट्रों के साथ प्रेम और सद्भाव के साथ रहने में सहायक सिद्ध होना चाहिये। केवल कुशल व्यक्ति तैयार करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम भले नागरिक उत्पन्न करें जिनमें सुदृढ़ नागरिक भाव और उच्च सामाजिक आदर्श हों, जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति और बुद्धि में विश्वास रखते हों और जो जनतांत्रिक जीवन-विधि में दृढ आस्था रखते हों। वर्तमान समस्याओं के गम्भीर अध्ययन और समाज की नवीन प्रवृत्तियों को समझने की जागरूकता के बिना कोरा पाण्डित्य ज्ञान निरर्थक ही नहीं, बदतर भी है।

इसलिये हमारी शिक्षा-पद्धति मे पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता है और इसका ध्येय पुनर्निर्धारित करना पड़ेगा। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि किसी शिक्षा-पद्धति की सफलता अन्ततोगत्वा अध्यापक पर निर्भर करती है। विदेशी शासन के अन्तर्गत उसे नाममात्र की सैद्धान्तिक (Academic) स्वतंत्रता थी और वह समाज से पृथक था। विद्यालय और सामाज के बीच इस पृथक्करण के कारण ही शिक्षा मे लोगो की दिलचस्पी कम होती गयी। एक अध्यापक को पहले समाज में अपनी उपयोगिता सिद्ध करनी पड़ेगी तब वह समाज में मान्यता प्राप्त कर सकता है। उसका कार्यक्षेत्र केवल विद्यालय में ही सीमित नही रहना चाहिये, बल्कि राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में इसका प्रसार होना चाहिये। उदाहरणार्थ, उसे कोर्स के अतिरिक्त कार्यों मे लगना चाहिये और सामान्य जन को शिक्षित करने का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिये। वह विद्या और चरित्र वाला व्यक्ति होना चाहिये और उसे व्यापक मानव-सहानुभूति होनी चाहिये। विचार और आचार में भेद नहीं होना चाहिये।

उसे विद्यार्थी के व्यक्तित्व का समादर करना चाहिए, उसके अन्तरतम में प्रवेश करने की कोशिश करनी चाहिए तथा उसकी आवश्यकताएँ और कठिनाइयाँ समझनी चाहिए। विद्यार्थियो के मानस का निर्माण करना, उनके चरित्र का विकास करना तथा उनमे जनतान्त्रिक भाव भरना अध्यापक का कर्तव्य है। उनमे स्वतंत्रतापूर्वक विचार-विनिमय होना चाहिए और अध्यापक को विद्यार्थियों पर अपने विचार लादने की कोशिश नही करनी चाहिए, बल्कि विचाराधीन प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोण उनके सामने रखना चाहिए। ऊपर से अनुशासन नहीं लादना चाहिए; जहाँ तक सभव हो, आत्म-संयम की शक्ति को जो मानव-प्रकृति में सन्निहित होती है और जिसमें आत्मानुशासन होता है, प्रोत्साहित करना चाहिए। अध्यापक विद्यार्थियों के लिये आदर्श होना चाहिए जिससे वे सम्भवत: अनुकरण करने की कोशिश करें। विद्यार्थियो का जीवन निर्माण करने मे अध्यापकों का बहुत बड़ा हाथ रहता है और हममे से जिन लोगो को वास्तव मे अच्छे अध्यापको के चरण के पास बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे अब भी उनको कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं। जो अध्यापक केवल ज्ञान-वाहन करता है, किन्तु विद्यार्थियों के विचार और चरित्र का निर्माण नही करता है, वह एक योग्य अध्यापक नही है। सच्चा अध्यापक अपने विद्यार्थियो के सम्मान और प्रेम का भाजन होता है, और उसके लिए अनुशासन पालन कराना अत्यन्त सुलभ होता है। यह कहना गलत है कि इस पीढ़ी के विद्यार्थी ऐसे नही रहे। किन्तु यह खेदजनक बात है कि वर्तमान सामूहिक उत्पादन-क्रम मे अनेक अध्यापकों का भी वह स्तर नहीं रह गया है। राजनीतिज्ञ और अध्यापक, दोनो दुर्भाग्यवश युग के अनुरूप नही बन सके हैं। उनमे अपने कर्तव्य और दायित्व की भावना का दुखद अभाव दिखाई देता है। यह भी सत्य है कि अध्यापक के लिए समाज को अपना सर्वोत्तम अर्पित करने के लिए कोई प्रोत्साहन नही है। अनेक व्यक्ति इस पेशे के लिये अनुपयुक्त हैं, आम तौर से अध्यापकों को प्रेरणा रहित और हतोत्साही परिस्थिति मे काम करना पड़ता है, जबकि कुछ प्रतिशत लोग जो अपने पेशे के प्रति ईमानदार हैं और अपनी कठिनाइयो की कुछ परवाह नही करते हैं, वे आत्मसमर्पण का जीवन व्यतीत करते हैं। आम तौर से एक अध्यापक जीवन की सभी सुविधाओं से वंचित रहता है। उसमें सुरक्षा का भाव नही रहता है, उसका वेतन अपर्याप्त होता है; उसे अपने कार्यों का उचित प्रतिफल नही मिलता है और उसे साधारणत:

समाज मे सम्मानजनक स्थान नहीं मिलता है। काम की दशा भी हमेशा सन्तोषप्र नही होती है। उसकी सस्था मे कोई सुसज्जित पुस्तकालय नहीं होता है, और साधन तथा आवास की कमी होती है। क्लास बडा होने के कारण उसे अपने सब विद्यार्थियों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना भी कठिन होता है। काम के घण्टे इतने लम्बे हो सकते हैं कि उसे अध्ययन और अनुशासन के लिए सुविधा और आवश्यक अवकाश ही न मिले। अगर औसत श्रेणी के अध्यापक को अपना कार्य भली-भाँति सम्पादित करना है और जीवन मे अपने पेशे के प्रति ईमानदार होना है तो इन सबका उपचार आवश्यक है।

मैंने ऊपर कहा है कि अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थियो के जीवन मे जीवन के उच्च सामाजिक आदर्शो को प्रतिष्ठित करें। एक अध्यापक तभी उपयोगी हो सकता है जबकि उसके अन्तर्गत बौद्धिक ईमानदारी हो और यह तभी सम्भव है जबकि उसे वैचारिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो। यह स्वतन्त्रता ही अध्यापक की अमूल्य निधि होती है और किसी भी दशा मे इसका परित्याग नही हो सकता है। उसे सभी विषयों पर सैद्धांतिक तरीके मे अपने विचार व्यक्त करने की अबाध स्वतन्त्रता होनी चाहिए। एक सच्चा अध्यापक अपने युग के विवादास्पद प्रश्नो के प्रति उदासीन नहीं रह सकता है। उदासीनता का भाव अथवा उससे भी बुरी बात, अधिकारियों के भय से अपने विचारों को छिपाने की इच्छा उसकी मर्यादा के विरुद्ध है। किन्तु यह स्मरण रहे कि चाहे उसका विचार कुछ भी हो, उसे एक प्रचारक अथवा मंचवक्ता बनने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

उसे किसी प्रश्न के सभी पहलुओ पर शान्त तरीके से विचार-विमर्श करना चाहिए और उसके अन्दर किसी प्रश्न के सभी पहलुओं को अपने विद्यार्थियो के समक्ष रखने का विवेक होना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि क्या अध्यापक को राजनीति में भाग लेना चाहिए या नही। विश्वविद्यालयो, सहायक स्कूलों तथा कालेजो के अध्यापक इस समय भी राजनीति मे भाग लेने के लिये स्वतन्त्र है, किन्तु सरकारी कर्मचारियो के सम्बन्ध मे यह बात सच नहीं है। कोई कारण नही कि उनको भी ऐसी स्वतन्त्रता नही दी जाय। मेरा यह विचार है कि 'सरकारी कर्मचारियो के आचरण सम्बन्धी नियम' इस

मामले में लागू नहीं होना चाहिए। इस संसार में कोई ऐसा कारण नहीं कि एक सरकारी स्कूल के अध्यापक और सहायता प्राप्त स्कूल के अध्यापक में इतना भेद हो। ऐसे नियम की क्या आवश्यकता है कि एक अध्यापक सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना प्रेस के लिए कुछ नही लिख सकता है।

किसी अध्यापक को अपने देश के सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने से नहीं रोकना चाहिए। मैं जानता हूं कि मैं यहां जिस सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहा हूं, उसमें खतरे भी सन्निहित हैं। कुछ अध्यापक इस सुविधा का दुरुपयोग करेंगे और सैद्धान्तिक विचार-विमर्श के मान्य स्तर की रक्षा नही कर सकते हैं। वे अपने विद्यार्थियों को सिद्धान्त विशेष की दीक्षा देने लगेंगे। किन्तु स्वतन्त्रता के दुरुपयोग की आशंका से उसका अपहरण नही होना चाहिये। उल्लंघन होने पर उसकी पुनरावृत्ति रोकने के लिए उचित कार्रवाई की जा सकती है। किन्तु ऐसे उल्लंघन के बहाने वैचारिक स्वतन्त्रता में ही कमी नहीं होनी चाहिए। और यह स्वतन्त्रता केवल विश्वविद्यालय के अध्यापकों को ही नही मिलनी चाहिए, बल्कि यह निम्नतम श्रेणी के अध्यापकों तक को भी प्राप्त होनी चाहिए।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अध्यापक और उसके प्रधान के बीच सम्बन्ध सदैव मैत्रीपूर्ण नहीं रहता है। यह अत्यावश्यक है कि उनके बीच सद्भाव रहे और अध्यापकों के सुझाव और आलोचना को बुरा नहीं मानना चाहिए, बल्कि विभागीय अध्यक्षों द्वारा उसका स्वागत करना चाहिए। संस्था के सामान्य हित की दृष्टि से उनमें सहकारिता की इच्छा होनी चाहिये, जिसके अभाव में कोई सच्चा सहयोग सम्भव नहीं है, केवल अधिकारियों का यन्त्रवत् आज्ञापालन होगा।

सहायता प्राप्त और प्राइवेट संस्थाओं मे अध्यापको की अवस्था और भी खराब है। उन्हे काम की सुरक्षा बहुत कम है और कभी-कभी तो जातीयता का विचार कर नियुक्तियाँ की जाती हैं। वेतन दर न्यूनतम होती है और काम की शर्तें असन्तोषजनक। यही कारण है कि उनके अध्यापक यह मांग करते हैं कि उनकी संस्थाएँ सरकार अपने हाथ में ले ले। और जब अध्यापक अपना संगठन बनाते हैं तो उन पर ट्रेड यूनियन बनाने का आरोप लगाया जाता है। वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक समाज से अध्यापकों के समक्ष अपने अधिकारों की रक्षा और

विस्तार के लिये सगठित होने के अतिरिक्त और कोई चारा नही है। किन्तु अपने अधिकारों की रक्षा तथा स्वार्थ-साधन के लिए सामूहिक मोलभाव के साथ शिक्षा में उन्नति करने के लिए एक सहकारी प्रयास भी होना चाहिए। ऐसे सगठनो को वेतन, कार्यविधि इत्यादि मामलों को देखना चाहिए और उनकी शिकायतों को हल करने का प्रभावकर साधन बनाना चाहिए। किन्तु उन्हें शिक्षा की समस्याओ पर भी विचार-विमर्श करना चाहिए और अध्यापन-वृत्ति को ऊंचा उठाने की कोशिश करनी चाहिए। उन्हे अध्यापको के आचरण के लिए एक मान-दण्ड तैयार करना चाहिए जिसका व्यवहार में पालन किया जाय। सगठन इस बात को ध्यान में रखे कि किसी अध्यापक के दुराचार से उस पेश की प्रतिष्ठा मे धक्का नही लगना चाहिये और सभी श्रेणी के अध्यापकों में भ्रातृत्व और एकता का भाव उत्पन्न हो। माँ-बाप और अध्यापकों मे सपर्क स्थापित कराने के लिये भी सगठन बनने चाहिए। बच्चे की उन्नति की दृष्टि से अभिभावकों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए और जब माँ-बाप और विद्यालय, दोनों बच्चे की भलाई मे समान रूप से योगदान करेंगे तभी विशेष प्रगति हो सकती है। सबसे मुख्य बात यह है कि अगर अध्यापक विभिन्न तरीको से अपने को समाज मे उपयोगी बनाते हैं और समाज मे अपने दायित्व के प्रति सचेत है तो वे अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करेंगे और समाज मे उनकी मर्यादा बढ़ेगी।

यह एक आम शिकायत है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा के स्तर का ह्रास हो रहा है, विद्यार्थियो मे अपने सामान्य सस्कृति की कोई पृष्ठभूमि नही है और उनका मानसिक विकास अत्यन्त हीन है। किन्तु विश्वविद्यालयो की शिक्षा पर पृथक रूप से नही सोचा जा सकता है। शिक्षा की विभिन्न अवस्थाओं में एकता होती है और उच्चतम अवस्था के स्तर में ह्रास हो रहा है तो इसका कारण यह है कि नीचे का स्तर जैसा होना चाहिये वैसा नहीं है। माध्यमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है और उच्चतर शिक्षा को पूर्ण लाभदायक बनाने के लिए इस कड़ी को सुदृढ़ बनाना पड़ेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि विश्वविद्यालयो की शिक्षा बिलकुल दोषरहित है। ज्ञान के क्षितिज का अपार विस्तार होने के कारण आधुनिक काल के किसी विद्यार्थी को

पुराने समय के अपने अग्रजों से अधिक जानकारी रखने की आवश्यकता है। समुचित मानसिक विकास के लिये उसे यह जानना आवश्यक है कि वर्तमान जीवन पर विज्ञान की छाप का समाज की दृष्टि से वस्तुत क्या महत्व है। उसे सामाजिक कल्याण के विज्ञान की महत्ता को समझने की कोशिश करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त उसे जनतान्त्रिक भावों तथा सामाजिक आदर्शों से ओतप्रोत होना चाहिए। इसलिये भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के साथ मानवता का योगदान श्रेयेस्कर कहा जाता है। इससे संकीर्ण विशेषीकरण के दोषो का परिहार करने में भी सहायता मिलेगी। एक व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित संस्कृति और सामान्य शिक्षा सभी विशेषीकृत शिक्षा की पृष्ठभूमि होनी चाहिये। उपर्युक्त पृष्ठभूमि के बिना किसी वृत्ति विशेष की योग्यता प्राप्त कर लेने से विद्यार्थी जीविकोपार्जन करने में तो समर्थ हो जायगा, किन्तु इससे उसकी जीवन की समुचित तैयारी पूरी नहीं हो सकेगी। एक मनुष्य को केवल रोटी से ही सन्तुष्ट नही हो जाना है, बल्कि उसे अपने समाज का भी उपकार करना है और एक स्वतन्त्रता और जनतान्त्रिक राज्य के नागरिक की हैसियत से अपने अधिकारों के उचित प्रयोग तथा कर्त्तव्यों का निर्वाह करना है। अगर माध्यमिक शिक्षा को सही तरीके से संगठित किया जाय तो सब त्रुटियां काफी हद तक दूर हो जायगी। किन्तु जब तक यह कार्य सम्पन्न नही होता है, विश्वविद्यालयों में सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम की व्यवस्था होनी चाहिये जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ कॉलेजो में हुआ है। विश्व-विद्यालय के प्रत्येक विद्यार्थी को, चाहे वह किसी विभाग का हो, अपने देश के विधान की रूपरेखा, भूतकालीन इतिहास तथा आधुनिक विश्व के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी रखनी चाहिये। उसे आधुनिक विचारधारा का भी कुछ ज्ञान होना चाहिये और अपने लिये एक सामाजिक दर्शन बनाने की कोशिश करनी चाहिये। उसे वैज्ञानिक विचार-पद्धति का अभ्यास करना चाहिए और उसकी विचार-प्रक्रिया तर्कपूर्ण होनी चाहिये। इसका तात्पर्य यह नही कि विश्वविद्या-लयो के पाठ्यक्रम मे परीक्षा की दृष्टि से इन विषयों का समावेश किया जाय यह वाछनीय भी नही है। अगर 'एक्सटेंशन लेक्चर' की व्यवस्था की जाय और शिक्षक और शिक्षार्थी मे निकट सम्पर्क स्थापित किया जाय तो नवयुवक विद्यार्थियो पर बिना अधिक भार डाले ही यह उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। 'ट्यूटोरियल' पद्धति को सुसंगठित कर देने से यह अधिक लाभदायक हो जायगा।

इसमें सन्देह नहीं कि यह खर्चीली व्यवस्था है, किन्तु अगर हम अपने विद्यार्थियों का सचमुच बौद्धिक विकास करना चाहते हैं तो इस अतिरिक्त व्यय की परवाह नहीं करनी चाहिये।

वर्तमान राष्ट्रीय संघर्ष के युग में जबकि लोगों को युद्ध की बराबर आशंका बनी रहती है, यह आवश्यक है कि हम लोग विश्व-शान्ति और अन्तरराष्ट्रीय सद्भाव की अभिवृद्धि में अनवरत प्रयत्न करते रहें। इस संघर्ष के कारणों का उन्मूलन करने में शिक्षा भी कुछ हद तक सहायक हो सकती है। दुर्भाग्यवश शिक्षा में प्रधान भावधारा अब भी अति राष्ट्रवादी है, और यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से विभिन्न राष्ट्रों में सद्भाव बढ़ाने के लिये एक अन्तरराष्ट्रीय संस्था स्थापित की गयी है और यह घोषित किया गया है कि "मनुष्यों" के मानस को व्यवस्थित करने के लिए संस्कृति का व्यापक प्रसार आवश्यक है" और तदनुसार मौलिक शिक्षा का एक विश्वव्यापी कार्यक्रम भी तैयार किया गया है, किन्तु यह प्रयास आंशिक रूप से भी सफल नहीं हो सकता है जब तक कि उसे शिक्षा के अन्दर तीव्र राष्ट्रवादी नीति में हस्तक्षेप करने का पर्याप्त अधिकार न दिया जाय। सबसे बड़ा अपराध इतिहास और भूगोल की शिक्षा में होता है। इसमें सामान्य प्रवृत्ति अपने देश को अति मूल्यवान करने की होती है। छोटे-मोटे भेदभाव को आत्यान्तिक रूप दे दिया जाता है और समता की काफी उपेक्षा की जाती है। हमारा राष्ट्रीय स्वाभिमान और दूसरे राष्ट्रों के प्रति अनभिज्ञता उनके बीच एकता स्थापित करने में बाधक होती है। किन्तु यह समझना गलत है कि केवल शैक्षणिक प्रयास से इन सब विरोधों का उन्मूलन हो जायगा। इन रोग का कारण अधिक गहरा है। इसके कारण न केवल मनोवैज्ञानिक हैं, बल्कि राजनैतिक और आर्थिक भी हैं। जब तक इन सब कारणों का उन्मूलन नहीं हो जाता है तब तक संघर्ष का निराकरण नहीं हो सकता है। शिक्षा इतना ही कर सकती है कि वह अन्य राष्ट्रों के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न करे, और यह बतावे कि सामाजिक व्यवहार को कुछ हद तक नियन्त्रित किया जा सकता है और अभिप्सित सामाजिक परिवर्तन न्यूनतम संघर्ष से ही सम्पन्न हो सकता है।

अब मैं दो-एक अन्य बातों का उल्लेख करना चाहता हूं जो आजकल विद्वत्परिषदों में अक्सर चर्चा का विषय बनी हुई हैं। इनमें एक शिक्षा के माध्यम से सम्बंध

रखता है। राष्ट्रभाषा का प्रश्न अन्तिम रुप से हल हो गया है। प्रायोगिक रुप से यह भी निश्चय हो गया है कि विश्वविद्यालय मे भी प्रादेशिक भाषा शिक्षा का माध्यम होनी चाहिये। मेरे विचार से इस प्रश्न पर पुर्नविचार की आवश्यकता है। मेरा मत है कि विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा होनी चाहिये। 1949 मे शिक्षा विभाग की ओर से उपकुलपतियो का जो सम्मेलन बुलाया गया था, उसमें मैंने यह विचार व्यक्त किया था, किन्तु उस समय इसे पर्याप्त समर्थन नही प्राप्त हो सका। प्रादेशिक भाषा के पक्ष मे निर्णय से शिक्षा में सकीर्णता को निश्चित रुप से प्रोत्ससाहन मिलेगा। अन्तर-विश्वविद्यालय बोर्ड समान शिक्षास्तर की आवश्यकता पर जोर दे रहा है ताकि एक विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों का आवागमन सुगम हो सके। किन्तु अगर विश्वविद्यालयों में प्रादेशिक भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया तो आवागमन बिल्कुल असम्भव हो जायेगा। अध्यापकों की नियुक्ति भी प्रादेशिक आधार पर करनी पड़ेगी और चुनाव का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जायेगा। इस कार्य-प्रणाली से शिक्षा-स्तर में ह्रास तथा प्रान्तीयता में अभिवृद्धि होना आवश्यन्भावी है। अब 'युनस्को' में बडे पैमाने पर विद्यार्थियों के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन पर विचार हो रहा है और शिक्षा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने की योजना बन रही है, हम अभी तक प्रदेश के आधार पर ही सोचने में लगे हुये हैं, राष्ट्र को भी अपना आधार नहीं बना सके हैं। जब तक हम विभिन्न प्रदेशो के सांस्कृतिक सम्बन्ध को सुदृढ नहीं बनाते हैं और बड़ी संख्या मे ऐसे लोगों को तैयार नही करते जो एक सामान्य भाषा में अपने सर्वोत्कृष्ट विचारों को व्यक्त कर सकें तब तक जो एक सामान्य भाषा में राष्ट्रीय एकता स्थापित नही हो सकती है। अगर हम प्रत्येक विश्वविद्यालय में आधुनिक भारतीय भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था कर दें और विश्वविद्यालयों में राष्ट्रभाषा को शिक्षा का माध्यम बना दें तो यह उद्देश्य सफल हो सकता है। यह क्रम धीमी गति से होगा और ऐसी नीति का अनुसरण करना भी आवश्यक है, किन्तु अगर हम अभी निश्चय नही कर लेते हैं तो विश्वविद्यालयों में शिक्षा का एक सामान्य माध्यम कभी नही हो सकेगा। मैं आप लोगो को आश्वासन देना चाहता हूं कि मैं हिन्दी के प्रति पक्षपात पूर्ण दृष्टि से प्रेरित होकर यह प्रस्ताव नहीं रख रहा हूं अगर किसी अन्य

भारतीय भाषा को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया जाय तो मैं तुरन्त उसे मनवा लूंगा। मेरी एक मात्र आकांक्षा राष्ट्रीय एकता का निर्माण है। इसी कारण से मैं इस विचार का प्रतिपादन करता हूं कि दक्षिण भारत की किसी एक भाषा का अध्ययन उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में अनिवार्य कर दिया जाय। मेरा यह भी विचार है कि सभी भारतीय भाषाओं की एक सामान्य लिपि होनी चाहिये, किन्तु मैं किसी विशेष लिपि का पक्षपाती नहीं हूं। अगर ऐसा सुधार किया जाय तो हम मे से प्रत्येक के लिये कुछ अन्य भारतीय भाषाओं को अधिक सुविधापूर्वक और अपेक्षाकृत स्वल्प काल मे ही सीख लेना आसान है। मैं जानता हू कि लोग इस समय मेरे सुझाव का समर्थन नही कर रहे हैं, किन्तु मुझे तनिक भी सन्देह नही कि कालक्रम मे व्यवहारिकता और राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की सुदृढ़ इच्छा के फलस्वरुप हम लोग उन्हें अपनाने के लिये बाध्य होगे।

राष्ट्रीय शिक्षा की योजना में सास्कृतिक अध्ययन के महत्व के प्रश्न पर भी मैं आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि इसे यथोचित स्थान नही प्राप्त हो सकता है। अगर विदेशो में हमें सम्मान प्राप्त होता है तो इसका कारण हमारी पुरानी विरासत है और टैगोर और गांधी जैसे महापुरुष हैं, किन्तु स्वतंत्र भारत मे सस्कृत के अध्ययन में ह्रास हुआ है और इस प्रवृत्ति को रोकने की कोई कोशिश नहीं की गयी है। आल इण्डिया ओरिएण्टल काग्रेस ने भारतीय विद्या मे उच्च अध्ययन और अनुसन्धान को प्रोत्साहित करने के लिये एक सेन्ट्रल रिसर्च इंस्टीटयूट स्थापित करने की माग की थी, किन्तु सरकार ने आर्थिक कठिनाई के बहाने उसे स्वीकार नही किया। हम अपनी प्राचीन सस्कृति के प्रति मौखिक सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं और इसका व्यवसाय भी करते हैं, किन्तु जब कुछ करने की बात होती है तो अर्थाभाव के बहाने इसकी सुरक्षा के लिये कुछ भी करने मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। यह मिथ्या मितव्ययिता है। सस्कृत भारतीय विचार-धारा और सस्कृति का उद्गम स्थान है और अगर हम अपनी सस्कृति का प्रसार करना चाहते हैं तो हमें संस्कृत, पाली और प्राकृत के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित करना चाहिये। हमें प्राचीन हस्तलेखों तथा ऐतिहासिक खोजो को भी प्राप्त करने और सुरक्षित रखने की समुचित व्यवस्था करनी चाहिये। यह लज्जास्पद बात है कि अब भी भारतीय विद्यार्थी संस्कृत

का उच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिये विदेश जाते हैं। आधुनिक अनुसन्धान-पद्धति सिखाने के लिये हम कुछ विदेशी भारतीय विद्याविशारदों को सहायता के लिये आमन्त्रित कर सकते हैं। वे उन क्षेत्रों में कुछ नवयुवकों को सुशिक्षित भी कर सकते हैं जिनमे हम हीन हैं, किन्तु धीरे-धीरे हिन्दुस्तान को विश्व में संस्कृत विद्या का मुख्य केन्द्र बनाना चाहिये और विदेशों मे विद्यार्थियों तथा विद्वानो को आकृष्ट करना चाहिये।

मैंने शिक्षा से सम्बन्धित कुछ मौलिक और महत्वपूर्ण प्रश्नो की संक्षेप मे चर्चा की है। अगर शिक्षा का ध्येय उचित रीति से निर्धारित कर दिया जाय और शिक्षा के गत्यात्मक पक्ष को स्वीकार कर लिया जाय तो अध्ययन की एक समन्वित योजना तैयार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्य महान है, क्षेत्र वृहद हैं, पर कार्यकर्त्ता स्वल्प है। हमारी मानव-शक्ति परिमित हैं और भौतिक साधन अत्यन्त अपर्याप्त है, किन्तु राष्ट्रीय जीवन मे शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण जनता की आधारभूत भौतिक आवश्यकताओं को छोड़कर अन्य सभी विषयो मे इसे प्रथम स्थान मिलना चाहिये। इसमें ऐसे कुछ ही व्यक्ति हैं जिनमें शिक्षा को नयी दिशा प्रदान करने के लिये आवश्यक दृष्टि तथा गम्भीर बुद्धि है। ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं जिन्हें इस कार्य में सजीव आस्था है, किन्तु ऐसे व्यक्तियों की सख्या चाहे कितनी कम क्यों न हो, उन्हें शिक्षा में नये आन्दोलन का सूत्रपात करने के लिये एक संगठन अवश्य बनाना चाहिये। हिन्दुस्तान इस दलदल से तभी पार पा सकता है जब यहां के राजनीतिज्ञ और अध्यापक अपने दायित्व के प्रति सचेत हों। एक राजनीतिज्ञ को यह समझना चाहिये कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले भाषण देने का जो महत्व था वह अब नहीं रह गया है। आज उसमे पर्याप्त मात्रा में बुद्धिमत्ता, साहस और रचनात्मक विचार का होना आवश्यक है। एक अध्यापक को यह समझना होगा कि नवयुवको को भावी जीवन के लिये तैयार करना तथा उसके अन्दर जनता की सेवा के किये कुशलता उत्पन्न करना अध्यापक का पुनीत कर्तव्य है।

जिन परिस्थितियो में हम लोगों को कार्य करना है, वे हतोत्साही हैं। सम्भव है कि अधिकार-लिप्सा के कारण राजनीतिज्ञ स्थिति की वास्तविकता का अनुभव न करे। उसे बुद्धि की आवाज भी नहीं सुनायी दे सकती है, किन्तु अध्यापक

अभी काफी हद तक अधिकार-लिप्सा के रोग से मुक्त हैं, उनसे ऐसी स्थिति में आगे बढ़ने की आशा की जा सकती है। हमे हाथ पर हाथ रख कर बैठना नही चाहिये, इस विश्वास के साथ कि अनन्तोगत्वा कुछ भला ही होगा। घटना-प्रवाह, गलत दिशा में उन्मुख है और अगर हम लोग दृढतापूर्वक इस पतन की प्रक्रिया को नही रोकते हैं तो हम महासंकट मे फँस जायेगे समता, सामाजिक न्याय और सहयोग पर आधृत एक जनतान्त्रिक समाज के निर्माण करने के लिये हमें एक नये प्रकार के मनुष्यो की आवश्यकता है। यद्यपि केवल चन्द व्यक्तियो को ही यह नूतन दृष्टि प्राप्त हो सकी है, तो भी शिक्षा के इस नये दृष्टिकोण का सामाजिक महत्व है, यह प्रसार और शक्ति-संचय अवश्यम्भावी है और इस प्रकार कालक्रम मे यह सर्वमान्य हो जायेगा। फिलहाल यह छोटा सा संगठन वह मंथन-कार्य करेगा जिससे प्रकाश प्रकाशित होगा।

☐

भारतीय राष्ट्रीयता का सवाल

आचार्य नरेन्द्र देव

एक साथी जो स्वयं जनतंत्रिक समाजवाद में विश्वास करते हैं, उनको कदाचित् यह भी भ्रम है कि समाजवादी व्यवस्था चुनाव द्वारा स्थापित होनी चाहिये। वह स्वयं जनतंत्रिक समाजवाद को वैधानिक समाजवाद (यह उन्ही के शब्द हैं) से भिन्न मानते हैं और इसीलिए उनका उस पर विश्वास है। वह अन्तिम संघर्ष का चित्र भी चाहते हैं।

मद्रास के अधिवेशन में जनतान्त्रिक समाजवाद के बारे में कुछ लोगों ने अपना मतभेद प्रकट किया है। कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो जनतान्त्रिक समाजवाद मे विश्वास नही रखते; कुछ ऐसे भी है जिनको इस सम्बन्ध में कुछ सन्देह है और जो कुछ निश्चय नही कर पाते। अरुणा जी के वक्तव्य से मालूम होता है कि वे अभी किसी निश्चय पर नहीं पहुंची है और वे इस विषय का अध्ययन कर रही है।

जो प्रश्न मुझसे पूछे गये हैं उनका तो मैं उत्तर दूंगा ही किन्तु मुझे इसकी भी आवश्यकता प्रतीत होती है कि मैं जनतांत्रिक समाजवाद और भारत में जनतन्त्र के विचार साथियो के सम्मुख रखू।

टोटैलिटेरियन कम्युनिज्म के विपक्ष में 'जनतांन्त्रिक समाजवाद' शब्द का व्यवहार किया गया है। इसका योरप की स्पेशल डेमोक्रेसी से कोई सम्बन्ध नही है। 'टोटैलिटेरियन कम्युनिज्म' जनतन्त्र का निषेध है। वहा कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त कोई दूसरी राजनीतिक पार्टी नही रहने पाती, गवर्नमेंट का कोई विरोध नही कर सकता। मजदूरों की सस्थाएं स्वतत्र नहीं हैं। उनको हड़ताल करने का अधिकार नही है। यदि कोई मजदूर अनुशासन भग करता है तो कानून के अनुसार उसको दण्ड दिया जाता है। वहा व्यक्ति स्वातत्र्य नही है और राज्य का नागरिकों के जीवन पर अक्षुण नियत्रण और अधिकार है।

मार्क्सवाद का यह कभी लक्ष्य नहीं रहा है। मार्क्सवाद का लक्ष्य आर्थिक की अपेक्षा सांस्कृतिक अधिक है। श्रमजीवियों की गरीबी पर मार्क्स का ध्यान अवश्य गया है किन्तु इससे भी अधिक उसने पूँजीवादी आर्थिक पद्धति के फलस्वरूप मानवता का जो ह्रास होता है उसका विचार किया है। **मार्क्स की विचार-सारिणी का मुख्य विषय मानव है।** धार्मिक संस्थाओं तथा समान्तशाही और पूँजीवादी पद्धति के कारण मानव अपने स्वरूप को खो बैठता है। उसका स्वरूप विकृत हो जाता है और वह अपूर्ण रह जाता है। समाज में किसी न किसी **वर्ग की प्रधानता रहती है।** वह समाज के आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर अधिकार प्राप्त करता है। वह आर्थिक संस्थाओं का संचालन अपने वर्ग के लाभ के लिए करता है और बहुजनसमाज का हर प्रकार से शोषण होता है। राज्य-वर्ग विशेष के हितों की रक्षा के लिए होता है। यह रक्षा फौज और पुलिस द्वारा होती है। इसीलिए **राज्य हिंसा पर आश्रित होता है।** जब समाज वर्गों मे बंटा होता है तो विभिन्न वर्गों में शांति बनाये रखने के लिए भी 'राज्य' ऐसी किसी संस्था की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से 'राज्य' सब वर्गों के ऊपर भी होता है। इस शान्ति से उस प्रधान वर्ग का जो राज्य का अधिकारी है, हित साधित होता है। किन्तु इस कार्य को संपन्न करने के लिए 'राज्य' को ऐसा स्वरूप बनाए रखना होता है जिसमें सब यह समझें कि राज्य सब वर्गों को समान दृष्टि से देखता है और किसी वर्ग विशेष का नहीं है। जितनी मात्रा में यह विश्वास सर्वसाधारण मे घर कर जाता है उतनी ही मात्रा में 'राज्य' का काम सुलभ हो जाता है। इस कार्य में **धर्म और कानून सबकी सहायता** की जाती है।

मार्क्स ने देखा कि जब तक समाज वर्गों मे बटा है, तब तक किसी न किसी वर्ग की प्रधानता रहेगी और एक छोटा-सा वर्ग श्रमजीवियों के बड़े समुदाय का शोषण करता रहेगा। यह शोषण आर्थिक और सांस्कृतिक दोनो प्रकार का है। परिणाम यह होता है कि पूंजीवादी समाज में भी केवल थोड़े से व्यक्तियों को ही पूर्ण विकास के लिए अवसर मिलते हैं तथा करोड़ों सामान्य व्यक्ति पशु का जीवन व्यतीत करते हैं। वह उन साधनों से वंचित हैं जिनके उपलब्ध होने पर ही व्यक्तित्व का विकास हो जाता है। **पूंजीवादी समाज का राजनीतिक जनतंत्र केवल वोट देने की स्वतंत्रता देता है, समाज का आर्थिक शोषण नहीं**

बन्द करता। जनसाधारण की शिक्षा भी केवल इसलिये होती है कि वह अपने वोट का उचित उपयोग कर सके।

अतः मार्क्स ने वर्गहीन समाज की स्थापना का उद्देश्य अपने सामने रखा। इस समाज में उत्पादन के सब साधनों पर समाज की मिलकियत होगी, श्रम के उपकरण सकल समाज के होंगे और उत्पादन का संगठन इस आधार पर होगा कि उत्पादन स्वच्छदता के साथ समानता के आधार पर एक दूसरे के सहयोग से होगा। ऐसे समाज में शोषण और उसके कारण होने वाले संघर्ष बन्द हो जावेंगे तथा आज की घोर विषमताएं विलुप्त हो जावेंगी। मानव स्वभाव धीरे-धीरे बदलने लगेगा और बिना नियन्त्रण या बल-प्रयोग के लोग सामाजिक जीवन के सामान्य नियमों का पालन करने के अभ्यस्त हो जावेंगे। ऐसी अवस्था में 'राज्य' के वे अंग जिनका उद्देश्य नियन्त्रण करना या दण्ड देना है, अनावश्यक हो जावेंगे। जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जायगी तब राज्य मुरझा कर, विलुप्त हो जावेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई अधिकारी न रह जावेगा अथवा प्रबन्धक और व्यवस्थापक अनावश्यक हो जावेंगे। अनार्किस्टों को उत्तर देते हुए एंगेल्स कहते हैं कि यह कहना मूर्खता होगी कि किसी का दूसरों पर अधिकार हुए बिना ही समाज का सञ्चालन हो सकता है। राज्य के क्रमश: विलोप का यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यवस्था अथवा अधिकारी संस्था का भी लोप हो जावेगा। इनके बिना तो किसी समाज का काम ही नहीं चल सकता। राज्य के विलोप का केवल इतना अर्थ है कि राज्य के वह चरित्र जो दूसरों का नियन्त्रण करते है अथवा उनको दण्ड देते हैं, विलुप्त हो जावेंगे। सेना और पुलिस की आवश्यकता नहीं रह जावेगी। यह अवस्था कब होगी यह कहा नहीं जा सकता।

एक बार यह प्रश्न लेनिन से किया गया था। उन्होंने भी यही उत्तर दिया था बल्कि यह कहा था कि इसमें बहुत समय लगेगा। यह स्पष्ट है कि जब तक संसार के एक बहुत बड़े हिस्से पर समाजवाद की स्थापना नहीं हो जाती और उसकी प्रधानता उसी प्रकार नहीं कायम हो जाती जिस प्रकार एक समय पूंजीवाद की हो गयी थी तब तक राज्य का विलोप नहीं हो सकता। कदाचित मार्क्स और एंगल्स ने भी अन्तर्राष्ट्रीय समाज की दृष्टि से ही ऐसी बातें कही थीं। रूसी क्रान्ति के समय से ही पूंजीवादी राष्ट्र उसको विफल करने की चेष्टा

में लगे रहे। आरम्भ में तो विरोधी वर्ग भी विदेशियो से मिलकर षडयंत्र रच रहे थे किन्तु आगे चलकर जब इन वर्गों का प्रभाव नष्ट हो गया और समाजवाद की स्थापना हो गयी तब भी पूंजीवाद राष्ट्र विरोध करते ही रहे। हिटलर से अपनी जान बचाने के लिये पश्चिमी योरप के राष्ट्र उसको सोवियत रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करते रहे। यह ठीक है कि आज रूस की शक्ति बहुत बढ गई है और योरप की कोई शक्ति उस पर आक्रमण करने का स्वप्न नही देखती है। किन्तु दूध का जला छाछ भी फूक-फूक कर पीता है। पुनः गत महायुद्ध के बाद अमरीका की शक्ति बहुत बढ़ गई है और वह, धीरे-धीरे साम्राज्यवादी भावनाओ को अपना रहा है। ऐसी अवस्था मे रूस बहुत सशंक है। सन्देह का वातावरण इतना फैल गया है कि रूस समझता है कि अमरीका उस पर आक्रमण करना चाहता है और अमरीका समझता है कि रूस उस पर आक्रमण करना चाहता है। ऐसी अवस्था में रूस अपनी फौज को कैसे तोड़ सकता है ?

मार्क्स के वर्गविहीन समाज की जो कल्पना है उससे स्पष्ट है कि वह पूर्ण जनतन्त्र का सबसे बड़ा पक्षपाती था। कम्युनिज्म की जो चरम अवस्था है वह मार्क्स के अनुसार आत्म-निग्रह-संपन्न है। उसका सांस्कृतिक स्तर इतना ऊंचा हो गया है कि जनसाधारण स्वतः बिना किसी बाहरी नियत्रण के या राज्यदण्ड के भय के सहयोग की भावना से प्रेरित हो समाज का संचालन करते हैं। जनतन्त्र का यह चरम विकास है। एक देश में यदि समाजवाद की स्थापना हो जाय अर्थात् यदि वहाँ का समाज वर्गविहीन हो जाय तो यद्यपि संसार की वर्तमान स्थिति में उस देश मे राज्य का लोप तो नही होगा तथापि वहाँ भाषण आदि की स्वतंत्रता तथा अन्य नागरिक स्वतन्त्रताएं सब को प्राप्त हो सकती है तथा जनता का राज्य स्थापित हो सकता है। जनतन्त्र को अलग रखकर समाजवाद की कल्पना ही नही हो सकती। सन् १९१४ में लेनिन ने कहा था कि जो व्यक्ति राजनीतिक स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के प्रश्नो को अपने लिए निरर्थक समझता है वह सोशलिस्ट नही है। प्रत्येक सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट पार्टी का यही उद्देश्य होना चाहिए। कम्युनिज्म की स्थापना तो बहुत दूर की बात है। एक देश के वश की बात तो यह है नहीं। पता नहीं कब संसार का एक बहुत बड़ा हिस्सा समाजवाद को स्वीकार करेगा। अतः अधिक से अधिक एक

देश समाजवाद की ही स्थापना कर सकता है अर्थात वर्गविहीन समाज की स्थापना कर जनतान्त्रिक राज्य कायम कर सकता है। इस उद्देश्य का स्पष्ट रूप से निर्देश करना आवश्यक हो गया है। **यदि सोवियत रूस में समाजवाद का पार्थक्य जनतन्त्र से न कर दिया गया होता तो इस स्पष्टीकरण की इतनी आवश्यकता न रहती। सन् १९३६ में रूस ने एक विधान स्वीकार किया था उसमें नागरिक स्वतन्त्रता का** उल्लेख है किन्तु आज उसका यथावत पालन नहीं हो रहा है। पार्टी की डिक्टेटरशिप आज भी है, यद्यपि यह स्वीकार किया गया है कि रूस मे वर्गहीन समाज की स्थापना हो गई है। डिक्टेटरशिप उद्देश्य तो विरोधी लोगों को दबाये रखना है। पर जब अन्य वर्गों का समाज हो गया है और अब कोई शोषक वर्ग नहीं रहा है तो डिक्टेटरशिप जारी रखने का कोई कारण नही है। इसी कारण **रूस में समाजवाद का रूप विकृत हो गया है** और उसका प्राण जनतन्त्र क्षीण सा हो गया है। रूस में सन् 1917 से **अधिनायकत्व** चल रहा है और यह भी नहीं मालूम कि इसका कब अन्त होगा। जिस उद्देश्य से अधिनायकत्व की आवश्यकता पड़ी थी उसकी पूर्ति बहुत दिन हुए हो गई। **मार्क्स ने अधिनायकत्व के सम्बन्ध में बहुत थोड़ा ही कहा है और जिस अधिनायकत्व की उस ने चर्चा की है उसको वह थोड़े ही काल की वस्तु समझता रहा।** उसने यह स्वप्न में भी न सोचा होगा कि अधि-नायकत्व की अवधि 30-40 वर्ष की हो सकती है। रूस में तो उसका उद्देश्य कब का पूरा हो गया, और यदि किसी देश मे इतने दिनों तक अधिनायकत्व रहने पर भी उद्देश्य सफल न हो तो यही कहना होग कि वह देश समाजवादी क्रांति के लिए तैयार न था और कुछ आकस्मिक घटनाओं के कारण ही एक अल्प समुदाय को बहु समुदाय पर हिंसा के सहारे शासन करने का अवसर मिल गया था और वह समुदाय आज भी सर्वसाधारण को अपने पक्ष में नहीं ला सका है। **लेनिन भी** 'अधिनायकत्व' को थोड़े ही दिन की बात समझता था। जिस अधिनायकत्व की कल्पना मार्क्स ने की थी वह समुदाय का अल्प समुदाय पर अधिनायकत्व था। विचार यह था कि शोषित वर्ग, जिसकी संख्या बहुत बड़ी है, अधिनायकत्व का साथ देगा। क्रान्ति तभी होती है जब शोषित वर्ग सजग होकर गवर्नमेंट को बदलने पर तुल जाता है और शासक वर्ग पुराने ढग से शासन करने में अपने को अधिकाधिक असमर्थ पाता है (लेनिन)। **जब तक यह** दोनों बातें साथ-साथ नही होती अर्थात **लेनिन के शब्दों में जब तक**

समस्त राष्ट्र में शोषक और शोषित के लिए संकट नहीं उपस्थित होता त
तक क्रान्ति की कोई सम्भावना नहीं होती। और जब यह दोनों बातें हैं औ
अधिनायकत्व की आवश्यकता भी होती है तो अधिनायकत्व विरोधियों के प्रभा
को नष्ट करने का काम बहुत जल्द कर सकता है। यदि किसी युद्ध के बीच मे
क्रान्ति होती है और बाहरी शक्तियां समाजवाद की स्थापना के काम मे अड़चन
डालती हैं तो कुछ अधिक समय लगता है। पर जब यह काम सिद्ध हो जाता
तो अधिनायकत्व को कायम रखने में कोई हेतु नहीं रह जाता। पुन जब सभी
उत्पादक हैं और कोई सामन्त, जमींदार या पूंजीपति नहीं है तो यह अधिनायकत्व
कौन और किस पर करता है और उद्देश्य क्या है? सोद्देश्य अधिनायकत्व का,
आवश्यकता पड़ने पर, सभी समझदार समर्थन करेंगे। किन्तु ऐसा अधिनायकत्व,
जिसका मूल उद्देश्य सफल हो चुका हो और जो विवेचन करने पर थोड़े से लोगो
का बहु संख्यक लोगों पर, जो समाजवादी श्रमजीवी हैं, निरंकुश शासन ठहरता
हो, समाजवाद के मूल्यों को नष्ट ही करेगा और मानव को मानव न बनाकर एक
दूसरी गुलामी में डाल देगा। आज मजदूर वर्ग का अधिनायकत्व कायम करना ही
पार्टियों का उद्देश्य हो गया है और समाजवाद का मूल उद्देश्य लोगों की आँखों से
ओझल हो गया है। गत महायुद्ध के पूर्व तक कम्युनिस्ट पार्टियां अपने प्रस्तावो
में सबसे आगे उच्च माध्यमवर्ग के शासन का अन्त और मजदूर वर्ग के अधि-
नायकत्व की स्थापना ही रखती थीं, लक्ष्य की ओर ध्यान नहीं दिलाया जाता
था। इसका बुरा परिणाम यह हुआ कि समाजवाद के नए मूल्यों की ओर
जनतन्त्र की उपेक्षा होने लगी और राजनीतिक दल-बन्दी की प्रधानता हो गई,
समाजवाद का रूप भी विकृत हो गया और अधिनायकत्व स्थायी सा हो गया।
यह विधि की विडम्बना है कि 'सतत क्रान्ति से गिरते-गिरते हम अधिनायकत्व
पर आकर रुक गये हैं। मालूम होता है अधिनायकत्व से छुटकारा तभी मिलेगा
जब ससार के बहुत बड़े हिस्से पर समाजवाद कायम हो जायगा और लोग उसका
जोरदार विरोध करने लगेंगे। यदि पूंजीवादी देशों में एक प्रकार का जनतन्त्र
चल सकता है तो रूस मे कम से कम इतना तो राजनीतिक जनतन्त्र होना ही
चाहिए। यदि समय से ऐसा हुआ होता तो फैसिज्म को पनपने का भी अवसर
न मिलता।

जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है उससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समाजवाद के

उद्देश्य को स्पष्ट रूप से घोषणा करने की क्यों आवश्यकता पड़ी। उसे 'कम्युनिज्म' कह नहीं सकते, केवल सोशलिज्म भी नहीं कह सकते क्योंकि रूस मे जो प्रचलित है उसे भी सोशलिज्म कहा जाता है। जनतन्त्र का विशेषण देने स ही उद्देश्य का स्पष्टीकरण होता है। यह जनतन्त्र पूर्ण जनतन्त्र है। **पूंजीवाद ने जिन मूल्यों की स्थापना की है और जो हमको भी ग्राह्य हैं उनकी रक्षा करते हुए उनमें नए मूल्यों को जोड़ना पड़ता है** जिनका जन्म समाजवाद के कारण होता है। इसका व्याख्यान पालिसी स्टेटमेट मे है, उसको यहां दोहराने की आवश्यकता नही है।

मेरी समझ मे अभी तक यही नही आया कि क्यो कुछ लोग डमोक्रैटिक सोशलिज्म पर आपत्ति करते हैं। किसी मार्क्सवादी को तो इस शब्द पर आपत्ति नही करना चाहिये। जनतन्त्र तो कोई चिढने की वस्तु नहीं है। उसके बिना तो समाजवाद हो ही नहीं सकता। क्या मार्क्स, क्या लेनिन सभी इसे मानते हैं। स्टालिन को भी प्रश्न पूछने पर यही उत्तर देना पड़ेगा। हिटलर के बाद तो कम्युनिस्ट अधिनायकत्व का नाम भी नहीं लेते। जिसे देखो वही 'जनतन्त्र' का दम भरता है। 'पीपुल्स डेमोक्रैसी' की चर्चा सर्वत्र है। पूर्वी यूरोप मे अधिनायकत्व नही है। वहां एक नए ढंग का जनतन्त्र है। चीन में भी ऐसा है और भारतीय कम्युनिस्ट, जो रूस की नकल करते-करते थक गये हैं और अब चीन की नकल करेंगे, इसका (जनता का जनतन्त्र) नारा यहां भी देने लग गये हैं। 'नेशनल लिबरेशन' शब्द भी चीन से लिया गया है। पर यह क्यो लिया गया है यह मेरी अल्प बुद्धि मे नही आया। इन नए नारो का रहस्य यह है कि पिछला युद्ध फैसिज्म के विरुद्ध जनतन्त्र के नाम पर लडा गया था और वह जनतन्त्र भी पूंजीवादी राष्ट्रों का था और इसी नारे के कारण युद्ध मे विजय भी प्राप्त हुई थी। सन् 1935 मे कोमिनटर्न की सातवीं कांग्रेस मास्को में हुई थी। इसका उद्देश्य युद्ध और फैसिज्म का विरोध करना था। उसमें सभी ऐसे दलों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने का निश्चय हुआ था जो जनतन्त्र मे विश्वास करते है और फैसिज्म के विरुद्ध हैं। उस समय पूंजीवादी राष्ट्रों के जनतन्त्र का महत्व स्पष्ट हो गया था। इनमे जो नागरिक स्वतन्त्रता अर्थात् भाषण और संगठन की स्वतन्त्रता प्राप्त उसी की सहायता से मजदूरवर्ग आगे बढ़ता है। उसके लिए इनकी बड़ी

कीमत है। पर सन् 1935 के पहले बरसों तक कम्युनिस्टो ने कपिटलिस्ट डेमोक्रेसी की इतनी निन्दा की थी कि पढ़े लिखे लोगों मे उसके लिए तिरस्कार की भावना उत्पन्न हो गई थी। इसने फैसिज्म की वृद्धि में भी सहायता पहुचायी और उदार दल के प्रभाव को अत्यन्त क्षीण कर दिया। किन्तु जब फैसिज्म का उदय हुआ तब उससे भयभीत होकर कम्युनिस्ट पार्टी को अपनी नीति को थोड़ा बदलना पड़ा। इसी कारण सन् 1936 में रूस को एक नया विधान स्वीकार करना पड़ा जिसमें नागरिकों को अधिकार दिये गये जो जनतांत्रिक देशों में नागरिकों को प्राप्त हैं। स्टालिन ने जनतांत्रिक विधान कह कर इसकी प्रशसा की, किन्तु उसके साथ यह स्वीकार करना पडा कि इस विधान से अधिनायकत्व को जो क्षति नही पहुंचती और कम्युनिस्ट पार्टी का वर्तमान अग्रस्थान भी सुरक्षित रहता है। गुप्त पुलिस वैसी की वैसी जारी रही और विधान की कई धाराएँ कागज पर ही रह गयीं। किन्तु यदि सन् 1936 मे यह घोषणा न की जाती कि रूसी नागरिकों को नागरिक अधिकार दिये गये हैं तो सयुक्त मोर्चे की नई नीति कैसे सफल होती और कोई लिबरल या अन्य प्रगतिशील दल कम्युनिस्टों के साथ युद्ध और फैसिज्म का विरोध करने के लिए क्यो संयुक्त मोर्चा बनाता ? जनतन्त्र के नाम पर यदि हिटलर के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा सफल हो सकता है तो जनतन्त्र में कोई नैसर्गिक गुण अवश्य होगा जिसके लिए बहुसख्यक लोग पुराना बैर भुलाकर कम्युनिस्टो के साथ कुछ समय के लिए काम कर सकते हैं। कम से जनतन्त्र की अपील जबर्दस्त है। कम्युनिस्ट इससे फायदा उठाना चाहते हैं, इसलिए अब उनके लेखों में सदा जनता के जनतन्त्र की चर्चा रहती है, डिक्टेटर-शिप की नही।

यह सच भी है कि समाजवाद जनता का जनतन्त्र है किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो डैमोक्रेसी शब्द को सुनते ही भडक उठते हैं। उनके सामने एकदम पालिया-मेण्टरी डैमोक्रेसी का चित्र आ जाता है और वह समझने लगते हैं कि इस सोशलिज्म का चुनाव से अवश्य कुछ सम्बन्ध होगा। चूंकि वह क्रांतिकारी है इसलिए चुनाव से उनको नफरत है। किन्तु यदि पार्टी चुनाव लड़ना तै करे तो वह यह कहकर आगे आ जावेंगे कि उससे जो हानि होने की सभावना है उससे क्रांतिकारी ही पार्टी को बचा सकती है। उनके मनमें तरह-तरह के सन्देह उठने लगते हैं; बाद्रे यह भी समझ बैठते हैं कि चुनाव द्वारा ही इस

प्रकार का समाजवाद स्थापित किया जायेगा। मंत्री जी ने अपनी रिपोर्ट और भाषण में सब बातों पर अच्छी तरह प्रकाश डाला है। नीति सम्बन्धी वक्तव्य मे भी काफी प्रकाश डाला गया है। तिस पर भी कुछ लोग इसे स्वीकार नहीं करते। यह बड़े आश्चर्य की बात है। किन उपायो से जनतांत्रिक समाजवाद की स्थापना होती है, यह जुदा प्रश्न है। आप का यह विचार हो सकता है कि इसके लिए सशस्त्र क्रान्ति की आवश्यकता होगी। किन्तु उद्देश्य में इससे अन्तर नही पड़ता। मैं निश्चित रूप से कहना चाहता हूं कि जो इस उद्देश्य को नहीं मानता वह मार्क्सवादी नहीं है, वह कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट नहीं है। अब प्रश्न यह है कि जनतांत्रिक समाज की स्थापना कैसे होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में 'पालिसी स्टेटमेन्ट' में दो प्रकार का व्याख्यान किया गया है। एक **को जनतांत्रिक प्रकार कहा गया है और दूसरे को सशस्त्र जनक्रान्ति का प्रकार। समाजवादी सदा समर्थ उपायों का अनुसरण करता है। जो उपाय जिस समय प्रभावशाली** होता है उसी से वह काम लेता है। किस उपाय का अनुसरण कब करना चाहिये यह देश और काल पर निर्भर करता है। यह समझना कि सशस्त्र जनक्रांति का उपाय सबसे अधिक प्रभावशाली होता है बड़ी भारी भूल है। इस उपाय से सदा काम नहीं लिया जा सकता। कोई भी भला आदमी व्यर्थ के लिए हिंसा करना थोड़े ही पसन्द करता है? रोजालुक्सेमबर्ग ने कहा है कि रक्त का एक भी विन्दु निरर्थक बहाना, क्रांतिकारी के लिए एक अशोभन कार्य है। किन्तु सशस्त्र जन-क्रान्ति की आवश्यकता पड़ेगी अथवा नही इसकी जिम्मेदारी गवर्नमेंट पर नहीं है। जब तक जनतंत्र की रक्षा होती है और नागरिक अधिकारों में हस्तक्षेप नही होता तब तक सशस्त्र क्रान्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। पुनः जब तक राष्ट्रीय संकट शासक और शोषितो के लिए उपस्थित नही होता तब तक क्रांति की सम्भावना उत्पन्न नहीं होती और तब तक सशस्त्र जनक्रांति के उपयुक्त वातावरण नही होता। आजकल राज्यों की फौजी शक्ति इतनी बढ़ गयी है और इतने नये-नये शास्त्रों का आविष्कार हो गया है कि सशस्त्र क्रांति की बात तभी उठायी जा सकती है जब गवर्नमेंट शासन-कार्य में अपने को असमर्थ पावे और सर्वसाधारण उसे बदलने के लिये प्राणपण से तैयार हो जावे। ऐसी स्थिति में गवर्नमेंट की नैतिक स्थिति बहुत कमजोर हो जाती है और देश में अराजकता बढ़ने लगती है। तभी सशस्त्र जनक्रांति की बात सोची जा सकती है। पार्टी संगठन के लिये तथा किसान

मजदूरो को वर्ग संस्थाओं मे संगठित करने के लिए दूसरे प्रकार की आवश्यकता पडती है। ऐसे प्रकार मे सदा काम लेना पड़ता है। इसे पालिसी स्टेटमेंट मे जनतान्त्रिक प्रकार कहा गया है। किन्तु वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इसमें पार्लियामेंट के अतिरिक्त अन्य उपायों का भी समावेश है और इन अन्य उपायों को गिनाया भी है। यह अन्य उपाय प्रचार, संगठन, हड़ताल, सत्याग्रह आदि हैं। अतः जनतान्त्रिक प्रकार को वैधानिक प्रकार कहना ठीक नहीं है। वैधानिक उपाय इस प्रकार का बहुत ही छोटा-सा अंश है और यह भी बेकार साबित होता है, यदि अन्य जनतान्त्रिक उपायों से काम न लिया जाय। अन्य जनतान्त्रिक उपाय ही मुख्य है। सामन्यतः इन्ही का आश्रय लेना पडता है। इनके बिना सशस्त्र जनक्रांति की भी भूमिका तैयार नहीं होती। किन्तु सशस्त्र जनक्रांति और विप्लववाद दो भिन्न वस्तुएँ हैं। लेनिन ने विप्लववाद को त्याज्य बताया है। यह सदा विफल होता है और उद्देश्य को क्षति पहुँचता है। मार्क्स ने यह भी कहा है कि स्थिति के परिपक्व हुए बिना असावधानी से क्रांति कर देना मूर्खता है।

मार्क्स ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि शान्तिमय उपायों से समाजवाद की स्थापना हो सकती है या नहीं। सन् १८७२ में मार्क्स ने यह स्वीकार किया था कि हालैंड और अमरीका में इसकी संभावना है किन्तु अन्यत्र नहीं है। मार्क्स की मृत्यु के तीन वर्ष पीछे एंगेल्स ने यह स्वीकार किया था कि इंग्लैंड मे शान्तिमय समाजवादी क्रांति संभव है। लेनिन ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है कि मार्क्स के समय में यह मत बिल्कुल ठीक था किन्तु सन् १९१७ में इसकी संभावना जाती रही है। स्टालिन ने बहुत पीछे एक अवसर पर कहा था—कुछ ऐसे पूंजीवादी देशों में शांतिमय परिवर्तन की संभावना है जो समाजवादी राष्ट्रों से घिरे हों। पूर्वी योरप के कुछ देशों में ऐसा ही हुआ है। बुलगेरिया के कम्युनिस्ट प्रधान मन्त्री डिमिट्रा और पोलैंड के गोमुल्का ने अपने भाषणो में इसका जिक्र किया था कि उनके देशों में समाजवाद की स्थापना शान्तिमय ढंग से होगी। साधारण रीति से मार्क्सवादियों का मत यही है कि शान्तिमय ढंग से समाजवाद की स्थापना होना कठिन है। जिस देश मे पार्लियामेंट की प्रथा है और समय-समय पर चुनाव होता है वहा भी यह कहना कठिन है कि यदि विरोधी दल को चुनाव में सफलता मिली तो शासक दल

उसे खामोशी से अधिकार सौंप देगा या नहीं। पहले तो वह हर तरह की धांधली करके उसको सफल होने नहीं देगा। जहा जनतंत्र बहुत कमजोर है वहाँ प्रायः ऐसा ही होगा। और यदि चुनाव में सफलता मिल गयी तो यह भी सभव है कि शासक वर्ग उसका दमन करे और अधिकारारुढ़ होने न दे। यह भी संभव है कि हार के डर से वह चुनाव को निरन्तर टालता रहे।

भारत में क्या होगा ? आज कहना कठिन है। काग्रेस को अभी इसका डर नहीं है कि चुनाव में उसकी इस प्रकार हार हो जायेगी कि उसे अधिकार हस्तान्तरित करना पडे। 6 वर्ष के बाद क्या होगा, कौन कह सकता है! इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यहां कभी काग्रेस की हार होगी। यहाँ लोकमत बहुत तेजी से बदलेगा। परन्तु ऐसा नही कि जीतने वाले पक्षको 55 प्रतिशत सीटें मिलें और कांग्रेस को 45 प्रतिशत।

जब कभी काग्रेस की हार होगी तब उसके पैर वैसे ही उखड़ेंगे जैसे उसके विरोधियों के उखड़े थे। यह क्रम बहुत धीरे-धीरे नहीं होगा, एकाएक होगा। यदि उन्होंने जनतंत्र का आदर किया तो ठीक है किंतु यदि उन्होंने चुनाव के निर्णय को स्वीकार नही किया या हारने के भय से चुनाव को अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया तो यह जनतंत्र का निषेध होगा और उस समय दूसरे मार्ग को अपनाने के लिये समाजवादी बाध्य हो जायेंगे। किन्तु इसका यह अर्थ नही होगा कि क्राति का आरम्भ तत्काल हो जायेगा। क्राति का समय कोई निश्चित नही कर सकता, क्राति अपना समय स्वयं निश्चित करती है। केवल इतना होगा कि तैयारी दूसरे ढंग की आरंभ हो जायेगी।

इसी सबध मे मार्क्स ने मजदूर वर्ग के अधिनायकत्व के प्रश्न पर भी विचार किया है। यह अधिनायकत्व पार्टी का नहीं है, मजदूर वर्ग का है। सन् 1905 मे बुर्जुवा डेमोक्रैटिक क्रांति का विचार करते हुये लेनिन ने 'डिमोक्रैटिक डिक्टेटरशिप आफ वरकर्स एण्ड पीजैण्ट्स' की बात सोची थी। कारण यह है कि यह अधिनाय-कत्व बहुसख्यक का अल्पसंख्यक पर होता है। किन्तु रूस मे मजदूरों की संख्या बहुत अल्प थी। इस कारण लेनिन ने मजदूरो के साथ किसानों को भी शामिल करना चाहा और यह दिखाने के लिये कि जहाँ तक शोषित वर्ग का सम्बन्ध है यह अधिनायकत्व जनतांत्रिक है, डेमोक्रैटिक शब्द

को भी जोड़ दिया। वास्तव में अधिनायकत्व विरोधी-वर्गों के दमन के लिये कायम किया जाता है और शोषितों का शासन जनतांत्रिक ढग से होता है। उद्योग व्यवसाय के समाजीकरण मात्र से उच्च मध्यम वर्ग की शक्ति तत्काल विनष्ट नही होती। उसके पीछे भी कुछ काल तक बनी रह सकती है। इसलिये अधिनायकत्व की आवश्यकता होती है। किन्तु इसकी आवश्यकता बहुत थोडे समय तक रहती है। यदि शासक-वर्ग ने चुनाव ईमानदारी से कराया और यदि उसकी हार हुई और उसने उसे स्वीकार कर लिया तथा विरोधी दल को शासनारुढ़ होने में बाधा नहीं पहुंचाई तो अधिनायकत्व की आवश्यकता न होगी। किन्तु कहाँ क्या होगा, कुछ कहा नही जा सकता। इसका निर्णय समय पर ही हो सकता है। इस सम्बन्ध मे अपना दिमाग खुला रखना चाहिये। किन्तु दो बाते स्पष्ट हैं। एक यह कि अधिनायकत्व शोषितो का हो, पार्टी का नही, और दूसरे यह कि ज्यों ही उद्देश्य पूरा हो जाय अधिनायकत्व का अन्त होना चाहिए। पालिसी स्टेटमेंट में यह बात साफ है। यदि नये राज्य को भय हो और समाजवाद की स्थापना में समाज के कुछ वर्ग रुकावट डालें और उसे विफल करने के लिये षड्यन्त्र करें तो अधिनायकत्व की आवश्यकता निर्विवाद हो जाती है।

अब मैं साथी के प्रश्नो का उत्तर दूंगा। मद्रास सम्मेलन में मन्त्री जी ने केवल इतना कहा था कि 'जनतान्त्रिक समाजवाद' पार्टी का मूल आधार है। इसे सब सदस्यों को मानना चाहिए। जो इसे नही मानते उनको पार्टी मे रहने का हक नही है। उनका यह कथन बिल्कुल सत्य है कि बुनियाद रोज-रोज नही बदलती। मैंने ऊपर कहने की कोशिश की है कि जनाणिक समाजवाद कोई नया विचार नहीं है। यही मार्क्स का कम्युनिज्म है। इससे इनकार कोई भी कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट नही कर सकता। यह कहना कि मैं 'जनतान्त्रिक समाजवाद को नही मानता,' यह कहने के बराबर है कि मैं सोशिलज्म-कम्युनिज्म को नही मानता। फिर ऐसे व्यक्ति को समाजवादी पार्टी में रहने का क्या हक है? यदि सबको सब बातो की स्वतंत्रता हो तो पार्टी बनाने की आवश्यकता ही क्या है? यदि गाँधीवादी अपना एक सघ बनायें और उनका कोई सदस्य यह चाहे कि संघ के उद्देश्य-पत्र में से अहिंसा को निकाल देना चाहिए तो वह सघ का सदस्य कैसे रह सकता है? यदि कोई नियन्त्रण न हो तो यह भी प्रस्ताव किया जा सकता है कि पार्टी का उद्देश्य 'बुर्जुआ डेमोक्रैटिक रिवोल्यूशन'

होना चाहिए। कम्युनिस्ट पार्टी में सेन्ट्रलिज्म का सिद्धांत माना जाता है अर्थात् वाद विवाद के बाद बहुमत से जो निर्णय हो वह सबको मान्य होता है। समाजवादी पार्टी में केवल उद्देश्य मानने के लिए ही बाध्य किया जाता है। यह इसलिए है जिसमें समाजवाद का रूप आगे चल कर विकृत न हो जावे। किन्तु अन्य सब बातों में बहस हो सकती है। पार्टी के प्रस्तावों को मानने के लिए सदस्य बाध्य नहीं हैं। उनके बारे में, अनुशासन की रक्षा करते हुए बताये हुए ढंग से सदस्य अपना मतभेद भी प्रकट कर सकते हैं। मंत्रीजी ने सम्मेलन में यहाँ तक कहा है कि जनतांत्रिक प्रकार के बारे में पार्टी में मतभेद हो सकता है किन्तु जनतांत्रिक समाजवाद के बारे मे नही हो सकता (अंगरेजी, 'जनता' 16 जुलाई का अक)। इतनी स्वतन्त्रता तो शायद जरूरत से ज्यादा है। मैं समझता हू कि साथी के उठाये हुये सब प्रश्नो का मैंने उत्तर दे दिया है। मैं किसी प्रस्ताव-विशेष पर विचार करना नही चाहता। मैंने ऊपर कहा है कि सब प्रस्तावों को मानने के लिए सदस्य बाध्य नहीं हैं। यही पर्याप्त है।

साथी का यह भी कहना है कि अन्तिम संघर्ष का चित्र होना चाहिये। पार्टी ने सब स्थितियों का विचार कर लिया है और सबके लिए उचित उपाय का विधान किया है। पार्टी स्थिति के अनुसार अपना उपाय निश्चित करेगी। पालिसी स्टेटमेंट मे जनतांत्रिक प्रकार और क्रांति पर भी विचार किया गया है; अधिनायकत्व का भी उल्लेख है। इससे अधिक निश्चित बात नही कही जा सकती। जब तक रूसी क्रांति नही हुई थी तब तक लेनिन आदि नेता बुर्जुआ जनतांत्रिक क्रांति की ही बात सोचते रहे। किन्तु समय आने पर उस विचार का उन्हें परित्याग करना पड़ा और समाजवादी क्रांति की ओर अग्रसर होना पडा। हमारे देश के कम्युनिस्ट भाई तो आज का चित्र नहीं स्थिर कर पाते। आये दिन अपनी नीति बदलते रहते हैं। जिस नीति को 3 वर्ष हुए अपनाया था वह हानिकर सिद्ध हुई। अतः उसे छोड़ना पडा। अन्तिम चित्र की बात आज निश्चत रूप से करना आज की तेजी से बदलती हुई दुनिया मे तो और भी कठिन है। 2, 3 चित्र सामने रखने पड़ते हैं। हमारे देश के इतिहास में आने वाले 2, 3, वर्ष मार्के के हैं। इस समय कोई क्रांति का वातावरण नही है। लोग निरुत्साहित हो गये हैं, राजनीति से ऊब गये हैं, विश्वास उठ गया है। हाँ, यदि ससार में कोई विलक्षण घटना हो जाय

तो कुछ कहा नहीं जा सकता, पल भर में स्थिति बदल सकती है। ऐसे समय मे वर्ग-संघर्ष द्वारा वर्ग-संस्थाओ को पुष्ट करना तथा कार्य-कर्ताओं को कुशल बनाना हमारा मुख्य काम होना चाहिए। किसी क्रांति या आदोलन की सच्ची बुनियाद यही है। अपने देश की अवस्था का अध्ययन कर उसके अनुरूप समर्थ और प्रभावशाली उपायो का अनुसरण करना बुद्धिमानी है। दूसरों का अनुभव, उपाय निश्चित करने में सहायक हो सकता है, किन्तु दूसरों का अनुकरण करने से हमारा कल्याण नहीं हो सकता।

□

राष्ट्रवाद, सम्प्रदायवाद, सुधारवाद ?

पश्चिमी योरप के देशों में राष्ट्रीयता के साथ-साथ जनतन्त्र और उद्योगवाद का जन्म हुआ था। यह राष्ट्रीयता ससार के लिए एक नई वस्तु थी। राज्य और शासनतन्त्र के स्थान में इसने राष्ट्र और जनता की प्रतिष्ठा की। जब तक जनता का प्रभुत्व स्थापित नहीं हुआ अर्थात् जब तक राजा और प्रजा का सम्बन्ध बदला नही तब तक आधुनिक युग की राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा न हो सकी। यह राष्ट्रीयता व्यक्ति के मूल्य और मानवता की एकता मे विश्वास करती थी। स्वतन्त्रता इसका बीजमन्त्र था। इसने जनता का ध्यान राजदरबारो से हटाकर जनता के जीवन, उसकी भाषा और कला पर केन्द्रित किया। यह प्राचीन परम्परा मे नाता तोड़ने को उद्यत रहती थी। धर्म के नाम पर योरप मे जो रक्तपात और विकराल युद्ध हुए उनसे लोग ऊब गये थे। वह इसको पसन्द नहीं करते थे कि धर्म, राज्य और राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पर प्रभाव डाले। वह धर्म को व्यक्तिगत वस्तु मानते थे। इस रूप में वह उनको सुरक्षित रखने को तैयार थे। किन्तु वह इसका विरोध करते थे कि धर्म समस्त जीवन पर छा जावे और जीवन के प्रत्येक भाग के लिए आदेश निकाले तथा सिद्धांत निरूपित करे। वह चाहते थे कि जनसाधारण को जो प्रेरणा प्राचीनकाल मे धर्म से मिलती थी वह नए युग मे राष्ट्रीयता से मिले।

राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा एक दिन में नही हो गई। उसका मूल अतीत मे था। जिन देशों मे यह जन्मी, उनमें राजनीतिक तथा आर्थिक विकास बहुत समय से हो रहे थे और उन अवस्थाओं का धीरे-धीरे परिपाक हो रहा था जिनके कारण राष्ट्रीयता उत्पन्न हो सकी। **फ्रांस की राज्य क्रान्ति** इस आन्दोलन का आविर्भाव

थी और उसके बाद योरप के सब देशों में धीरे-धीरे राष्ट्रीयता का विकास होने लगा। पश्चिमी योरप में आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन भी साथ-साथ हुए और इन पर राष्ट्रीयता का अधिक प्रभाव पडा। किन्तु जब एक विचार एक देश में सफल होता है और नई अर्थनीति तथा राजनीति मे परिणत होता है तब अन्य देशो मे स्थिति के परिपक्व न होने पर भी वह विचार फैलने लगता है। और यदि वहां का राजनीतिक जीवन क्षीण होता है और अर्थनीति नहीं बदलती तो इस राष्ट्रीयता का प्रकाश प्रधान रूप से सांस्कृतिक क्षेत्र मे होता है। जर्मनी, इटली, तथा पूर्वी योरप के अन्य देशो मे ऐसा ही हुआ। वहा नया राज्य तो था नही, इस कारण लोकगीत, पुरातन इतिहास तथा साहित्य में इस भावना का प्रथम आविर्भाव हुआ। आगे चलकर जब जनता की राजनीतिक और सांस्कृतिक जागृति हुई तब इस सास्कृतिक राष्ट्रीयता ने राष्ट्र के आधार पर राज्य के निर्माण की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न की। जर्मनी में पश्चिम के आन्दोलन का जो प्रभाव पडा वह आरम्भ मे साहित्यिक और बौद्धिक आन्दोलनों तक ही सीमित रहा। उसने राजनीतिक और सामाजिक जीवन को बदलने की इच्छा नहीं उत्पन्न की। आरम्भ में जर्मन लोगों ने राजनीति को शासकों के लिए ही छोड़ रखा था और राजाओं की आज्ञा का पालन करना वह प्रजा का कर्तव्य समझते थे। जर्मनी के बड़े-बड़े लेखक राष्ट्रीयता और पितृभूमि के विचारो से अपरिचित थे। एक बार गेटे ने कहा था कि जो व्यक्ति पक्षपात और आग्रह के बिना विचार कर सकता है और अपने समय से ऊपर उठ सकता है उसकी पितृभूमि कहीं भी नही है और सर्वत्र है। वह सभ्यता के शाश्वत मूल्यो की खोज मे लगा था। उसने राष्ट्रीयता का सदा प्रत्याख्यान किया। उसका मत था कि राष्ट्रीयता का अभाव और व्यक्तिवाद जर्मनों के लाभ के लिये है। वह अतीत का पुनरुज्जीवन नहीं करना चाहता था। वह कहा करता था कि मैं प्रार्थना करता हूं कि जर्मन लोगो में देशभक्ति का भाव न उत्पन्न हो। फ्रांस के लिये उसके मन में बड़ा आदर था। पेरिस को वह संसार का प्रधान नगर मानता था। शिलर का कहना था कि जर्मनी का मिशन आध्यात्मिक और सांस्कृति क्षेत्र मे है, राजनीतिक क्षेत्र में नहीं। उसके समय में जर्मनी मे राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था किन्तु उसने यही कहा कि तुम व्यर्थ आशा करते हो कि तुम एक राष्ट्र हो जाओगे, इसके स्थान में तुम स्वतन्त्र मनुष्य बनो! शिलर का

कहना था कि जर्मनी का बड़प्पन राज्य-विस्तार मे नहीं है किन्तु तर्क और युक्ति की स्वतन्त्रता पाने में और पक्षपात पर विजय पाने में है। शिलर मानवता की एकता और व्यक्ति की उत्कृष्टता को महत्व देता था। राज्य और राजनीतिक जीवन का उसके लिए कोई महत्व न था। काण्ट का कहना था कि मनुष्य के सामने सबसे बड़ा सवाल एक विश्वव्यापी व्यवस्था के कायम करने का है जिसका आधार एक ही कानून हो। इसके लिये काण्ट के अनुसार सब राज्यो का सगठन सब नागरिक स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त पर होना चाहिये। वह राष्ट्र की अपेक्षा एक विश्वव्यापी व्यवस्था पर ज्यादा जोर देता था। हर्डर ने जर्मनी मे राष्ट्रीयता के विचार को विशेष रूप से फैलाया। किन्तु उसका भाव अराजनीतिक था। सामान्य जन और उसकी भाषा उसकी राष्ट्रीयता के हृदय थे। वह राज्य को कृत्रिम और आगन्तुक मानता था और इसके विपरीत राष्ट्रीयता को स्वाभाविक और मौलिक। वह प्रकृति और इतिहास को विकासशील मानता था। उसके अनुसार—एक सृजनशक्ति सकल विश्व को व्याप्त करती है। यही शक्ति जीवन मे अनेक रूपो मे आविर्भूत होती है। यह क्रम अनन्त है। लोकगति इसी शक्ति का आविर्भाव है। बड़े-बड़े कलाकार और लेखको की कृति से यह किसी प्रकार कम नही है। जनता का अपना व्यक्तित्व होता है जो अनेक रूपों में विकसित होता है। यह एक दूसरे से भिन्न है तथापि एक ही शक्ति की कृति है। हर्डर राष्ट्रीय जन समाज को मानवता और व्यक्ति के बीच की कड़ी मानता था, किन्तु यह समाज राजनीतिक न होकर सांस्कृतिक और आध्यात्मिक था। हर्डर का मत था—मानव सभ्यता राष्ट्रीय आविर्भावो मे व्यक्त होती है। सांस्कृतिक आविर्भाव मौलिक होता है। किन्तु यह मौलिकता राष्ट्रीय समाज और भाषा विशेष के कारण होती है। राष्ट्र, देश, काल तथा स्वभाव के अनुसार एक दूसरे से भिन्न होते हैं; प्रत्येक का अपना मापदण्ड होता है। प्रत्येक राष्ट्र अपने ही ढग से प्रसन्न हो सकता है। हर्डर की दृष्टि मे प्रत्येक राष्ट्र पवित्र है और दैवी शक्ति का आविर्भाव है, अतः उसकी रक्षा होनी चाहिये। वह सब राष्ट्रो को समान रूप से पवित्र मानता था और सबका समान रूप से आदर करता था। वह मानता था कि राष्ट्र एक दूसरे के परिपूरक हैं, मानवता ही हमारे प्रयत्नो का उद्देश्य है और वही हमारा पथ-प्रदर्शक है। वह राष्ट्रीय गर्व का तिरस्कार करता था।

फ्रांस की राज्यक्रांति ने राष्ट्रीयता के राजनीतिक स्वरूप को जर्मनी के सम्मुख रखा और धीरे-धीरे दोनों विचार घुल-मिल गये और इससे जर्मनी को एक नई प्रेरणा मिली। स्लाव जाति पर भी इन विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा और इतिहास बताता है कि १६ वीं शती में राष्ट्रीयता को सारे योरप में विजय हुई।

औद्योगिक युग मे साम्राज्यो का संगठन हुआ और धीरे-धीरे एशिया और अफ्रीका के अनेक देश योरप के अधीन हो गये। योरपीय पूंजीवादी का प्रभुत्व सारे संसार पर स्थापित हो गया। यह देश भी योरप की विचार-धारा से प्रभावित होने लगे। योरपीय शासन के साथ-साथ योरप का साहित्य और विज्ञान भी आया। भारत में अंग्रेजी राज १९वीं शती मे स्थापित हुआ। मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर मराठे और सिक्खो ने अपने-अपने राज्य स्थापित किये। किन्तु अन्त में अंग्रेजों ने इनका ध्वंस किया और सारे देश को हस्तगत कर लिया। आरम्भ मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारयीय जीवन मे हस्तक्षेप नही करती थी। उसने केवल जमीन की व्यवस्था मे अदल-बदल किया था। वह पादरियो को ईसाई धर्म का प्रचार भी नहीं करने देती थी। जो अंग्रेज यहाँ आते थे वह जायदाद भी नही खरीद सकते थे और यहां बस नही सकते थे। मौलवी और पंडित मुकदमो का फैसला करते थे और कम्पनी की ओर से सस्कृत, अरबी और फारसी की शिक्षा दी जाती थी। कम्पनी के अधिकारी डरते थे कि यहाँ के सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने से विद्रोह हो जायेगा। किन्तु लार्ड बेंटिक के समय से राज-काज की भाषा अंग्रेजी हो गई। पादरियो को ईसाई धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता मिल गई और अंग्रेजी की शिक्षा की व्यवस्था की गई। पश्चिमी विज्ञान और अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव शिक्षित वर्ग पर पड़ने लगा और वे इंगलैंड की राजनीतिक सस्थाओ और विचारधारा से परिचित होने लगे। हम ऊपर कह चुके हैं कि १६वीं शती मे राष्ट्रीयता का राजनीतिक भाव सारे योरप मे फैल चुका था। यद्यपि भारत मे विदेशियो का राज्य था और समाज मे जातियो का तारतम्य था तथापि पश्चिम की राष्ट्रीयता अंग्रेजी शिक्षित वर्ग को आकृष्ट करने लगी। साथ-साथ जनतंत्र का भाव इस वर्ग में फैलने लगा। इस शती में इटली की स्वाधीनता का प्रश्न एक जीवित प्रश्न था और मैजिनी की राष्ट्रीयता भारतीयों

को प्रभावित कर रही थी। १६ वी शती में अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ होने से राष्ट्रीयता का राजनीतिक रूप भारतीयो के सामने आया। यहाँ जर्मनी की तरह राज्य और राष्ट्रीयता एक दूसरे से पृथक नहीं रहे। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से यहाँ राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक आदोलनो का उपक्रम हुआ। उसके पूर्व यहाँ अन्धकार का युग था। मराठा और सिक्ख इसी साम्राज्य के कारण टिक न सके। मध्य युग मे यहां सन्त अनेक हुए जिन्होंने एक उदार धर्म का प्रचार किया। सन्तों और सूफियो ने हिन्दू-मुसलमानों को इस उदार धर्म के आधार पर मिलाने की चेष्टा की। कई सन्त छोटी जातियो में हुए और उन्होंने उदार धर्म की शिक्षा दी। दरबार ने कला और स्थापत्य को प्रोत्साहन दिया और उसके प्रश्रय मे अनेक विद्वान हुए। किन्तु कोई बौद्धिक आन्दोलन नही हुआ। भारत मे कोयला और लोहा एक ही क्षेत्र मे होता था। व्यापार भी अच्छा था जिसके कारण पूंजी एकत्र हो गई थीं। कुशल कारीगर भी थे। किन्तु शिक्षा का क्षेत्र छोटा होने के कारण विज्ञान की प्रतिष्ठा नही हुई और इसलिये आविष्कार तथा गवेषणा के लिये प्रेरणा नही हुई।

यदि यहाँ कोई बौद्धिक आन्दोलन हुआ होता तो सम्भव था कि भारत मे भी औद्योगिक क्रान्ति हुई होती। किन्तु यहाँ उस समय लोगो मे किसी प्रकार की जिज्ञासा या प्रेरणा न थी। अपने अतीत का ही ज्ञान न था। किन्तु यह गर्व अवश्य था कि हम से बड़ा कोई नही है। ऐसे वातावरण मे प्रेरणा कहाँ से मिलती? जब हम पश्चिमी विज्ञान और संस्थाओं के सम्पर्क मे आये तभी नवजागरण का युग आरम्भ हुआ। यह शिक्षा थोड़े ही लोगों में सीमित थी, किन्तु नये आन्दोलनों की सृष्टि करने मे समर्थ हुई। ब्रह्मसमाज, देवसमाज और प्रार्थना-समाज इसी के फल थे। यद्यपि आर्य समाज के जन्मदाता पर पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव नहीं पड़ा था तथापि आर्य समाज के विकास मे अनेक अंग्रेजी शिक्षित भारतीयों का हाथ रहा है। स्वामी विवेकानन्द भी पश्चिमी विचारधारा से बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होने एक बार कहा था कि शरीर पश्चिम का हो और आत्मा भारत की हो। समाज-सुधार के भी कई आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। विविध प्रान्तीय भाषाओं मे गद्य साहित्य की रचना हुई और पश्चिम के साहित्य का प्रभाव पड़ने लगा। अंग्रेजों के आने के पूर्व प्रांतीय भाषाओं में अधिकतर पुराना काव्य था; नाटक, उपन्यास,

निबन्ध आदि का एक प्रकार से अभाव था। मिशनरियो ने ही पहले पहल देशी भाषाओ में गद्य रचना के निर्माण की ओर ध्यान दिया। ब्रिटिश काल में ही देशी भाषाएँ समृद्ध हुई है। पुराने इतिहास की खोज का काम भी योरपीय विद्वानों ने आरम्भ किया और उन्ही के परिश्रम से हमारा पुराना इतिहास लिखा जा सका। इसने भी राष्ट्रीय भाव को सबल बनाने मे सहायता की।

इंगलैंड की राजनीतिक सस्थाओ का शिक्षित वर्ग पर बड़ा प्रभाव पड़ा। स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के भावो ने उनकी दृष्टि बदल दी। उनका यह ईमानदारी के साथ विश्वास था कि अग्रेज हमारे लाभ के लिए यहां आये है और जब हम अपने मे शासन की योग्यता पैदा कर लेगे तब वह खुशी-खुशी हम को शासन सौंप कर चले जावेगे। वह जानते थे कि हममे कितनी कमिया हैं और वह उनको दूर करना चाहते थे। उनमे मिथ्या गर्व न था। उलटे उनमे अपनी गिरी अवस्था को देखकर आत्मावसाद उत्पन्न हो गया था। उनके लेखो को पढ़े तो हम उनमे उदार विचार पावेंगे। मनुष्य जाति की उन्नति मे उनको विश्वास था और वह समानता के आधार पर समाज का पुन. सगठन करना चाहते थे। उनकी दृष्टि आधुनिक थी और वह सामाजिक कुरीतियो को दूर करना चाहते थे। कांग्रेस के पुराने नेता प्राय: समाज-सुधार के कार्यो मे भी दिलचस्पी रखते थे। वह प्रगतिशील थे, यद्यपि उनके राज-नीतिक विचार दकियानूसी थे। इसका कारण यह था कि उनका अग्रेजो के शुभ मन्तव्यों मे विश्वास था और वह यह भी समझते थे कि हम उनसे लड़ कर कुछ पा नही सकते। 19वी शदी मे एशियावासियों ने आत्मविश्वास खो दिया था और योरप की शक्ति का मुकाबला करना वह असम्भव समझते थे। किन्तु साथ-साथ उस पीढ़ी के भारतीय नेता प्राय: उदार दृष्टि के थे और योरप के बौद्धिक आदोलनो के सम्पर्क मे रहते थे।

सन् 1857 मे जो सिपाही विद्रोह हुआ उसके साथ इनकी सहानुभूति नही थी। सामान्यत: जनता ने भी उस विद्रोह में भाग नही लिया था। उसका नेतृत्व मुगल बादशाह, कतिपय राजा और सैनिक करते थे। यदि वह विद्रोह सफल होता तो इसकी आशा हम नही कर सकते थे कि वह जनतन्त्र की स्थापना करता। उसके आधार मे स्वतन्त्रता और समानता के नये भाव नही

थे। वह किसी जन-आंदोलन के आधार पर संगठित नहीं हुआ था। अतः वह राज्य प्रगतिशील नही हो सकता था, और इसलिये वह उस युग में टिकाऊ न होता, किसी न किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र की अधीनता में भारत फिर आ जाता।

सन् 1903-4 में जब जापान ने रूस को पराजित किया तब एशिया के सब देशों में जागृति के चिह्न दिखाई देने लगे। जापान की विजय ने इनमें एक नया उत्साह फूंका। भारत मे भी जापान की विजय का गहरा प्रभाव पडा और खोया हुआ आत्यविश्वास वापस आने लगा। भारत की राजनीति बदलने लगी और कांग्रेस में दो दल हो गये। नया दल राजनीति मे उग्र था किन्तु सामाजिक क्षेत्र में कदाचित उतना प्रगतिशील न था। भारत के गौरव का इतिहास इस समय लिखा जा रहा था। पुनरुज्जीवन के आन्दोलनों की भी सृष्टि हुई। नये दल के नेता इसलिये भी पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे जिसमे वह देश की पुरानी सस्कृति को फिर से जिन्दा कर सकें। इन्होने राजनीतिक आन्दोलन को सबसे अधिक महत्व दिया। सामाजिक आन्दोलनो की इन्होने प्रायः उपेक्षा की। जब गाधी जी का युग आया तब सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का फिर से प्रयत्न कांग्रेस जन की ओर से आरम्भ हुआ। गांधी जी का उद्देश्य व्यापक था। इसीलिये उनके कार्यक्रम में अछूतोद्धार और रचनात्मक कार्य को स्थान दिया गया था। वह स्वतन्त्रता के साथ-साथ समानता का भी प्रचार करते थे और कांग्रेस के विधान को जनतांत्रिक बनाकर उन्होने जनता में जनतंत्र का भी प्रचार किया। उन्होने एक विराट आन्दोलन का सूत्रपात किया। इसके अनेक पहलू थे। इसके कारण जनता मे अपूर्व जागृति हुई। इसने जात-पांत के बन्धन को ढीला किया और अस्पृश्यता निवारण के काम को आगे बढ़ाया।

जनता में स्वतन्त्रता के साथ-साथ समानता का भाव भी फैलने लगा और राष्ट्रीय आंदोलन में बहुसंख्यक लोग यह आशा लेकर सम्मिलित होने लगे। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि गांधी जी ने राजनीति के साथ धर्म को मिलाया और इस प्रकार पुनरुज्जीवन के आन्दोलन को एक प्रकार का सहारा दिया। उनके प्रभाव के कारण लोग सब बातो में स्वदेशी होने लगे और पश्चिम के नये आन्दोलनों से सम्पर्क बहुत कम हो गया। एक राष्ट्रकर्मी के लिए यह

पर्याप्त समझा जाने लगा कि वह रचनात्मक काय करता है और देश की स्वतन्त्रता के लिये सत्याग्रह के आन्दोलन मे भाग लेने को तैयार है। ससार के इतिहास तथा अर्थनीति का अध्यन करने की उसे कोई विशेष आवश्यकता नही थी।

यदि देश का बटवारा न हुआ होता तो स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी यह प्रगतिशील आन्दोलन चलते रहते। मुसलमान अपने को एक पृथक राष्ट्र **समझने लगे। राष्ट्रीयता की कोई एक व्याख्या नहीं है अन्तोगत्वा यह मानना पड़ता है कि यदि कोई समुदाय अपने को दूसरों से पृथक मानने लगे और अपनी एकता का तीव्र अनुभव करने लगे तो वह एक राष्ट्र का** रुप धारण कर लेता है। भारत मे ऐसा ही हुआ। यह कहना ठीक नहीं होगा कि **मुस्लिमलीग के साथ** अधिकांश **मुसलमान** नहीं थे और जिन्ना साहब केवल अंग्रेजों के एजेंट थे। बटवारा जरूर देश के **आधार पर, न कि धर्म के आधार पर हुआ;** किन्तु पाकिस्तान आँदोलन के मूल में इस्लाम धर्म ही था, और यह **भाव था** कि हिन्दू और **मुसलमान सब बातों में एक दूसरे से भिन्न हैं**। इसके कारण हिन्दू **भाव** भी प्रबल पड़ने लगा और साम्प्रदायिक राजनीतिक दल परिस्थिति से लाभ उठाने लगे। जब हिन्दू और सिख पश्चिमी पंजाब से निकाले गये तो इसके उत्तर मे यहाँ भी यह भाव फैलने लगा कि भारत मे मुसलमानो के लिये स्थान न होना चाहिये। भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध भी बिगड़ने लगे। कश्मीर के आक्रमण ने मनमुटाव और भी बढ़ा दिया। भारत के वह वर्ग, जिनका स्वतन्त्रता से नुकसान हुआ, ऐसे साम्प्रदायिक संगठनो के साथ हो लिये और इन्हीं के कारण महात्मा जी की हत्या हुई। पाकिस्तान की स्थापना **प्रतिगामी भावों पर** आश्रित है। आज की दुनिया में राज्य का **आधार नस्ल और राष्ट्रीयता है, धर्म नहीं** है। पर पाकिस्तान का **विधान आलिमों की** सलाह से बनाया जा रहा है। इसकी प्रतिक्रिया भारत पर भी होती है और इससे प्रतिगामी शक्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। साधारण जन मुसलमानो को सदेह की दृष्टि से देखते हैं और समझते हैं कि वह अब भी हृदय से पाकिस्तान का समर्थन करते हैं। संकुचित विचार के लोग समझते हैं कि पाकिस्तान का मुकाबला उन्ही के हथियारों से होना चाहिये वह भी हिन्दुस्तान को 'म्लेच्छों' से पाक करना चाहते हैं। ऐसे वातावरण में प्रतिगामी **विचार पनपने लगते** हैं। **प्रतिशोध की भावना** इन विचारों को बल देती है।

यदि पाकिस्तान का आधार नहीं बदला और वहाँ के राज्य ने आधुनिक विचारों और मूल्यो को नही अपनाया तो पाकिस्तान सदा भारत की प्रगतिशील शक्तियों को चुनौती देता रहेगा और उसके कारण यहाँ भी उसी विचार के छोटे-बडे दल परेशान करते रहेंगे। यदि भारत और पाकिस्तान के संबंध अच्छे न हुये और वे एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखते रहे तो एक अस्वाभाविक परिस्थिति बनी रहेगी। इसलिये समस्या का कोई स्थायी हल निकालना चाहिये। साम्प्रदायिकता और हिन्दू राष्ट्र का विचार समस्या को सुलझाने के बजाय उसे और जटिल कर देता है। यदि हिन्दू अपनी संकीर्णता को छोड़ दें और ऊँच-नीच के भेदभाव को दूर कर दें तो उनमें अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो सकती है। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि यह उदार भाव हिन्दुओं तक ही सीमित न रहे। पंजाव में आज मुसलमान नही है; किंतु हिन्दू सिखों का साम्प्रदायिक संघर्ष चल रहा है। सामाजिक असमानता को दूर करना और मानव मात्र के लिये आदर का भाव रखना हिन्दुओं की ही उन्नति के लिये अति आवश्यक है। यदि हम अपने घर को संभालें, देश की आर्थिक समस्या को सुलझायें, देश के साधनों का विकास करें तथा राष्ट्रीयता और जनतन्त्र को पुष्ट करें जिसमें सब नागरिक समानता का अनुभव कर राष्ट्रनिष्ठ बनें तो हम एक ऐसी शक्ति अपने में पैदा करेंगे जो अमोघ कवच का काम देगी और विदेशों में भी हमारा सम्मान बढ़ावेगी। उस अवस्था में पाकिस्तान को विवश होकर स्थायी समझौता करना होगा।

हमको भूलना नही चाहिये कि राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के भावों ने ही हमको स्वतन्त्रता दिलाई है। यदि हम किसी न किसी अंश मे इन भावों को न अपनाते तो विभिन्न बिरादरी, धर्म और प्रान्त के लोग इसके लिये एक साथ मिलकर चेष्टा क्यों करते? राष्ट्रीयता का अर्थ हिन्दू या मुस्लिम राष्ट्रीयता नहीं है। एक देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले विविध धर्म और बिरादरी के लोग जब अपनी विभिन्नता का अनुभव करते है तभी राष्ट्रीयता जन्म लेती है। यह दो भाव आज भी अपना काम कर रहे है। यह युग धर्म के अनुकूल है। अतः अन्त मे इनकी विजय होगी। किन्तु हमारा समाज जात-पाँत में बँटा है अस्पृश्यता अभी गई नहीं है और सम्प्रदायो का प्रभाव विद्यमान है। यह स्थिति समाज को विश्रृंखल करने वाली है। इसके विरुद्ध लड़ना ही पड़ेगा।

यहा समाजिक और आर्थिक दोहरी गुलामी है. केवल आर्थिक गुलामी पूरी तरह दूर नही होगी। चीन मे जात-पात का बखेडा नही है, धर्म का प्रभाव बहुत कम है। एक ही कुटुम्ब मे एक बौद्ध है तो एक ईसाई है। वहां धर्म समाज को छिन्न-भिन्न नही करता। हमारे यहा जाति की प्रथा के कारण जाति के आधार पर राजनीतिक दल बनते हैं। यह बात आप अन्यत्र नही पावेंगे। अत. यहा सामाजिक असमानता को दूर करने की बडी जरूरत है। जनतन्त्र के भाव को पूरी तरह अपनाना होगा। यह नहीं समझना चाहिये कि व्यवस्थापिका सभाओ की स्थापना से जनतन्त्र की शिक्षा के द्वारा ही यह काम सम्पन्न होगा। आन्दोलनो की सृष्टि पंडितो के शास्त्रार्थ से नही किन्तु आदर्श तथा जीवन के उत्कृष्ट मूल्यों के आधार पर होती है। हमें जनता मे इन नए मूल्यों का प्रचार करना है। तभी जनतन्त्र की प्रतिष्ठा हो सकेगी। महात्मा जी के बलिदान ने हमारा ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि यदि हम सावधान नही होगे तो साम्प्रदायिक शक्तिया हमारी कमाई को नष्ट कर देंगी। यदि यह पनपने पाई तो समाजवाद दूर की कथा है, सच्चा राष्ट्रवाद भी यहा नही कायम हो सकेगा। सच्चे राष्ट्रवाद का जनतन्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध है। अतिराष्ट्रवाद मानवता और व्यक्ति का लोप करके राज्य को सर्वेसर्वा बना देता है। ऐसा जर्मनी मे नाजियो के शासन काल मे हुआ। यहा तो सम्प्रदायो का सघर्ष चलता रहेगा और एक दूसरे से अलग रहने की प्रवृत्ति देश को छिन्न-भिन्न कर देगी।

□

क्रान्ति और समाजवाद

ऊपर हमने यह दिखाने की कोशिश की है कि भारत की सामाजिक रचना और उसकी वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए हमारा यह विशेष कर्तव्य है कि हम जनतन्त्र की स्थापना के लिए चेष्टा करें। यह ठीक है कि पूर्ण जनतन्त्र तो समाजवाद की प्रतिष्ठा पर ही हो सकता है, तथापि संप्रदायवाद को विनष्ट करने के लिए तत्काल कुछ करना होगा। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो लक्ष्य को जनतांत्रिक समाजवाद कहने का औचित्य और भी स्पष्ट हो जायगा। हमने ऊपर इस विषय पर विस्तार से विचार किया है, और यह बताने की चेष्टा की है कि यह वही पुराना लक्ष्य है जो मार्क्स के सामने था। जनतन्त्र क्या है, इस पर भी हमने ऊपर प्रकाश डाला है और यह भी बताया

है कि उसका प्रचार और आन्दोलन शिक्षा द्वारा ही हो सकता है। इसका यह अर्थ नही है कि पार्लियामेंटरी पद्धति अनावश्यक है।

आज कल क्रान्ति का नारा लगाने वाले सर्वत्र सुधारवाद की गन्ध पाते हैं। उनके लिए जनतन्त्र भी सुधारवाद का एक अग है। सास्कृतिक आन्दोलन और रचनात्मक कार्यक्रम भी सुधारवादी है। वह भूल जाते है कि समाजवाद स्वय एक सांस्कृतिक आन्दोलन है। यह साथी क्रान्तिकारी बुनियाद को ही देखते है, उस पर खडी होने वाली इमारत को नहीं देखते। रोजालुक्समवर्ग के शब्दों मे समाजवाद रोटी-मक्खन का सवाल नही है किन्तु एक विश्वव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन है। रोजालुक्समवर्ग को कोई सुधारवादी नहीं कहेगा। मै राजस्थान के एक गाँव में यह लेख लिख रहा हूं। यहाँ मेरे पास मार्क्स के लेख और ग्रन्थ नहीं हैं, अन्यथा में मार्क्स से उद्धरण देकर इसकी सत्यता को सिद्ध करता। मार्क्स ने एक स्थल पर कहा है कि मजदूर को मजदूरी की उतनी जरूरत नही है जितनी दृढता, साहस और शौर्य की। मजदूर यदि हड़ताल के सिलसिले में अपनी छोटो-मोटी पूंजी भी खो देता है तो इसका कारण यह है कि वह एक उद्देश्य के लिए लड़ता है। महज पेट की खातिर लड़ने वाला कहाँ हड़ताल कर सकता है? मार्क्स तो मजदूर को इतिहास का उपकरण बनाना चाहता था। जब प्राचीन संस्कृति के नाम पर विचित्र बातें कही जाती हैं और की जाती हैं तो इस बात की और भी आवश्यकता है कि हम सस्कृति का विवेचन करें और बतावें कि हमारी भावी सस्कृति का क्या रूप होना चाहिये।

क्रान्ति लाल, पीली नहीं होती। समाज में मौलिक परिवर्तन होना, राज्य-शक्ति का एक वर्ग के हाथ से निकल कर दूसरे वर्ग के हाथ मे जाना ही क्राति है। पार्टी का लक्ष्य शोषण का अन्त कर ऐसे वर्ग विहीन समाज की रचना करना है जिसके सदस्य उत्पादक होते हैं और स्वतत्र रीति से एक दूसरे के साथ सहयोग कर समाज का सचालन करते हैं। **इस समाज में न कोई शासक है और न कोई शासित। इसी को जनतान्त्रिक समाजवाद कहते है, यह एक क्रान्तिकारी लक्ष्य है।** इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक प्रयोग करने होते हैं। इनमें से कुछ मृदु और कुछ तीव्र होते हैं। रोज तीव्र प्रयोग नही होते। मृदु प्रयोगों द्वारा ही तीव्र प्रयोग के लिए तैयारी की जाती है। छोटे-छोटे

स्थानीय संघर्ष ही विराट संघर्ष के लिए भूमि तैयार करते हैं। क्रांति की शर्तें लेनिन ने बतायी हैं। ऊपर मैंने इनका जिक्र किया है। उस व्यवस्था को लाने के लिए बहुत समय तक अनेक प्रयोग करने होते हैं। क्रांति के अवसर बहुत कम ही आते हैं। कभी-कभी एक दो पीढ़ी तक इन्तजार करना पड़ता है। क्रांति कोई हनुमान चालीसा नहीं है कि उसका नित्य पाठ किया जाये। क्रान्तिकारी लक्ष्य को सामने रखकर जो काम किया जाता है वह क्रान्ति को अग्रसर करता है। क्रान्ति की रक्षा के लिये कभी-कभी पीछे हटना पड़ता है। यह कदम भी क्रान्तिकारी कहलावेगा, प्रतिगामी नहीं। लेनिन ने क्रान्ति की रक्षा के लिए नई आर्थिक नीति को अपनाया था। यदि वह ऐसा न करता तो क्रान्ति की खैरियत न थी। **समाजवादी की प्रत्येक चेष्टा, क्रिया, विचार और कल्पना लक्ष्य को केन्द्र रखकर होनी चाहिए।**

कोई कार्य सुधारवादी है या क्रान्तिकारी, इसका निर्णय उस दृष्टि के आधार पर होता है, जिसको सामने रखकर वह कार्य किया जाता है। एक ही कार्य भिन्न-भिन्न लोग अलग-अलग दृष्टि से करते है। किसी रचनात्मक कार्य को ले लीजिये। उदाहरण के लिये हम नहर खोदने के काम को लेते हैं। यदि किसी गाँव के लिए देखते हैं कि गवर्नमेंट उनकी माग की उपेक्षा करती है और इसलिये स्वयं अपने कष्ट को दूर करने के लिये वह सहयोग करके नहर खोदते हैं तो यह सुधार का कार्य है इसका यह अर्थ नहीं है कि यह कोई बुरा काम है। इसके विपरीत यह एक अच्छा काम है। सबको इसमे सहयोग देना चाहिए। किन्तु जब यह रचनात्मक कार्य समाजवादी कार्यक्रम का अंग बन जाता है तो समाजवादी का उद्देश्य कष्ट निवारण के साथ-साथ और भी गूढ़ होता है। वह देखता है कि लोगों मे सहयोग की भावना नहीं है, वह मिल-जुलकर अपना काम करने के अभ्यस्त नहीं है, वह परमुखापेक्षी हो गये हैं और निराशा और निरुत्साह के शिकार हो रहे हैं। इस स्थिति को बदलने के लिये और यह बताने के लिये कि जब वर्गविहीन समाज होगा तो एक साथ मिलकर काम करना होगा, वह रचनात्मक कार्य हाथ में लेता है। वही काम क्रान्ति को अग्रसर करने में सहायक हो जाता है। यदि मजदूर की मजदूरी बढ़ाने और काम के घंटे कम करने की दृष्टि से ही मजदूरों मे काम

होता है तो यह सुधारवादी कार्य है, किन्तु यदि यह काम इस दृष्टि से होता है कि इसी तरह मजदूरों को जागरूक और श्रेणी सजग बनाकर उनको इतिहास-निर्दिष्ट कार्य का उपयुक्त उपकरण बनाया जा सकेगा तो वही काम हो जाता क्रान्तिकारी है।

सच्चा समाजवादी कार्यकर्ता वही है जो अपने स्थान पर सब प्रगतिशील विचारों और कार्यों का केन्द्र बन जाता है। यदि उसके गाँव या नगर मे साक्षरता का आंदोलन होता है तो वह उसमे आगे है, यदि कोई संघर्ष होता है तो वह उसका नेतृत्व करता है। यदि हम प्रत्येक कार्य का यह कह कर तिरस्कार करेंगे कि यह सुधारवादी है और क्रान्ति के आसरे बैठे रहेंगे तो हमारे लिये क्रान्ति की घड़ी नहीं आवेगी। यह कहना कि इन कामों को हाथ मे लेने से चित्तविक्षेप होता है और हमारे मुख्य कार्य-वर्ग संघर्ष को क्षति पहुंचती है, भूल है। वर्ग-संघर्ष को मध्यबिन्दु बना करके ही सारे काम होते है। रोज वर्ग-संघर्ष भी तो नहीं हो सकता। उसके लिये भी तैयारी करनी होतीहै। हमको भूलना नहीं चाहिये कि वर्ग-संघर्ष के साथ-साथ हमको अनेक कार्य ऐसे करने होंगे जो ध्येय से अलग करके देखने में सुधारवादी मालूम होंगे, किन्तु समाजवादी का कोई कार्य ध्येय से अलग कैसे किया जा सकता है? ध्येय की प्राप्ति के मार्ग में समय-समय पर जो विघ्न-बाधाएं आती रहें उनका भी मुकाबला करना होगा। सम्प्रदायवाद हमारे मार्ग में सबसे बडी अड़चन है। यदि सम्प्रदायवाद प्रबल पड़ गया तो क्रान्ति की भ्रूणहत्या ही होगी। यह कह कर हम कैसे उसकी उपेक्षा कर सकते हैं कि सम्प्रदायवाद से लड़ना तो कोई वर्ग-संघर्ष है नहीं। और यदि सम्प्रदायवाद से लड़ना है तो इसके अस्त्र राष्ट्रवाद और जनतन्त्र हैं। अपने देश में इनका प्रयोग किये बिना गति नहीं है। जो ठोस क्रान्तिकारी हैं उनकी दृष्टि पैनी और व्यापक होती है। कोई भी अच्छा काम उनके लिये त्याज्य नही है यदि वह ध्येय की पूर्ति में सहायक है। लोक-शिक्षा के जितने काम हैं वह सब सहायक हैं। उसका कार्यक्रम फारमूलों और नारो का नहीं होता। वह लोकोपयोगी सब कामों में आगे रहता है, किन्तु ध्येय को सदा सामने रखता है, और वर्ग-संघर्ष को अपना मुख्य अस्त्र समझता है। उसकी क्रान्ति दूध के उफान की तरह नहीं है जो पानी का छींटा पड़ते ही तुरन्त शान्त हो जाता है।

□

संस्कृत वाङ्मय का महत्व और उसकी शिक्षा

आचार्य नरेन्द्र देव

भारतीय और प्रतीच्य विद्वानों के सहयोग से संस्कृत वाङ्मय का उद्धार हो रहा है इस शुभ कार्य का श्री गणेश यूरोपीय विद्वानों ने किया था। किन्तु गत 30 वर्षों में भारतीय विद्वानों ने अपूर्व उत्साह और लगन से अन्वेषण और शोध के कार्य में विशिष्ट भाग लिया है। राजनीतिक चेतना के साथ-साथ राष्ट्रीय आधार पर सांस्कृतिक जीवन को आश्रित करने का भी प्रयत्न किया गया है। प्राचीन इतिहास और संस्कृत के अध्ययन में विशेष अभिरुचि उत्पन्न हो गयी है और भारतीय विद्वानों ने पाश्चात्य शिक्षा द्वारा अन्वेषण की वैज्ञानिक पद्धति को सीखकर साहित्य, भाषा, धर्म तथा सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन किया है।

आज भी इस कार्य में यूरोपीय विद्वान अपना दान दे रहे हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्र होने पर हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। हमारा कर्तव्य है कि संस्कृत विद्या के अध्ययन को हम पाठ्यक्रम में विशिष्ट स्थान दें और अन्वेषण के कार्य को प्रोत्साहन दें। आधुनिक युग के दो महापुरुषों के कारण तथा अपनी प्राचीन संस्कृति के कारण हमारा संसार में आदर है। यह खेद का विषय होगा यदि हम इस आवश्यक कर्तव्य की ओर उचित ध्यान न दें और संस्कृत वाङ्मय की रक्षा और वृद्धि के प्रति उदासीनता दिखावें। संस्कृत वाङ्मय आदर और गौरव की वस्तु है और उसका विस्तार और गम्भीर्य हमें चकित कर देता है। हमको उसका उचित गर्व होना चाहिए। संस्कृत संसार की सबसे प्राचीन आर्य भाषा है जिसका वाङ्मय आज भी विद्यमान है। ऋग्वेद हमारा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। रामायण और महाभारत

ससार के अनुपम और बेजोड़ काव्य हैं। यही हमारी संस्कृति की मूलभित्ति हैं। अनेक नाटक और काव्यो की सामग्री इन्हीं ग्रन्थों से उपलब्ध हुई है। महाभारत वेद के समान पवित्र माना जाता है। (इतिहास पुराणं पंचमं वेदानां वेदम्) महाभारत हमारी प्राचीन संस्कृति का भण्डार है। इसमें प्राचीन आचार-विचार, रीति-नीति, आदर्श और संस्थाओं का इतिहास उपनिवद्ध है। यह दर्पण के समान है जिसमें प्राचीन भारत का जीवन प्रतिबिम्बित होता है। काल की दृष्टि से रामायण एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसलिए बाल्मीकी को आदि कवि कहते हैं। इसमें माधुर्य और यह उत्तम काव्य का प्रतिमान समझा जाता है।

इसी कारण रामायण और महाभारत के अनेक संस्करण हैं। रामोपाख्यान यवद्वीप, बाली द्वीप, सुमात्रा, कम्बोडिया, चम्पा, स्याम, चीन और तिब्बत में प्रचलित था यवद्वीप की रामायणके कुछ अंश भट्टिकाव्य का अनुवाद है और कुछ अंश उसके आधार पर लिखे गये हैं। तिब्बत में जो रामायण का संस्करण प्राप्त हुआ है उसकी कथा रामायणी कथा से भिन्न है। जैनियों मे भी रामायण के दो संस्करण हैं :—एक वाल्मीकि का अनुसरण करता है, दूसरा बौद्ध कथा से प्रभावित है। इसी प्रकार महाभारत की कथा भी किसी न किसी रूप में बृहत्तर भारत के कई देशों में प्रचलित थी। भारतीय भाषाओं ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को जन्म दिया है। व्याकरण शास्त्र भी देश में चरम विकास को पहुंचा है। रूसी विद्वान श्चेरबास्की के शब्दों में पाणिनिकी अष्टाध्यायी मानवी बुद्धि की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में से है।

उपनिषदों की विचार-धारा और साधना संसार के अमूल्य रत्नों में से है। भारत में जिन विशिष्ट-विचारधाराओं ने जन्म लिया है उन सबका मूल स्थान उपनिषदों में है। उपनिषद्र के वाक्यों में गाम्भीर्य, मौलिकता और उत्कर्ष पाया जाता है और वह प्रशस्त, पुनीत और उदात्त भाव से व्याप्त है। मैक्स-मूलर का कथन है कि उपनिषद् प्रभात के प्रकाश और पर्वतों की शुद्ध वायु के समान हैं। जिस प्रकार जब हिमानी से पुण्य सलिला भगवती भागीरथी उद्गत होकर पर्वतमाला में घूमती हुई प्रभावित होती है और एक क्षण के लिए ऐसी प्रतीत होती हैं मानो सकल वासना का क्षय हो गया हो, सकल शरीर प्रीति रस से आप्लुप्त और सकल चित्त कुशल चेतना की भावना से वासित और व्याप्त हो गया हो, उसी प्रकार उपनिषद्वाक्यों में अवगाहन कर

एक नया चैतन्य और एक नयी प्रेरणा मिलती है। यह वाक्य कभी बासी नही होते, कभी पुराने नही पड़ते। यह सदा नुतन और सदा नवीन है। उपनिषद् वह स्तम्भ हैं जिस पर प्रतिष्ठित संस्कृत विद्या और भारतीय सस्कृति का दीपक सदा प्रकाश देता रहता है। यही हमारी अचल निधि है, यही हमारा जयस्तम्भ है।

सस्कृत वाङ्मय की व्यापकता भी अद्भुत है। इसके अन्तर्गत अनेक शास्त्र और विद्याएं हैं। इसकी धारा अविच्छिन्न रही है। संस्कृत वाङ्मय में पालि और प्राकृत का भी समावेश करता हूं। एक समय था कि जब संस्कृत का विशाल क्षेत्र था। मध्य एशिया से लेकर दक्षिण पूर्ण एशिया के द्वीपो तक संस्कृत का अखण्ड राज्य था। उस समय विविध सम्प्रदायों के विद्वान संस्कृत मे ही ग्रन्थ रचना करते थे और शास्त्रार्थ भी संस्कृत में होता था। इस विशाल क्षेत्र पर भारतीय संस्कृति का अपूर्व प्रभाव पड़ा था। यवद्वीप का प्राचीन साहित्य सस्कृत पर आश्रित था और स्याम, लंका, मलय, जावा हिन्दचीन आदि की भाषाओ पर संस्कृत का प्रभाव आज भी स्पष्ट है। इसी काल मे भारतीयों ने इन द्वीपों में उपनिवेश बनाये थे। मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय भाषा, लिपि, दर्शन और कला भी गयी थी। तिब्बत का बौद्ध वाङ्मय भारतीय औ भोट के पडितों के सहयोग से तिब्बत भाषा मे अनूदित हुआ था और तिब्बती लिपि भी भारत की देन है। आज भी तिब्बत के मठों में प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थ पूजे जाते हैं। दिङ्नाग का न्यायमुख और आलम्बन परीक्षा, धर्मकीर्ति का प्रमाणवर्त्तिक आदि कई प्रसिद्ध ग्रन्थ वहा से उपलब्ध हुए है। महापण्डित श्री राहुल सांस्कृत्यायन तिब्बत के मठों से ५१० हस्तलिखित संस्कृत पोथियों की सूची लाये हैं। अनेक भारतीय ग्रथ मध्य एशिया में पाये गये हैं। सिंकिआंग का प्रान्त जो आज रेगिस्तान है, एक समय हराभरा प्रदेश था और उसके नगरों में बौद्धों के अनेक बिहार और चैत्य थे जहाँ समृद्ध पुस्तकागार और कला की वस्तुएं थी। इस स्थान पर अनेक भाषाओं का समागम और मिलन होता था। इस प्रदेश से संस्कृत, प्राकृत तथा अन्य अपरिचित भाषाओ के ग्रन्थ उपलब्ध हुये है। स्टाइन ने भारत की ओर से खोज का काम किया था। पुराने विहारो के भग्नावशेष से बौद्ध मूर्तियाँ तथा रेशम, कागज और कपड़ा पर अनेक चित्र प्राप्त हुए हैं। इस खोज से

एक विलुप्त सभ्यता का पता लगा है। तुर्फान, कूचा, खुतन तथा अन्य स्थानों से विपुल सामग्री प्राप्त हुई। यह ग्रन्थ भूर्जपत्र, कागज, चमड़ा या लकड़ी पर लिखे गये हैं। इनकी लिपि गुप्तकालीन अलवा खरोष्ट्री है। बौद्ध के संस्कृत आगम के कई ग्रंथ यहाँ पाये गये हैं तथा मातृचेट के २ प्रसिद्ध स्तोत्र ग्रंथ भी मिले हैं जिनकी प्रशंसा चीनी पर्यटक इत्सिंग करता है। यहीं से अश्वघोष के नाटकों के अंश प्राप्त हुए हैं। खुतन का राज-काज भारतीय भाषा में होता था और यहाँ के राजाओं के नाम भारतीय थे। कराशर का नाम प्राचीन नाम अग्निदेश था। कूचा से ही बौद्ध धर्म चीन गया था। प्रसिद्ध कुमारजीव कूचा का ही अधिवासी था। कूचा की संस्कृति भारतीय थी। यहाँ का तन्त्र व्याकरण का अध्ययन होता था।

अफगानिस्तान में सन् १९२२ से प्राचीन खुदाई का काम हो रहा है। हड्डा में अनेक स्तूप, चैत्य और मूर्तियां पायी गयी हैं। बामियान मे बुद्ध की विशाल मूर्तियाँ तथा भित्तिचित्र मिले हैं। यहाँ पर भूर्जपत्र पर लिखित संस्कृत ग्रंथ भी मिले हैं। यह महासांघिक विनयग्रंथ तथा महायान के अभिधर्म ग्रन्थों के अंश हैं। काबुल के उत्तर-पश्चिम खैरखानिह पर्वत पर एक मन्दिर के भग्नावशेष मिले हैं जो गुप्तकालीन मन्दिर की रचना का स्मरण दिलाते हैं। यहाँ श्वेत संगमरमर की सूर्य की एक प्रतिमा भी मिली है जो चतुर्थ शताब्दि की है।

कम्बोडिया (कम्बुजदेश) जो हिन्दचीन मे समाविष्ट है ९०० वर्ष तक भारतीय संस्कृति का एक केन्द्र रहा है। यहाँ संस्कृति के लेख पाये गये हैं। यहाँ के स्थापत्य मे विष्णु, राम और कृष्ण की कथाएँ सचित हैं। भारतीय कला का सौन्दर्य यहाँ निखरा है।

कहाँ तक कहें, दूर-दूर प्रदेशो मे भारतीय ग्रंथ पाये गये हैं। मैक्समूलर के एक जापानी शिष्य ने जापान के एक मन्दिर मे सुखावती व्यूह की पोथी पायी थी। चीन और मंगोलिया में बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृति भी गयी थी। चीन के साहित्य का अध्ययन करने से भारत के सम्बन्ध मे बहुत सी बातें विदित होगी। कुछ काल पहले चीनी पर्यटक क्वांग-क्वग को गया के

संघाराम के आचार्य द्वारा लिखित पत्र और उसका उत्तर प्रकाशित हुआ था। इस सम्बन्ध में यह नही भूलना चाहिए कि बौद्ध धर्म भारतीय था और उसकी संस्कृति भारतीय थी। अवैदिक होते हुए भी बौद्ध और जैन धर्म का कर्म तथा कर्मफल में विश्वास था और दोनों नास्तिकवाद का खण्डन करते थे। पुन. भारत के सब मोक्षशास्त्र चिकित्साशास्त्र के तुल्य चतुर्व्यूह हैं। हेय, हान, हेय हेतु और हानोपाय, यह चार सब मोक्षशास्त्रों के प्रतिपाद्य हैं। यही चार व्यूह योगसूत्र में हैं। न्याय के यही चार अर्थपद हैं अर्थात् पुरुषार्थ स्थान हैं। बुद्ध के यही आर्यसत्य हैं। इन्हीं चार अर्थपदों को सम्यक् रीति से जानकर निःश्रेयस की अथवा निर्वाण की प्राप्ति होती है। सब अध्यात्म विद्याओं मे इन चार अर्थवेदों का वर्णन पाया जाता है। सभी शास्त्र समान रुप से स्वीकार करते हैं कि तत्वज्ञान अर्थात् सम्यग् दर्शन योग की साधना के बिना नहीं होता। न्याय दर्शन में कहा है कि समाधि विशेष के अभ्यास से तत्वसाक्षात्कार होता है।

यह आत्म-संस्कार की विधि है। जन्मान्तर मे उपचित धर्म प्रविवेक से योगाभ्यास का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। यह धर्मवृद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है (प्रचय काष्ठागत) और उसकी सहायता से समाधि-प्रयत्न प्रकृष्ट होता है। तब समाधिविशेष उत्पन्न होता है। वैशेषिक सूत्र में भी कहा है कि आत्मकर्म से मोक्ष होता है। आत्मकर्म के अन्तर्गत श्रवण, मनन, योगाभ्यास, निदिध्यासन, आसन, प्राणायाम और शम्-दम हैं। योग की साधना बौद्ध, जैन दोनों धर्मों में पायी जाती है। प्राणायाम से काम और चित्त की प्रश्रब्धि होती है और जिस प्रकार न्यायशास्त्र प्राणायाम और अशुभ संज्ञा की भावना को विशेष महत्व देता है उसी प्रकार बौद्धागम में भी उनको विशिष्ट स्थान दिया गया है। इनसे काम राग का प्रहाण और नाना प्रकार के अकुशल वितर्कों का उपशम होता है। मैत्री भावना का भी माहात्म्य विशिष्ट है। इस प्रकार योग की साधना वैदिक तथा अवैदिक धर्मों को एक सूत्र मे बाँधती है और यह साधना सबको समान रुप से तभी स्वीकार हो सकती थी जब सबके मौलिक विचारों में भी किसी न किसी प्रकार का सादृश्य हो। मेरी धारणा है कि विविध सम्प्रदायों के होते हुये भी यदि हमारे देश से धर्म के नाम पर रक्तपात नहीं के तुल्य हुये हैं तो उसका एक कारण यह भी है कि इनकी मोक्ष की साधना समान रही है और जिस युग में भक्ति मार्ग का

चाहिये। विज्ञान की सहायता के बिना यह साधारण सा कार्य भी नहीं हो सकता। जो पोथियाँ जीर्ण-शीर्ण हो रही हैं उनकी रक्षा का एक मात्र उपाय उनका चित्र लेना है। माइक्रोफिल्म और फोटोस्टेट कैमरा की सहायता से यह कार्य सुकर हो गया है, इस सम्बन्ध में मुझे एक निवेदन करना है कि गवर्नमेंट को इण्डिया आफिस लाइब्रेरी मे संगृहीत भारतीय पुस्तको की वापसी की चेष्टा करनी चाहिये। समाचार पत्रो से ज्ञात होता है कि ऐसी कुछ चेष्टा की जा रही है। यदि यह सत्य है तो यह परम संतोष का विषय है। इगलैन्ड के अतिरिक्त अन्य देशों में जो ग्रंथ गये हैं उनका चित्र प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिये। एक ऐसा भी कानून बनाना चाहिये कि भारत से बाहर कोई प्राचीन ग्रंथ, चित्र या कला की वस्तु न जावेगी।

मेरी संस्कृत विश्वविद्यालय की कल्पना यह है कि यहाँ प्राचीन शास्त्रों के स्वाध्याय-प्रवचन के साथ-साथ गवेषणा की पूरी व्यवस्था की जाय और इस सम्बन्ध में जिन भाषाओं और नवीन शास्त्रों की शिक्षा की आवश्यकता हो उसका भी प्रबन्ध किया जाय। इस गवेषणा के कार्य में पुरातन और नवीन शैली, दोनों के विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया जाय तथा विद्यालय से निकले हुये आचार्यों को छात्रवृत्ति देकर अन्वेषण के कार्य के लिये तैयार किया जाय। यहां ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे अन्य विश्वविद्यालयो के विद्वान यहाँ आकर अनुसन्धान के कार्य में योग दे सकें। किन्तु इस व्यवस्था से पूरा लाभ तभी होगा जब यहाँ के पाठ्यक्रम में उचित परिवर्तन किये जायेंगे। आज के युग में पुरानी पद्धति की संस्कृत की शिक्षा तभी अपने उद्देश्य को चरितार्थ कर सकती हैं जब शास्त्रों की शिक्षा के साथ-साथ मौलिक शिक्षा की भी व्यवस्था की जाय। प्रत्येक विद्यार्थी को केवल अपनी जीविका का ही उपार्जन नही करना है किन्तु उसे एक नागरिक के कर्तव्यो का भी पालन करना है और इससे भी बढ़कर उसे मनुष्य बनना है और मनुष्य भी पुराने का युग का नही, आज के युग का जब समाज ने अपने सामजस्य को खो दिया है, जब विचारों में संघर्ष चल रहा है और एक प्रकार की अनिश्चितता है जिसके कारण जीवन के प्रति कोई स्पष्ट और उत्कृष्ट दृष्टि नहीं बन पाती। वह मनुष्य क्या है जो अपनी मातृभाषा के साहित्य से परिचित नहीं है, जो एक शास्त्र का विशेषज्ञ होने के लोभ में अपने साहित्य और कला की अमर कृतियों की उपेक्षा करता हैं? वह मनुष्य क्या है जो संसार के इतिहास से अपरिचित हैं, जिसको

वर्तमान समस्याओं और घटनाओं का ज्ञान नहीं है ? वह अपने विषय का विशेषज्ञ हो सकता है। यदि वह विज्ञान का विद्यार्थी है तो वह कुशल शिल्पी हो सकता है, यदि वह संस्कृत का शास्त्री या आचार्य है तो वह पैरोहित्य या अध्ययन का कार्य कर सकता है, किन्तु दोनों दूसरो का उपकरण ही बन सकते हैं और समाज और राजनीति के संचालन मे वह अपने को असमर्थ पाते हैं। इसका कारण यह है कि अपने धन्धे को जानते हैं किन्तु शिक्षा और जीवन के परम उद्देश्य को नहीं जानते। उनकी दृष्टि व्यापक नहीं है और न उनकी शिक्षा का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उनको जीवन के विविध क्षेत्रों के लिये सामान्यरूप से तैयार करें। इसलिए प्रत्येक विद्यार्थी के लिये ऐसी पाठ्य-पद्धति होनी चाहिए जिसके द्वारा यह सामान्य किन्तु परमावश्यक ज्ञान उसको दिया जा सके। इस दृष्टि से डाक्टर भगवानदास समिति के अभिस्तावों तथा निष्कर्षों का मैं सामान्य रूप से स्वागत करता हूं। नवीन विषयों के समावेश की बात दूर रही, वर्तमान प्रणाली के अनुसार संस्कृत वाङ्मय का भी एकांगी अध्ययन ही हो पाता है।

अतः पाठ्यक्रम के क्षेत्र को दो प्रकार से हमें विस्तृत करना चाहिए। एक संस्कृत विद्या की पाठ्यविधि को व्यापक और सर्वांगीण बनाना। दो—पाठ्यविधि मे आधुनिक विषयों का यथा, हिन्दी, इतिहास, भूगोल, राजशास्त्र, गणित का समावेश करना। साथ-साथ विद्यार्थियों मे तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति उत्पन्न करना चाहिए। इन सिद्धांतों के आधार पर पाठ्य-पद्धति का पुनर्निर्माण होना चाहिये किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान के गांभीर्य मे कमी न हो तथा गाम्भीर्य की रक्षा करते हुए आवश्यक मात्रा में उसका विस्तार भी हो। जितना आधुनिक ज्ञान एक साधारण विद्यार्थी के लिये नितान्त आवश्यक है उतना तो संस्कृत पाठशालाओं के छात्रों को भी अर्जित करना चाहिए।

मैं एक दूसरे आवश्यक कार्य की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं, यह है संस्कृति वाङ्मय का हिन्दी मे अनुवाद। यदि हिन्दी भाषा मे हमारे प्राचीन ग्रंथ रत्नों का अनुवाद प्रस्तुत हो तो इससे भारतीय संस्कृति के प्रचार में बड़ी सहायता मिलेगी। आधुनिक भाषाओं की आप उपेक्षा नहीं कर सकते। सारा राज-काज इन्हीं भाषाओं में होने जा रहा है। धीरे-धीरे राष्ट्रभाषा विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हो जायेगी। आपको मातृभाषा का तिरस्कार

नहीं करना चाहिये। अब यह समय नहीं रहा जब किसी लेखक या कवि से प्रश्न किया जाय कि तुम संस्कृत का परिहार कर हिन्दी में गद्य या काव्य रचना करने में क्यों प्रवृत्त हुये हो। इसका उत्तर राजशेखर और गोस्वामी तुलसीदास जी दे गये हैं। राजशेखर के अनुसार संस्कृत बन्ध परुष है और प्राकृत बन्ध सुकुमार है। वह आगे चलकर कहते हैं कि उक्ति विशेष ही काव्य है भाषा चाहे जो हो। राजशेखर के समय में संस्कृत काव्य कृत्रिम और क्लिष्ट हो गया था, यह उसके ह्रास की अवस्था थी। रामायण, महाभारत, महाभाष्य और शंकरभाष्य की शैली भुला दी गयी थी, काव्य का प्रसाद गुण विलुप्त हो गया था। भामह का कहना है कि काव्य को क्लिष्ट और दुरूह नहीं होना चाहिए, उसके समझने के लिये किसी टीका की आवश्यकता न होनी चाहिए। वह इतना सरल हो कि साधारण पढ़े-लिखे लोग, बालक और स्त्रियाँ भी उसे समझ सकें। गद्य का प्राण ओज है (ओजः गद्यस्य जीवितम्) जब संस्कृत किसी भी वर्ग की बोलचाल की भाषा न रह गयी तो उसमे कृत्रिमता का आ जाना स्वाभाविक है। तब पाण्डित्य प्रदर्शन ही एक-मात्र काव्य-रचना का उद्देश्य रह गया और काव्य हृदयग्राही न रहा। माधुर्य और प्रसाद गुण मातृभाषा के साहित्य में ही सुगमता के साथ आ सकता है। अतः मातृभाषा में साहित्य-सर्जन करने में हमको गौरव का अनुभव करना चाहिए।

मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार यह बताने की चेष्टा की है कि संस्कृत विश्व-विद्यालय का क्या उद्देश्य और क्या कार्यक्रम होना चाहिए। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस विश्वविद्यालय मे उन सब विषयो के अध्ययन की व्यवस्था साधारणतः करने की कोई आवश्यकता नहीं है जिनका प्रबन्ध अन्य विश्वविद्यालयो में होता है। वहाँ का पठन-पाठन अब राष्ट्रभाषा में होगा। अतः जिनको उन विषयों की शिक्षा लेनी है वह वहाँ जा सकते हैं। इसकी सुविधा अवश्य होनी चाहिए किन्तु संस्कृत विश्वविद्यालय का एक विशेष लक्ष्य है। जिसकी पूर्ति अन्य विश्वविद्यालयों मे नहीं हो रही है। एक प्रकार से यह विद्यालय भी है और प्राच्य विद्या के अन्वेषण का एक प्रतिष्ठान भी है। ज्ञान-राशि अनन्त है, उसकी सीमा नही है। इधर अनेक नवीन शास्त्रो की प्रतिष्ठा हुई है और ज्ञान का विस्तार इतना बढ़ गया है कि बिना अन्तर राष्ट्रीय सहयोग के गवेषणा का कार्य दुष्कर हो गया है। ज्ञान के सदृश दूसरी

पवित्र वस्तु नही है। अत. विदेशियो से उसके लेने में सकोच नही होना चाहिए। प्राचीन काल में भी हमने स्वाध्याय और प्रवचन मे कृपणता नही दिखायी थी। आज भी हमको उसी उदार बुद्धि तथा व्यापक दृष्टि से काम लेना चाहिए। इसी में हमारा मगल है। इसी प्रकार भारत की सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का उन्नयन होगा।

संस्कृत का आदर और सम्मान अधिकाधिक बढता जायगा। संसार के प्रत्येक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में संस्कृत की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया है। पाश्चात्य जगत के विद्वान गवेषणा के कार्य मे हम से कहीं आगे बढ़े हुए हैं, उनमें ज्ञान की पिपासा है; जहाँ से ज्ञान मिल सकता है वहाँ से लेने में उनको तनिक भी संकोच नहीं होता। हम मे या तो मिथ्या गर्व और चित्तोद्रेक है अथवा आत्मावसाद है। दोनों का परिहार कर सस्कृत वाङ्मय के सरक्षण और प्रचार में हम को प्राणपण से लग जाना चाहिए। जो विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त कर उपाधि ले रहे हैं उनका इस विषय में विशेष उत्तर दायित्व है।

□

समाजवाद का सांस्कृतिक स्वरूप

आचार्य नरेन्द्र देव

नैतिक तथा आध्यात्मिक विष्टिता प्राप्त करने का प्रयत्न करना वर्ग-संघर्ष का अविच्छेद्य अंग है। इस पर समाजवाद के प्रमुख नेताओं ने निरन्तर जोर दिया है। मार्क्स ने लिखा कि मजदूरों के लिए मजदूरी में वृद्धि होना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि वर्ग-संगठन, एकता तथा अपने उद्देश्यो के लिए त्याग आवश्यक है। रोजा लुक्समबर्ग ने एक अवसर पर कहा था कि समाजवाद रोटी-मक्खन का सवाल नहीं है किन्तु एक विश्वव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन है। यदि मजदूर वर्ग को इतिहास ने समाजवाद का उपकरण बनाया है, यदि समाजवाद की स्थापना करना उसका इतिहास निर्दिष्ट काम है तो इसमें सन्देह नही कि मजदूर वर्ग को बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये अपने को तैयार करना होगा। यदि यह सत्य है कि पूंजीवाद और विज्ञान उन अवस्थाओं को उत्पन्न करता है जो समाजवाद की स्थापना को सम्भव बनायेंगी तो यह भी कुछ कम सत्य नहीं है कि मजदूर वर्ग को इस कार्य के लिये एक उपयुक्त साधन बनना होगा। यह कार्य बिना शिक्षा-दीक्षा के नही हो सकता। नया समाज वर्ग-विहीन होगा और उसका आधार सच्ची स्वतन्त्रता, समानता, समाज के न्याय और भ्रातृत्व है। यह कितना ऊँचा आदर्श है, यह एक नवीन सस्कृति को जन्म देगा। जब तक मजदूर वर्ग उस संस्कृति को आत्मसात नही कर लेता जिसकी सृष्टि मध्यम वर्ग ने की है तथा उसकी कमियों को दूर कर विश्व कुटुम्ब के आधार पर नये समाज का संगठन नही करता तब तक समाजवाद की स्थापना सम्भव नही है। समाज के परिवर्तन में मानव का ऊँचा स्थान है। नये समाज के लिये नया मानव चाहिये। उसको चरित्र बल और ज्ञान बल दोनों चाहिए। यदि सच्चे समाजवाद की स्थापना मे विलम्ब हो रहा है या उसका विकृत रूप पाया जाता है तो उसका एक कारण यह भी है कि मजदूर वर्ग की बौद्धिक और नैतिक शिक्षा हो नहीं रही है। मध्यम वर्ग के पास धन और

ज्ञान दोनों था इसलिए उसे सामन्तशाही का अन्त करने में अधिक समय नहीं लगा। किन्तु मजदूर वर्ग दरिद्र और अनपढ़ दोनों है इसलिए नवीन संस्कृति का प्रेरक और संस्थापक बनना उसके लिए एक दुष्कर कार्य है। इसमें बहुत समय लगता है। इस कमी के कारण उसको बुद्धजीवी वर्ग पर आश्रित होना पड़ता है। बुद्धजीवी वर्ग दो भागों में बंट जाता है। एक भाग पूँजीवाद का समर्थक होता है, दूसरा भाग अपने वर्ग की विशेषता को खोकर मजदूरों से अपना तादात्म्य स्थापित कर उनका नेतृत्व ग्रहण करता है। इसलिये किसी पिछड़े हुए देश में समाजवादी पार्टी को बुद्धजीवी वर्ग की सहायता विशेष रूप से अपेक्षित होती है। ऐसे देशों में समाजवादी पार्टी इस वर्ग की उपेक्षा नहीं कर सकती क्योंकि उसकी सहायता के बिना मजदूर वर्ग पंगु बना जाता है। किन्तु इसमें एक खतरा भी है। बुद्धिजीवी वर्ग मजदूरों को बहका भी सकता है। यदि नेता अवसरवादी हुए तो आदर्श भ्रष्ट हो जाता है और समाजवाद का लक्ष्य तिरोहित होने लगता है। इस अवस्था में भी मजदूरों की सांस्कृतिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

समाजवाद की लड़ाई मजदूर वर्ग के नैतिक उत्कर्ष की अपेक्षा करती है। यदि हम नैतिक आधार पर पूंजीवाद को घृणित बताते है तो हमको एक नैतिक स्तर पर समाज को एक नवीन दृष्टि देनी चाहिए।

वस्तुस्थिति यह है कि समाजवाद का अर्थ केवल उत्पादन के साधनों का समाजीकरण नहीं है किन्तु अपने जीवन का भी समाजीकरण है। एक समाजवादी केवल अपने और अपने कुटुम्ब के लिए नहीं जीता है किन्तु सकल समाज के लिए जीता है। उसका हृदय उदार और विशाल होता है और मानवी पीड़ा का वह वैसे ही हिसाब रखता है जैसे भूकम्प-मापक यंत्र मृदु से मृदु कम्प का। समाजवाद में सदा नैतिक अंश की प्रधानता रही है मार्क्स का दर्शन और अर्थ शास्त्र पंडितों के लिए है। उसका अपना महत्व है इसमें सदेह नहीं। उससे नेतृवर्ग में दृढ़ता आती है और समाजवाद की सफलता में अटल विश्वास उत्पन्न होता है। उसकी सहायता से वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है और मार्ग पर प्रकाश पड़ता है। किन्तु साधारण जन उसके आदर्शों से प्रभावित होकर उसकी ओर आकृष्ट होता है, मानव का शोषण और उत्पीड़न शोषित के साथ सहानुभूति उत्पन्न करता है और समानता की भावना जो प्रत्येक मानव

हृदय में पायी जाती है और समानता तथा स्वतन्त्रता के लिये आत्मत्याग करने के लिये साधारण जन को तैयार करती है। क्षुद्र से क्षुद्र मनुष्य इस नवीन बल से बलिदान होकर शक्तिशाली राज्य की नींव को हिलाने के लिए, और बड़ा से बड़ा बलिदान देने को तैयार हो जाता है।

यह नैतिक बल महान भय से रक्षा करता है। यह एक कवच की तरह काम करता है जो राज्यशक्ति के प्राप्त होने पर शासक वर्ग को राज्य सत्ता के भेद से दूर रखता है। आज के युग में शक्ति की पूजा बहुत बढ़ गयी है और अधिकतर लोलुपता के कारण शासक वर्ग मे परस्पर का विद्वेष, वैमनस्य और संघर्ष पाया जाता है। इसके फलस्वरूप जीवन के सामाजिक और अध्यात्मिक मूल्य भी नष्ट हो गये है। किन्तु पहले ऐसी बात न थी। जो लोग एक नये आन्दोलन की सृष्टि करते हैं उनमें आदर्शवादिता अधिक मात्रा में पायी जाती है। किन्तु जब आन्दोलन को सफलता मिलने लगती है और उसके फल चखने का अवसर आता है तब परस्पर की कलह और प्रतिस्पर्द्धा बढ जाती है। शक्ति और अधिकार के लिए होड़ लग जाती है। सच्चे समाजवाद की स्थापना ऐसे लोगों के द्वारा नहीं हो सकती। किसी भी समाज के जीवन में ऐसे अवसर आते रहते हैं जब समाज का एक भाग व्यक्तिगत क्षुद्रता से ऊपर उठ जाता है, जब उसमे किसी आदर्श या लक्ष्य के लिए जीवन अर्पण करने तथा बड़े से बड़ा त्याग करने की भावना प्रबल होती है। समाज के इतिहास में यही उज्जवल युग होते हैं। उस समय समाज का वातावरण एक नवीन उत्साह, एक नवीन विचार और कल्पना से ओतप्रोत होता है। उस समय सबको ऊपर उठने का अवसर मिलता है। समाज एक ऊँचे स्तर में प्रवेश करता है और एक नये युग के प्रर्वतक आगे आते हैं। नवयुवक इस वातारण से विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। नये स्वप्न, नई कल्पनाएँ युवकों को आकृष्ट करती हैं। नये विचारों की चर्चा हर जगह होती है। ज्ञानोपार्जन की उत्सुकता बढ जाती है और प्रत्येक युग अपना साहित्य प्रस्तुत करता है। समुद्र मे जब ज्वार-भाटा आता है तब वह उल्लोडित होता है उसमे तरगें उठती हैं उसका जल मानों चन्द्रमा को छूने के लिये विकल हो उठता है। उसी प्रकार क्रान्ति के युग में मानव हृदय में उद्वेग उत्पन्न होता है वह अपनी क्षुद्र सीमा का अतिक्रमण कर सकल समाज को व्याप्त करना चाहता है और अगाध समुद्र की तरह असीम होना चाहता है।

अधिनायकत्व ने जीवन के सब मूल्यों को विनष्ट कर दिया। वह समाजवाद भी जिसकी आधारशिला नैतिकता थी अब नैतिक जीवन का मज़ाक उड़ाने लगा। साधन की पवित्रता कोई बात ही नही रही। सत्य ही सब कुछ है, उसके लिये सब साधनों का उपयोग किया जा सकता है। यदि साध्य की प्राप्ति होती है तो मानना पड़ेगा कि साधन ठीक हैं। किन्तु लोग यह भूल गये कि इसका क्या ठीक है कि कब साध्य की प्राप्ति होगी। साध्य की प्राप्ति मे कभी-कभी सदियां गुजर जाती हैं। नैतिकता के इस ह्रास के कारण समाजवाद का विकृत रुप हो गया व राजनीति शक्ति पाने का अखाड़ा मात्र बन गयी। झूठ के प्रचार के लिये एक प्रचण्ड अस्त्र का निर्माण किया गया।

□

राष्ट्र रचना का संदेश

आचार्य नरेन्द्र देव

हमारे ऊपर दो युगों के कर्तव्य का भार आ पड़ा है। हमें राजनीतिक स्वतंत्रता बहुत देर में ऐसे युग में मिली है जबकि राष्ट्रीयभावना जनतान्त्रिक समाजवाद के द्वारा पराभूत हो चुकी है। एक अर्थ में यह अच्छा है, क्योंकि इससे राष्ट्रीयता की अति नहीं हो सकती।

जाति बहुत पुरानी प्रथा है। बहुत सी सामाजिक क्रान्तियों के बाद भी यह जीवित है और इसकी जीवनी-शक्ति आश्चर्यजनक है। जो आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं वे इसे दुर्बल बना रहे हैं, परन्तु इस प्रक्रिया की गति फिर भी धीमी है। वस्तुतः क्योंकि हमारी जनता को स्वराज्य का उद्देश्य और अर्थ अच्छी तरह नहीं समझाया गया है, स्वतन्त्रता के बाद जाति भावना सुदृढ़ ही हो रही है। आधुनिक युग में जाति-प्रथा काल विपरीत है। यह जनतन्त्र और राष्ट्रीयता दोनों के विरुद्ध है। इसलिये हम, वर्तमान पीढ़ी के लोगों को, राष्ट्रीयभावना को सुदृढ़ करना चाहिये। केवल वही सम्प्रदायवाद और जातिवाद की बुराइयों को रोक सकती है। हमे केवल वर्गविहीन ही नहीं बल्कि जातिविहीन समाज के लिये भी प्रयत्नशील होना चाहिये। हमें सावधानी से राष्ट्रीय भावना पैदा करना चाहिये। यह आवश्यक है कि हमारा एक सामान्य चिह्न और सामान्य लक्ष्य हो जिससे विभिन्न जातियो और समूहों के लोग अपनी एकता का अनुभव कर सकें। एक भाषा, एक कानून, एक पोशाक, और कुछ समान व्यवहार राष्ट्रीय भावना को दृढ़ करने में बहुत बडे सहायक बन सकते हैं। इन सबके ऊपर कुछ ऐसे समान उद्देश्य जनता के सामने रखे जाने चाहिये जिनमें सभी सम्प्रदायों की समान रुचि हो, और जिनकी सिद्धि के लिये वे घनिष्ट सहयोग के साथ प्रयास करें।

इसका यह अर्थ नहीं, और न यह आवश्यक या वाञ्छनीय ही है कि सारी अनेकता या विविधता समाप्त कर दी जाय। लोग अपने धार्मिक विश्वासों

और सांस्कृतिक शैलियों के प्रति बड़ा आग्रह रखते हैं। हम उनमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते सिवाय इसके कि धर्म के नाम पर भी असभ्य और अनैतिक प्रथाओं और आचारों को सहन नहीं किया जा सकता। किन्तु सारे देश में एक ही कानूनी और आर्थिक पद्धति स्थापित होनी चाहिये। हिन्दू उत्तराधिकार तथा विवाह सम्बन्धी कानून का संशोधन हुआ है। अच्छा होता है कि हम इन कानूनो को सभी धार्मिक सम्प्रदायों के लिये बनाते और यह व्यवस्था कर देते कि फिलहाल वे मुसलमानो और इसाइयों पर लागू न होंगे। जनजातियों के लिये अवश्य काफी समय तक भिन्न व्यवस्था करनी होगी।

हिन्दी इसलिये राष्ट्र भाषा स्वीकृत नहीं हुई है कि उसका साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से अधिक सम्पन्न है, न इसलिये कि वह किसी अधिक उन्नत संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु इसलिये कि उसका प्रादेशिक विस्तार अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक है। उसके विस्तार में अहिन्दी राज्यों के मुसलमान निवासियों के द्वारा, हिन्दी भाषी मजदूरों के द्वारा जो कि भारत के अन्य भागों में जीविकोपार्जन के लिये चले गये हैं, और हिन्दुस्तानी चल चित्रों के द्वारा सहायता मिली है। किन्तु हिन्दी के समर्थकों को स्मरण रखना चाहिये कि उनके लिये अपने विचारहीन व्यक्त्यों के द्वारा दूसरों की भावनाओं को ठेस पहुंचाना उचित नहीं है और न तो हम उन लोगों पर हिन्दी को जबरदस्ती लाद सकते हैं जो आज उसे स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं। यह विनम्रता के भाव से होना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दी की उन्नति सौजन्यपूर्ण रीति से ही हो सकती है न कि प्रभुत्व की भावना के प्रदर्शन से।

दूसरा आवश्यक सुधार एक समान लिपि को स्वीकार करना है। सब लोग चाहते है कि आज का शिक्षित भारतीय एक से अधिक भारतीय भाषाओं को जाने। किन्तु जब तक अनेक लिपियां रहेंगी तब तक यह इच्छा कार्य रूप में परिवर्तित नहीं हो सकती। यदि हम एक लिपि को अपना लें तो हिन्दी भाषी लोग कम से कम उत्तर भारतीय भाषा को कुछ ही महीनों में सीख सकते हैं। कुछ लोगों को दक्षिण भारतीय भाषायें भी विशेषकर तामिल भाषा सीखनी चाहिये। अन्य साहित्यों के कुछ श्रेष्ठ ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी को सम्पन्न करना चाहिये।

हमारी संस्कृति के बारे में बहुत भ्रामक धारणायें हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने को इस विषय पर बात करने का अधिकारी समझता है। हमारे देश में इस विषय पर जो भी बातें चल रही हैं वे अनुदारवाद को सुदृढ़ करती हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि बहुत से पुराने विचार के काल प्रवाह से जीर्ण और अनुपयोगी हो गये हैं उनका परित्याग करना चाहिये। परन्तु कुछ ऐसे तत्व हैं जो सुरक्षित रखने योग्य हैं और जिन पर जोर देने की आवश्यकता है। उनका कुछ आधुनिक विचारों के समर्थन में भी उपयोग किया जा सकता है। हमारे सम्मुख अपनी संस्कृति का सतर्क और वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने, उसके जीवन-पूर्ण तत्वों की सुरक्षा और आधुनिक विचार से उनका सामंजस्य स्थापित करने का कार्य है।

ये कुछ कार्य हैं जो राष्ट्रीयता के युग के फ्रांसीसी क्रांति से शुरू हुआ, अनुकूल है। वह पूंजीपतियों के शासन का युग था जब कि राष्ट्रवाद पदासीन हुआ। और पूंजीवाद ने धीरे-धीरे सामन्तवाद का स्थान लिया। बहुत से देशों का औद्योगीकरण हुआ और त्वरितगति से पूंजी का निर्माण हुआ। परन्तु साथ ही भारत जैसे देश, जो कि दौड़ में पीछे रहे, इस काल मे स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सके और उन्हें समाजवादी युग प्रारम्भ होने तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, उनके सम्मुख आज समाजवादी समाज बनाने की समस्या है।

नया युग 1917 की रूसी क्रांति से प्रारम्भ हुआ। रूसी क्रान्ति, फ्रांसीसी क्रान्ति से कम निणयिक नहीं थी। जनता ही सब से बड़ी क्रान्तिकारी शक्ति रही है। भूतकाल में राजाओं, सामन्तों और पूंजीपतियों सभी ने अपनी लड़ाइयां जीतने के लिये उससे समझौता किया परन्तु अपने उद्देश्य की पूर्ति के बाद उसे अलग कर दिया। रूसी क्रान्ति के समय इतिहास में प्रथम बार विश्व के रंग मच पर, जनता ने सहकारी नहीं बल्कि प्रमुख के रूप में भाग लिया। इसने विश्वभर में जनता की मनोदशा को बदल दिया। वस्तुतः यह एक नई सभ्यता का प्राक सूचक था, परन्तु यदि वह सभ्यता कुछ अंशों में पथभ्रष्ट हुई तो इसका कारण यह था कि क्रान्ति के नेताओं ने विजय के उपरान्त देश को असुरक्षित पाया उनके सम्मुख विदेशी आक्रमण और गृहयुद्ध का भय था। उन्होंने सदैव अपने सम्मुख जीवन के उन महान उद्देश्यों को नहीं रक्खा जिनके लिये क्रान्ति हुई थी। सोवियत रूस की बहुत सी अच्छी उपलब्धियां हैं। सोवियत प्रयोग हमे बहुत सी बातों की शिक्षा दे सकता है। हम उसकी सफलता

और सफलता दोनों से सीख ले सकते हैं। परन्तु यह तभी सम्भव है जब हम इनके कार्यों का बिना किसी पूर्व धारणा के ठीक-ठीक मूल्यांकन करें। मेरा उन्मान सदैव ही आलोचनात्मक रहा है परन्तु मेरी सहानुभूति सदैव सोवियत रूस के साथ रही है। और यदि मैंने कभी उसके कुछ कार्यों और नीतियों की जोरदार आलोचना की है तो उसे बदनाम करने के लिये नहीं बल्कि इसलिये कि मुझे बहुत दु:ख होता है कि उसने एक महान अवसर खो दिया, विशेषकर पिछले महायुद्ध के बीच और उसके बाद, एक दुर्दमनीय नैतिक शक्ति होने का, जिसने न केवल उसकी शत्रुओं से रक्षा की होती बल्कि उन विचारों को बढ़ाने में बहुत सहायक हुई होती जिनका प्रारम्भ में इसने पक्ष लिया था।

समाजवाद नये युग का शुभ-संदेश है। हम प्रजा सोशलिस्टपार्टी के लोगों को, अपने इस पुरातन देश में इस शुभ सन्देश का प्रचार और तदनुसार एक नव-समाज की रचना को अपने जीवन का उद्देश्य बनाना है।

हमारा देश अविकसित है और अपनी आर्थिक योजनाओं की वित्त व्यवस्था के लिए हमारे पास आवश्यक साधन नहीं है। इसलिये हमें सदैव त्याग का नियम लागू करना होगा, परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि देश के लोगों को यह विश्वास हो जाय कि श्रेष्ठतर भविष्य के लिये आज का त्याग आवश्यक है। परन्तु सरकारी योजनाओ के लिये जन-उत्साह जागृत करने के लिये कुछ भी नहीं किया जा रहा है। पिछले सात वर्षों में जनता में नई स्वतन्त्रता की भावना भरने मे सरकार की असफलता स्पष्ट है। लोग यह नहीं अनुभव करते कि उनके लिये कुछ भी ऐसा हुआ है जिसने उनके व्यक्तित्व को कोई विशेष अर्थ और महत्व प्रदान किया हो। वे राष्ट्र निर्माण कार्य में भागी होने के गौरव का अनुभव नही करते हैं और जब तक ऐसा नहीं होता है योजनायें चाहे वे कितनी भी शब्दाडम्बर पूर्ण क्यों न हों, सफल नही होंगी। यह यथार्थ है कि जब तक साधारण नागरिक जन-जीवन से स्पन्दित नहीं होता वह सहयोग नही करेगा और पूर्व की भांति उदासीन तथा विनिष्क्रिय बना रहेगा।

भारतवर्ष में गाँधी जी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने किसी भी राष्ट्रीय संग्राम में जनता के महत्व को समझा। उनके पूर्व हमारा शिक्षित मध्यम वर्ग या तो वैधानिक उपायों में विश्वास करता था या षड़यन्त्रकारी कामों में। गाँधी जी ने जनता से अपनी पूर्ण एक रूपता स्थापित की और जब भारत स्वतन्त्र हुआ

तो उन्होंने एक वर्ग-विहीन और जाति-विहीन समाज की स्थापना का प्रतिपादन किया, जो शोषण मुक्त होगा और जिसमे जनता प्रभुसत्ताधारी होगी।

आज हम विश्वास करते हैं कि इस परमाणु-युग मे हिंसा को राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय दोनो ही क्षेत्रों से अस्वीकृत करना है। युद्ध किसी भी समस्या का हल नही है। परमाणु-युग प्रकट करेगा कि वे जो कि अभी भी हिंसा में विश्वास रखते हैं आत्म-प्रवंचक हैं। सह-अस्तित्व, यदि स्वीकार कर लिया गया तो युद्ध के तनावों को कम, और युद्ध को स्थगित करेगा, और इस प्रकार विश्व के समझदार लोगों को शान्ति और युद्ध की समस्याओ का स्थायी हल ढूढ़ने का अवसर देगा। इस स्थायी हल पर नीति घोषणा-पत्र में विचार किया गया है जो आपके सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। जब तक छोटे बड़े, सभी राष्ट्रो, के साथ समानता के आधार पर व्यवहार नही किया जाता, और वर्तमान विषमतायें दूर नही की जाती, जब तक कि धनी राष्ट्र गरीब राष्ट्रो के कल्याण को अपना प्रश्न नही समझते, राष्ट्रीय सघर्ष के कारणो को मिटाया नही जा सकता।

युद्ध कोई हल नहीं है इसलिये इसे गैर कानूनी किया जाना चाहिये। हम एक विचित्र स्थिति देखते है कि युद्ध-काल में शत्रु-देश का विध्वस बड़े पैमाने पर किया जाता है परन्तु जब युद्ध समाप्त होता है तो विजयी राष्ट्र लाखो रुपया खर्च करके उन्हीं घावो के भरने और विजित राष्ट्रों की अर्थ व्यवस्था ठीक करने की आवश्य‹ता का अनुभव करने लगते हैं। यह स्पष्ट हो चुका है कि युद्ध से विजयी राष्ट्रों का कोई स्थायी लाभ नहीं होता। यदि कोई देशार्जन होता भी है तो स्थायी होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि युद्ध केन्द्र-व्याव हारिक प्रस्ताव भी नही है।

राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हिंसा का प्रयोग उपयोगी नही होगा। वैज्ञानिक अवि-ष्कारो के कारण शासकदल की सैनिक शक्ति बहुत बढ़ गई है, जो जनता द्वारा अपनाये गये, युद्ध मार्ग को, जब कि वह स्थापित सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करती है, अर्थहीन बना देती है। दूसरी तरफ विश्व-घटनाओं के दबाव तथा मजदूर और अन्य आन्दोलनो के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण शासकवर्ग प्रत्येक स्थान पर जनता को अधिक सुविधायें प्रदान करने के लिये विवश हो रहा है, जब कि स्वतन्त्र देशों में बालिग मताधिकार के साथ जनतान्त्रिक सविधान अपनाये जा रहे हैं। भविष्य जनतांत्रिक समाजवाद के साथ है। इसमें सन्देह नहीं कि आज जो दो

शक्तियां संसार पर प्रभुत्व स्थापिय करने के लिए प्रयत्नशील हैं वे कम्यूनिज्म और पूंजीवाद हैं, जनतांत्रिक समाजवादी शक्तिया कमजोर हैं। किन्तु मेरा विश्वास है कि जैसे-जैसे सोवियत नागरिकों का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा होगा और लौह आवरण उठेगा, सोवियत कम्युनिजम अधिकाधिक उदार होगा और जब अपनी प्राचीन सभ्यता का अभिमानी चीन अपने जीवन को अपने ढंग पर संचालित करने की स्थिति में होगा, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में परिवर्तन होने पर अवश्यम्भावी है, तब नई प्रवृत्तियां अवश्य ही उत्पन्न होंगी जो जनतांत्रिक समाजवाद के अधिकाधिक समीप आती जायगीं। यह इसलिए होगा कि मनुष्य अन्ततोगत्वा अपने स्वरूप की स्थापना करेगा और यदि स्वतन्त्रता और जनतांत्रिक भावना उसका स्वरूप नहीं है तो फिर क्या है? वह सदा निरकुंश शासन को सहन नहीं करेगा और न वह उन व्यवस्थाओं को सहन करेगा जो उसे दबाने के लिए बनी हैं। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह आत्म विस्तार के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। परिवार और जन-राज से चलकर हम क्रमशः राष्ट्रीय राज तक पहुंचे हैं और इस बात के स्पष्ट चिह्न लक्षित हो रहे हैं कि हम धीरे-धीरे विश्व-समुदाय की ओर अग्रसर हो रहे हैं। जनतांत्रिक भावना का मूल मानव प्रकृति की गहराईयों में हैं और वह बारम्बार अपने को प्रकट करती है। पिछले दो महायुद्ध जनतन्त्र के नाम पर लड़े गये। मानव जाति के मन पर इस भावना का प्रभाव इतना प्रबल है कि अधिनायतन्त्री देशों को भी जनतन्त्र की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। यही कारण है कि गत महायुद्ध के बाद से नयी कम्यूनिस्ट सरकारें अपने को जनवादी सरकारे कहने लगी हैं। सर्वहारा के, मजदूरों और किसानो के अधिनायकत्व को स्वीकार नहीं किया जाता। साथ ही साथ मूल्यो का पुनर्निर्धारण भी हो रहा है। और आज आर्थिक तथा समाजिक अधिकारों को अधिकाधिक स्वीकृति प्राप्त हो रही है।

मनुष्य बहुत दिनों तक अपने सच्चे स्वरूप से दूर रह चुका है। किन्तु जनता जब एक बार जाग जायगी और शिक्षित हो जायगी तब वह अपने पैर पर खड़ी होगी और अपना प्रभुत्व स्थापित करेगी।

गया
२६ दिसम्बर १९५५

[वक्तव्य से उद्धरित]

शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र विश्वविद्यालय बनें

आचार्य नरेन्द्र देव

जनाब डिप्टी स्पीकर साहब ! एक जमाना था जब राजनीतिक तहरीक देश में थी। गवर्नमेंट के सामने दिक्कतें थी। गवर्नमेंट ने यह सोचा कि विद्यार्थियों को कौमी तहरीक से अलग रखा जाय। यूनिवर्सिटी की आब-वो-हवा बिल्कुल मानसिक होनी चाहिए। उस वक्त की हुकूमतों के सामने यह सवाल आता था कि शिक्षा के तरीके में तबदीली करने की जरूरत है। वह तबदीली यह कि कौमी तहरीक से यहाँ के नौजवानों को अलग रखा जाय। इस समय हमारे सूबे की शिक्षा के तरीके में तबदीलियाँ करने के बारे मे वाद-विवाद हो रहे हैं। उसमें तबदीली करने के लिए प्रस्ताव हो रहे हैं। आपके खास अफसरान शिक्षा को फिर से ठीक करने जा रहे हैं एक प्रैक्टिकल और व्यापारिक सम्मान शिक्षा को देने जा रहे हैं प्राइमरी और सेकेण्डरी श्रेणियो मे। इस बारे मे मुझे यह अर्ज करना है कि यह चीज हुकूमत की तरफ से पास होती है। इसका मुद्दा यह होता है कि तालीम का सिलसिला इस तरह से फैलाया जाये जिससे हमारे नौजवान कौमी तहरीक से अलग रहें। यह बात कौम के सामने मुख्तलिफ शक्लो में रखी जाती है। अंग्रेजी की ऊँची शिक्षा में कमी करना चाहते हैं मगर कौम नही मानती है। वह इस बात को गवारा नहीं करती है कि ऊँची शिक्षा मे किसी प्रकार की कमी हो। इस पर गवनमेंट की तरफ से यह कहा जाता है कि बेकारी को दूर करना है। जो तालीम लड़के हासिल करते है इससे वह कोई फायदा नहीं उठा पाते है यह बिल्कुल गलत है। इसके मानी यह हैं कि राष्ट्र को धोखा देना है, उसकी ताकत को गलत चीज की तरफ ले जाना है। आज अभी मुझे अपने दोस्त मौलवी फसीउद्दीन साहब की बातों को सुनकर बड़ा ताज्जुब हुआ। हमारे लायक दोस्त फरमाते है कि यूनिवर्सिटी शिक्षा में व्यापारिक सम्मान दे दिया जाय। यूनिवर्सिटी को ठीक होना चाहिए जिससे वहाँ जो तालीम दी जाय उससे नौकरी मिल सके। अगर इस किस्म की तालीम

यहाँ दी जाय कि यूनिवर्सिटी की तालीम खत्म करने के बाद विद्यार्थियों को नौकरी मिलने में आसानी हो तो ठीक है। मगर काबलियत वहाँ हासिल नही होगी मेरे अर्ज करने का मतलब यह है कि यूनिवर्सिटी शिक्षा को व्यापारिक सम्मान देना ठीक नहीं है। अभी मेरे एक दोस्त ने फरमाया है कि बेकारी के मसले को हल करने के लिए वहाँ चित्रकारी का विभाग (फैकेल्टी काफ पेंटिंग) कायम होना चाहिए। मुझे यह सुनकर बडी खुशी हुई। मगर गरीब मुल्क मे गरीबी की वजह से तसवीरो का शौक तक नही है। अगर चित्रकारी कला के स्कूल कायम हो जायें तो उससे लोग अपनी रोजी कमा सकेंगे, यह बात गलत है। मैं जनाब की अनुमति से यह अर्ज करूगा कि जब तक राज्य प्रणाली नहीं बदलती है बेकारी का मसला हल नहीं होता हैं। सही तरीका तो यह है कि हुकूमत की शिक्षा नीति में तबदीली होनी चाहिए, यह इससे हमको गाफिल रखना चाहते है। हमारे ख्यालात गलत रास्ते पर डाले जा रहे है। यह कहा जाता है कि यूनिवर्सिटी एजूकेशन को व्यापारिक सम्मान दिया जाय। मै अर्ज करता हूँ कि व्यापारिक सम्मान देने पर विद्यार्थियों के अन्दर काबलियत क्या होगी! मैं मानता हूँ कि थोडे से आदमियो को कालेजों और यूनिवर्सिटियो से निकलकर नौकरी मिल जायेगी। आप कहेंगे कि जरा आप इस रास्ते पर चले तो मै कहूँगा कि इस रास्ते पर चलना यूनिवर्सिटी की सारी मशा को खत्म करना है, अगर उसमे व्यापारिक सम्मान दिया जाता है। दूसरा सवाल यह है कि मुल्क मे रोजी नहीं है। रास्ते सब बन्द है। इसलिये तालिबइल्म को लाजिमी है कि दस्तकारी की शरण लें तो मै यह अर्ज करूँगा कि चंद मध्य श्रेणी के आदमियों को रोजी मिल जायेगी, मगर जो छोटी कौमे हैं, गरीब हैं, गिरी हुई हैं, जैसे लोहार, बढई, उनका रोजगार छिन जायेगा। अगर इस तरीके से उनको नौकरी मिल जाती है तो गवर्नमेट इसको खुशी से मंजूर कर ले। यह कहा जाता है कि यूनिवर्सिटी शिक्षा इस ढग से होनी चाहिए कि नौकरी मिले। मै अर्ज करूँगा कि नौकरी है कहाँ? बार-बार यह सवाल उठा है। मुमकिन है व्यापारिक सम्मान देने से चंद आदमियो को रोजी मिल जाय, मगर वह इतने बड़े मुल्क के लिए जहाँ हर तरफ से बेकारी का सवाल है, काफी न होगा। रोज-बरोज बेकारी बढती जा रही है। मध्य श्रेणी के नौजवानों की बेकारी से लोग हर तरफ से परेशान हैं। गवर्नमेंट यह महसूस करती है कि बेकारी एक दिन इस हद तक पहुँच जायेगी कि शायद एक राजनीतिक क्रान्ति हो

जाय और वह गवर्नमेंट के लिए एक खतरे की चीज होगी। लड़कों के जो सरपरस्त हैं, जो उनकी शिक्षा पर रुपया खर्च करते हैं जब उनके लड़कों को रोजी नहीं मिलती है, वह बेचैन हो जाते हैं कि आगे चलकर उनके लड़कों की क्या हालत होगी। लोग कशमकश में पड़े हैं। लोगों की राय है कि मौजूदा तर्ज-ए-तालीम में तब्दीलियाँ होनी चाहिए क्योंकि मौजूदा तरीक-ए-तालीम के कारण यह सोचनीय परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। जनता और शिक्षा विभाग के अफसरान आज इस बात पर मुत्तफिक हैं कि यह तरीक-ए-तालीम बदलना चाहिए। मेरे कहने का मतलब यह है कि राष्ट्र की सस्कृति का प्रश्न सबसे ज्यादा गैरतलब बात है और राष्ट्रीय सस्कृति की रक्षा यूनिवर्सिटियों द्वारा ही हो सकती है क्योंकि यूनिवर्सिटी ही संस्कृति के केन्द्र हैं।

जिन्दगी के जितने हिस्से हैं उनके लिए साइंस एक बहुत जरूरी चीज है। अगर कौम की तरक्की का लेहाज किया जाय तो हमको चाहिए कि साइंस को अपनावें, और व्यापारिक सम्मान यूनिवर्सिटियो में होने से साइंस में कभी भी तरक्की नहीं होगी हम इसमें कभी भी योग नहीं दे सकते। उस कौम को लानत है जो शिक्षा को तिजारत की निगाह से देखती है। यह कहना गलत है कि मौजूदा तालीम बेकारी का कारण राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सस्थाएँ हैं इनकी वजह से देश में बेकारी और गरीबी फैल रही है। इनमें तब्दीली की जरूरत है। जब तक ये तब्दीलियाँ नहीं होंगी बेकारी दूर नही हो सकती। लेकिन मेरे अर्ज करने का यह मतलब है कि मौजूदा यूनिवर्सिटी शिक्षा के तरीके में खराबियाँ नहीं हैं। जितनी खामियाँ जहाँ हैं मैं उनसे सहमत हूँ उनको दूर करने की जरूरत है। दूसरी चीज यह है कि यूनिवर्सिटियों में जो काम करते हैं वहाँ की आब-व-हवा बिल्कुल गन्दी है। वहाँ भी कुछ लोग अच्छे हैं उनकी मैं इज्जत करता हूँ लेकिन उनकी तादात बहुत कम है। प्रोफेसरों की आम हालत यह है कि वे चाहते हैं कि रुपया कमाना जिस तरह से, जिस काम से मुमकिन हो उसे करें। यह जो मनोवृत्ति है हमें इसके बदलने की जरूरत है। दूसरी बात प्रोफेसरों में गिरोहबंदियाँ हैं। हमें उनको खत्म करना, है। प्रोफेसर गुटबन्दियाँ करते हैं, यूनिवर्सिटी की राजनीति में ज्यादा भाग लेते हैं, और पढाने मे कम। यह सब बातें हैं। ये खराबियाँ हैं जिनको दूर करना है। नये तरीके जारी करना हैं। प्रोफेसरों को चाहिए कि तालीम की तरक्की करें, अनुसंधान करें। साइंस के सच्चे शैदाई हों, लड़कों के सामने अमली

मिसालें पेश करें, और इस बात को साबित कर दें कि उनको आदर्श का ज्यादा ख्याल है और जीवन के तुच्छ लाभों का कम।

तीसरी बात जो मुझे अर्ज करनी है वह यह है कि लखनऊ यूनिवर्सिटी में जो कामर्स विभाग है, उसमें 45,000 रु० सालाना खर्च होता है मगर मुश्किल से महज 67 विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते हैं। कानपुर जो लखनऊ से बिल्कुल करीब है, वहाँ पर अच्छे-अच्छे दो कामर्स के डिग्री कालेज हैं। वहाँ पर लड़के कामर्स में तालीम हासिल कर सकते हैं। मेरी राय मे इन बातों को मद्देनजर रखते हुए लखनऊ यूनिवर्सिटी का कामर्स विभाग बहुत आसानी के साथ तोड़ा जा सकता है और इस तरह से विद्यार्थियों को कोई दिक्कत न होगी और 45,000 रु० की बचत आसानी से हो सकती है। इस तरीके से मैं आपसे अर्ज करना चाहता हू कि एक लाख रुपये की बचत कर सकते हैं। इसीलिए मैं मानता हूँ कि सिस्टम को बदलने की जरूरत है। शिक्षा विभाग के मिनिस्टर शिक्षा के हर स्टेज पर गौर कर रहे है और जो स्कीम पास होगी उसको लेकर आपके सामने आयेंगे।

□

संयुक्त प्रान्त विधान सभा में 9 सितम्बर, 1937 को दिया गया भाषण

लोकतंत्र और स्वतंत्रता

नरेन्द्र देव

हम नौ वर्ष के बाद एकत्र हो रहे हैं। इस बीच ससार के सभी भागो मे व्यापक परिवर्तन हुए हैं। इस महायुद्ध से ब्रिटिश साम्राज्यवाद को महान धक्का लगा है। और उपनिवेशों के लोगों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आन्दोलन अत्यधिक सबल हो गये हैं। राष्ट्रीय तथा क्रातिमूलक चेतना एवं भावनाएँ जनता में बहुत द्रुत गति से परिपक्व हो रही हैं। हमारे अपने देश में जनता में अभूतपूर्व चेतना और क्रियाशीलता दृष्टिगोचर होती है यद्यपि दुर्भाग्यवश प्रतिक्रियावादी नेतृत्व मे ये प्रायः हानिकर एवं अवाछनीय दिशाओं में मुड़ी हुई हैं और इस कारण प्रगतिशील कार्यक्रम के लिए हानिप्रद हुई हैं, किन्तु इन सब बातो से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि जनता मे एक चेतना जागृत हुई है जो इसके पहले कभी नहीं हुई थी और यदि प्रतिक्रियावादी नेतृत्व को उसके वर्तमान शक्ति और प्रभाव के पद से च्युत कर दिया जाय तो जनता क्रान्तिमूलक संघर्ष की ओर ले जायी जा सकती है।

संसार के अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सतुलन तो नष्ट हो ही गया है साथ ही सभी देशों में विभिन्न वर्गों के बीच का साम्य भी आलोडित हो गया है। निम्नतर मध्यम वर्ग के बडे-बड़े भागों का आर्थिक दृष्टि से विनाश सा हो गया है और अब अपनी माँगों के लिए उन्होने हड़ताल के अस्त्र का प्रयोग किया है। महायुद्ध के कारण यूरोप की सबसे अधिक क्षति हुई है। इसकी आर्थिक स्थिति छिन्नभिन्न हो गयी है। विभिन्न दलों का सामाजिक आधार बदल रहा है और प्राचीन बुर्जुआ उदार दल अपने पहले के प्रभाव का बहुत अश खो चुके हैं। सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट दलों की शक्ति बढ़ गयी है और एक नवीन उदार चेता दल जो समाज के पिछड़े हुये अंश का प्रतिनिधित्व करता है, आविर्भूत हो गया है।

इन नौ वर्षों मे प्राप्त अनुभव के आधार पर और हमारे भारतवर्ष में और उसके बाहर महायुद्ध के फलस्वरूप जो व्यापक परिवर्तन हुये हैं उन्हें दृष्टि में रखते हुये हमें अपनी नीति फिर से निर्धारित करनी है। पूंजीवाद अपने आंतरिक विरोधो

का निराकरण नही कर सकता है और फलत उस स्थायी बनाने के सभी प्रयत्नों की विफलता अवश्यम्भावी है। वृहत् चतुष्टय को शान्ति की समस्या का समाधान नहीं प्राप्त हो सका है। एक दूसरे विश्वव्यापी संघर्ष की तैयारियां प्रारभ हो चुकी हैं और राष्ट्रों की नये प्रकार की दलबन्दी हो चुकी है। यद्यपि अभी प्रत्येक देश थका हुआ है, उसे कुछ समय के लिये विश्राम और पुनरुज्जीवन की बड़ी आवश्यकता है और हर जगह लोग रोटी के लिये और शान्ति के लिये चिल्ला रहे हैं, तथापि राज्यों के सूत्रधार और नेता फिर अपने पुराने जघन्य व्यापार में लग गये हैं।

पूंजीवाद के आन्तरिक विरोध ऐसे हैं कि विभिन्न शक्तियो के पारस्परिक सघर्ष और वैमनस्य स्पष्ट होकर ही रहेगे चाहे इसमे अपेक्षाकृत जल्दी हो या देर। समाज के आधार बुरी तरह हिल चुके हैं और शासक वर्ग नही जानते कि इन परिवर्तित दशाओ में शासन कार्य कैसे चलावें। उससे नवीन दशा के साथ अपना सामञ्जस्य बैठाते ही नहीं बनता और उसमें यह क्षमता किवा दूरदर्शिता है ही नही कि वह नयी विपत्तियों पर समाज का निर्माण कर सके। आये दिन स्पष्ट होता जा रहा है कि जब तक सम्पत्ति सम्बन्धी वर्तमान नियम आमूल परिवर्तित नही किये जाते तब तक संसार में स्थायी शान्ति नहीं स्थापित हो सकती। नवीन युग का सूत्रपात हो रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि समाजवाद के चरितार्थ होने की घड़ी आ ही गयी है तथापि कुछ दुर्निवार प्रयत्न हमारे मार्ग मे अब भी विद्यमान है जिनका अतिक्रमण आवश्यक है इसके पहले कि संसार लक्ष्य तक पहुच सके। जहाँ तक सिद्धान्तों और आदर्शों का सम्बन्ध है हम लोगो को इस विचार से लोहा लेना है कि समाजवाद और गणतंत्र एक साथ नही रह सकते। बहुत से लोग तो यहां तक कह गये हैं कि सोश्लिज्म दासतामूलक समाज का मार्ग प्रशस्त करता है। एक अंग्रेज शास्त्री का मत है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता ऐसे ही समाज में अक्षुण्ण रह सकती है जहां आर्थिक स्थिति राज्य अधिकार के जाल से मुक्त रहती है। ये महाशय व्यक्ति के स्वतंत्र प्रयास के समर्थक हैं और चूंकि सोशलिज्म का सिद्धान्त है कि उत्पादन और वितरण व्यवस्थामूलक हों उनका कहना है कि ऐसे कार्यक्रम में आवश्यक स्वतंत्रता की रक्षा नही हो सकती। सोवियत रुस में समाजवाद की जो मिट्टी पलीद की गई है और फलतः वहां राजनीतिक स्वतत्नता का जो अभाव हो गया है इस कारण भी यह विश्वास अभिसिंचत हो गया है कि व्यवस्थामूलक सुनिश्चित

आर्थिक कार्यक्रम अवश्यमेव दलगत प्रभुत्व और नौकरशाही की स्थिति पैदा कर देगा।

यह दुर्भाग्य की बात है कि रूस की स्थिति को सोशलिज्म का नमूना मानकर यह अनुमान किया जाता है कि सोशलिज्म कैसा होगा और इसी अनुमान को आधार मानकर आलोचना की जाती है। जिन लोगों की कम्युनिज्म में आस्था रूस की राजनीतिक ओर सामाजिक स्थिति के कारण छिन्न-भिन्न हो गयी है और जो अब व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और मानव के अधिकारों को प्रधानता देने लग गये हैं वे प्रायः स्टालिन के दल षडयन्त्रों को इस स्थिति का कारण बताते हैं। साथ ही साथ ऐसे भी लोग हैं जो इन विषयों मे अधिक गम्भीर विचार रखते हैं और जिनका मत है कि व्यवस्थामूलक कार्यक्रम व्यक्तिगत स्वातत्र्य को ह्रास पहुंचावेगा। इन दोनो ही दृष्टिकोणों में सत्यांश है, किन्तु यदि गणतन्त्रीय कार्यक्रम का सूत्रपात कर दिया जाय तो इस खतरे से बचा जा सकता है। व्यवस्था के मूल मे कोई ऐसी आन्तरिक बात नही है जिसके कारण मानव के अधिकारों के लिये कोई खतरा (भयावह स्थिति) उपस्थित हो जाय। किसी राज्य की आर्थिक स्थिति की ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि इस प्रकार के कार्यक्रम मे सन्निहित खतरे न्यूनतम हो जायें। गणतंत्रीय भावनाओ को राजव्यवस्था–प्रबन्ध की सीमा के बाहर भी ले आना, अर्थसम्बन्धी व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण, ऐसी गैरसरकारी संस्थाओं की स्थापना जो खास-खास उद्योग-धन्धे चलवायें और स्वतन्त्र मजदूर वर्ग के संगठनों द्वारा समाज की आर्थिक व्यवस्था का नियमन इत्यादि ऐसे उपाय हैं जिनसे खतरा दूर किया जा सकता है।

एक बात और है जिसके कारण कम्युनिज्म की निन्दा की जाती है। कम्युनिस्ट पार्टी के आचरण, उसके षडयन्त्र और द्विविधामूलक व्यापार, उसकी सुस्पष्ट अवसरवादिता और दूसरों के साथ व्यवहार में नैतिक मान्यताओ की नितान्त अवहेलनाओं के कारण सोशलिज्म बदनाम हो गया है। जब कभी कम्युनिस्ट पार्टी ने दूसरी राजनीतिक पार्टियो के साथ कन्धा से कन्धा मिलाया है तो उसने अपने लाभ और सुभीते के लिये ही ऐसा किया है और जब कभी इसने दूसरी संस्थाओ के साथ सम्बन्ध जोडने का प्रयत्न किया है तो उसका उद्देश्य या तो उसे हथिया लेने का रहा है या उसे छिन्न भिन्न कर देने का। उसके सिद्धान्त और चालो मे जो कौतूहलपूर्ण रूपान्तर हुआ करते हैं उनके साथ चल सकना दुरूह बात

है . यह सत्य स्वीकार ही करना पड़ेगा कि सोशलिज्म के उद्देश्य को कम्युनिस्ट दलों के सिद्धान्तशून्य व्यापार और उनकी संदिग्ध नैतिकता के कारण अत्यन्त हानि पहुंची है। मुझे तनिक भी सदेह नही है कि यदि इनके व्यवहार का मापदण्ड दूसरे प्रकार का हुआ होता तो वामपक्षीय एकता सम्भव हो गयी होती।

विचारणीय बात है कि यद्यपि वे आज गणतंत्र का समर्थन करते हैं तथापि यही प्रतीत होता है कि कुछ सामयिक सुविधायें प्राप्त करने की उनकी यह एक चाल मात्र है। वह जो कहते हैं वहीं उनकी सच्ची भावना नहीं रहती यह तो इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि सोवियत रूस मे जनता को राजनीतिक स्वतंत्रता देने के लिये कुछ भी नहीं होता। बल्गेरिया का सुप्रसिद्ध कम्युनिस्ट डिमीट्राफ तो अपनी पार्टी से छिपाता ही नही कि सब कुछ इतर उद्देश्यों की सिद्धि का छद्म उपाय है। उसके शब्द है "अभी तो कम्युनिस्ट पार्टी को एक साधारण गणतंत्रीय दल का ही रुप धारण करना है। ऐसे कम्युनिस्ट जिन्हे इस प्रकार द्वयर्थक दृष्टि-कोण के कारण कष्ट पहुचता है या तो मार्क्सवादी ही नहीं है या केवल उत्तेजना-वादी हैं।" भला ऐसे वक्तव्य के समक्ष गैर कम्युनिस्टो से कैसे आशा की जा सकती है कि वे उनके साथ मिलकर कोई कार्यक्रम बनावें।

ससार के कम्युनिस्टों ने फासिज्म और युद्ध के खतरे के विरुद्ध जनता मे स्वतंत्रता और गणतन्त्र के नाम पर मोर्चे बनाये थे। युद्धकाल मे कम्युनिस्ट यूरोप मे प्रतिरोधात्मक आन्दोलन चलाते थे। लेकिन वे अपने कार्यक्रम में कम्युनिज्म का नाम तक नही लेते थे। तब वे केवल डिमोक्रेसी का दम भरते थे। असख्यजन समूहों को स्वतन्त्रता और गणतन्त्र के नाम पर फासिज्म के विरुद्ध कार्यरत किया गया और अब जब युद्ध समाप्त हो गया है और फासिस्ट शक्तियो का दम टूट गया है तो युक्तिसगत यही बात हैं कि इन उदात्त विचारों की महान् सम्भावनाओ को चरितार्थ किया जाय और यह बात असशयात्मक रुप से सुस्पष्ट कर दी जाय कि हम लोग गणतंत्रात्मक समाजवाद के पक्ष मे बद्धपरिकर है।

जहाँ तक कि कांग्रेस के समाजवादियों का सम्बन्ध है हम लोग सदैव जनतंत्र और स्वतंत्रता के लिये ही आरूढ रहे हैं। हमने सदैव एक स्वयसिद्ध बात के तौर पर यह माना है कि समाजवाद ही पूर्ण जनतंत्र है और यह कहा है कि समाजवाद एक सिद्धान्त है जो मानव व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास पर उतना ही जोर देता हैं जितना आर्थिक स्वतंत्रता पर। सोवियत रूस ने मानव-क्रिया कलाप के विभिन्न क्षेत्रो में जो

सिद्धियां प्राप्त की हैं उनके हम लोग सदैव प्रशंसक ही रहे हैं, पर हम उसके मित्र भाव से आलोचक रहे हैं और खेद के साथ यह कहते आये हैं कि उसने राजनीतिक स्वतंत्रता के प्रश्न की उपेक्षा की है।

जो लोग यह समझते हैं कि मार्क्स के विचार जनतन्त्र के विरुद्ध हैं, वह गलती करते हैं। मार्क्स अपने युग का एक महान मानवतावादी था। विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता का अधिकार वह मनुष्य की सम्पत्ति मे सबसे पवित्र सम्पत्ति मानता था। कितने जोर के साथ उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, वह सुविदित है। उसका कम्युनिज्म पूर्ण जनतन्त्र को स्वीकार करके चला था। यही कारण था कि वह यह विश्वास करता था कि जनतन्त्रवादी इगलैण्ड और अमेरिका में समाजवाद हिंस्र उपायो का उपयोग किये बिना ही स्थापित हो जायगा। उसका विचार था कि मनुष्यों पर प्रतियोगिता एवं सम्पत्ति के कारण जो नियमन और रोकथाम चलाते हैं, वही सब अनर्थों का मूल्य है। एंजिल्स ने कम्युनिज्म की यही व्याख्या की कि यह निम्न स्तर की जनता की मुक्ति के लिए आवश्यक साधनों का सिद्धांत है। निश्चय है कि मार्क्स किंवा एंजिल्स ऐसे समाजवाद का समर्थन कभी न करते जो जनता के लिए काम की व्यवस्था करने के साथ ही उसे दासत्व की श्रृंखला में बाँधे और उसकी सच्ची स्वतन्त्रता का अपहरण करे।

मार्क्स के मतानुसार मानव के विकासक्रम में सामन्तशाही और पूंजीवाद की स्थिति में व्यक्ति मानव रह ही नहीं गया था, और निम्न वर्ग की जनता में क्रान्ति कराकर ही व्यक्ति के लुप्त अस्तित्व का पुनरुद्धार किया जा सकता है। उसका यह विचार था कि निम्नवर्ग का व्यक्ति ही मानवता का प्रतिनिधि है और उसकी विजय से ही मानवता की भावना की विजय होगी। अपनी व्यवस्था में उसने सामाजिक मानव को केन्द्र स्थान में रखा था। मार्क्स द्वारा स्थापित कम्युनिस्ट लीग के मुख-पत्र कम्युनिस्ट जर्नल की कोलोके कम्युनिस्ट ट्रायलवाली प्रति (सितम्बर 1847 मे) छपी हुई इस बात से बहुत बातो का पता चल जाता है- "हम लोग उन कम्युनिस्टो में नही हैं जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का नाश करने के लिए बद्ध परिकर हैं, जो विश्व को एक विशाल बैरक अथवा कारखाने मे परिणित कर देना चाहते हैं। कुछ ऐसे कम्युनिस्ट भी हैं जो नि.मकोच व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अस्वीकार कर देते हैं। ऐसा करने मे उनके विवेक को कोई ठेस नही लगती। ये लोग चाहते हैं कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को ससार से बहिष्कृत कर देना चाहिए,

क्योंकि इसे वे पूर्ण सामञ्जस्य के लिए व्यवधान स्वरूप समझते हैं। किन्तु हम लोग स्वतन्त्रता के बदले बराबरी नहीं चाहते। हम लोगों को विश्वास है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में वैसी पूर्ण स्वतन्त्रता नही मिलेगी जैसी ऐसे समाज में जो सामाजिक स्वामित्व पर आधारित हो।"

कहा जा सकता है कि जब मार्क्स स्वतन्त्रता और जनतन्त्रका समर्थक था तो उसने निम्न वर्ग की तानाशाही की चर्चा क्यों की। हम लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि वह इस तानाशाही की कल्पना केवल ऐसे देशो के लिए करता था, जहां जनतन्त्रीय व्यवस्थाएं और परम्पराएं दृढ़ता से स्थापित नहीं थी और जहां पूंजीपतियों का दल तुरन्त ही राज्य की सारी सैनिक शक्ति का प्रयोग अपने प्रतिद्वन्दियों के विरुद्ध कर सकता है। फिर इस तानाशाही की कल्पना केवल अल्पकाल के लिए की गयी थी, साथ ही यह मजदूर जनता की गणतन्त्रीय तानाशाही होती न कि किसी दल विशेष की।

मार्क्स दर्शन का आविर्भाव इस अभिप्राय से नहीं हुआ था कि पूंजीवाद के अन्तर्गत व्यक्तिगत स्वतन्त्रता किस प्रकार सुनिश्चित बन गयी है उसका निराकरण कर दिया जाय, बल्कि इस उद्देश्य से कि जनतन्त्र की भावना और स्वतन्त्रता को पूर्ण बना दिया जाय और उसे साधारण मानव के लिए प्राप्य बना दिया जाय। मार्क्स ने 19वीं शताब्दी के आर्थिक मानव की भर्त्सना यह कहकर की कि वह अमानुषिक एवं पाशविक हो गया है, क्योंकि पूजीवादी व्यवस्था मे पड़कर साधारण मानव दासता को प्राप्त हो गया है और ऐसा हो गया है कि उसे जड़ पदार्थों की भाँति प्रयोग किया जा सकता है।

जनतन्त्र की वह भावना, जिसका सम्बन्ध पूंजीवाद के उत्थान के साथ जोडा जाता है, अपूर्ण थी, क्योंकि वह केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित थी। किन्तु 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से धीरे-धीरे उसका विस्तार हो रहा है और उसके अन्तर्गत आर्थिक जनतन्त्रवाद भी आ गया है। कम्युनिस्टो के लिए यह आवश्यक था कि वे जनतन्त्र की पूजीवादी भावना की कमी और अनुपयुक्तता का दिग्दर्शन कराते; किन्तु उदार परम्परा के लिए अनादर की भावना रखना उनकी बहुत बड़ी भूल थी अपने प्रचार से उन्होंने [illegible] संस्थाओं के मूल को कमजोर बना [illegible]

पर आगे चलकर फासिस्टों ने भी उसी प्रकार प्रहार किया और इस प्रकार फासिज्म के सूत्रपात का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस बड़ी भूल का बहुत बड़ा मूल्य सोशलिज्म को चुकाना पड़ा। जर्मनी में फासिज्म की चमत्कारी उन्नति और फासिस्ट विचारों का विश्वव्यापी प्रसार मानवता की सभी प्रकार की उन्नति के लिए एक खतरा हो गया–सोशलिज्म की तो बात ही क्या !

प्रजातन्त्र और सोशलिज्म के एक प्रश्न पर ही अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता मैने ली है, क्योंकि इस समय का यह एक मौलिक प्रश्न हो गया है। हमे जनतन्त्र और स्वतन्त्रता में अपना विश्वास फिर से घोषित करना है। आज इस घोषणा की आवश्यकता सबसे अधिक है, क्योंकि यदि विगत महायुद्ध ने कोई बात प्रमाणित की है तो वह यह है कि साधारण मानव अपने लिए काम और उसे करने के लिए अनुकूल और अच्छी परिस्थिति सुनिश्चित कर लेने के बाद निश्चय ही अपने लिए स्वतन्त्रता और जनतन्त्र की माँग करेगा ताकि वह पूर्ण रूप से अपना विकास कर सके।

सम्मेलन तो अपनी नीति के विषय मे एक सुस्पष्ट घोषणा करेगा ही और पार्टी का संगठन सम्बन्धी कार्यक्रम भी निर्धारित करेगा ही।

एक बात और है जिसकी चर्चा अपना वक्तव्य समाप्त करने के पूर्व मैं कर देना चाहूगा इस समय कुछ दलो द्वारा यह पुकार हुई है कि वामपक्षियो को एक हो जाना चाहिए। उनकी माँग है कि वामपक्षी दलो को चाहिए कि एकत्र होकर एक सयुक्त मोर्चा का निर्माण करें। इसमे सदेह नही कि यदि सभी क्रान्तिमूलक समाजवादी शक्तियाँ एकीभूत हो जाए तो वह प्रतिक्रियावादी मोर्चे के विरुद्ध एक अभेद्य शक्ति हो जायगी। किन्तु खेद की बात है कि सुविदित कारणो से, जिनकी ओर ऊपर सक्षेप मे सकेत किया जा चुका है, निकट भविष्य मे ऐसा एकीकरण सम्भव नही प्रतीत होता। हम काग्रेस के सोशलिस्ट अपने तई बहुत हानि उठाकर भी इस देश मे सोशलिस्ट ऐक्य स्थापित करने का अधिक से अधिक प्रयत्न कर चुके हैं और अन्त मे हमे पता चला है कि हम लोग केवल मृगतृष्णा के फेर मे पड़े रहे है और जो लोग हमारे साथ मिलने की उत्सुकता प्रकट कर रहे थे, वे केवल अपनी पार्टी के सुभीते के लिए वैसा कर रहे थे। आन्दोलन को सबल बनाना उनका उद्देश्य नही था। आश्चर्य तो यह है कि भारतवर्ष मे ही यह बात नहीं

हुई वामपक्षियो मे एकता का अभाव एक सर्वव्यापी रोग है। कम्युनिस्टों की व्यवहार-व्यवस्था मे कोई महत्वपूर्ण कमी है जिसके कारण सोशलिस्टों में इतना पारस्परिक अनैक्य है। जब तक इनमे आमूल परिवर्तन नहीं हो पाता, ऐक्य की कोई आशा नहीं। सभी वामपक्षियों के लिए और विशेषत: कम्युनिस्टो के लिए मैं कम्युनिस्ट लीग के मुख पत्र (सितम्बर 1847) में से निम्नांकित अंश देना चाहता हूं :—

"यहाँ हमें थोडे शब्द निम्नवर्ग के केवल उन लोगो से कहना है जो अन्य राजनीतिक अथवा सामाजिक दलो में हैं। हम सब को आज के समाज से लोहा लेना है, क्योंकि यह हमें दबाता है और दीनता और घृणित दशा में सड़ने देता है। खेद है कि यह समझने और आपस में ऐक्य स्थापित करने के बजाय हम आपस में लड़ने झगड़ने के लिए ही उद्यत रहते है' जिससे हमें दबाने वालों को आनन्द मिलता है। ऐसी जनतन्त्रीय राज्यव्यवस्था के प्रतिष्ठापन के निमित्त जिसके अन्तर्गत प्रत्येक दल वक्तव्यो एव लेखो द्वारा अपने आदर्शों के लिए बहुमत अपने पक्ष मे करने मे समर्थ हो सके, एक ही व्यक्ति की भाँति हम सब एक हो जाने के बजाय आपस में ही इस बात के लिए झगडते रहते है कि जब हम लोग विजयी हो जायँगे तब क्या होगा और क्या नहीं होगा"।

"यदि हमे ठोस शक्ति प्राप्त करनी है तो विभिन्न दलो के मुखियो का भिन्न विचारवालों पर कटु आक्रमण करना बन्द करना होगा और विरोधी सिद्धान्तो के मानने वालो पर गालियों की बौछार के व्यापार का अन्त करना होगा।

एक बार फिर हम आप लोगो का इस महत्व पूर्ण सभा मे योग देने के निमित्त स्वागत करते हैं और आपसे प्रार्थना करते हैं कि हमारी कमियों और त्रुटियों पर ध्यान न दें।

●

कानपुर मे सम्पन्न हुई सोशलिस्ट पार्टी कान्फरेन्स (22 फरवरी से 2 मार्च 1947) में स्वागताध्यक्ष-पद से दिया गया भाषण।

सर्वश्रेष्ठ मानव महात्मा गांधी

आचार्य नरेन्द्र देव

संसार के सर्वश्रेष्ठ मानव तथा भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के प्रति उनके निधन पर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का अवसर इस व्यवस्थापिका सभा को आज ही प्राप्त हुआ है। अपने देश की प्रथा के अनुसार तथा लोकाचार के अनुसार हमने 13 दिन तक शोक मनाया। यह शोक महात्माजी के लिए नहीं था, क्योंकि जो सर्व-भूत-हित में रत है और जो मानव जाति की एकता का अनुभव अपने जीवन से करता रहा हो उसको शोक कहाँ, मोह कहाँ? यदि हम रोते हैं; बिलखते हैं तो अपने स्वार्थ के लिए बिलखते है, क्योंकि आज हम इस बात का अनुभव कर रहे हैं कि हमने अपनी अक्षय निधि खो दी है, अपनी चल सम्पत्ति को गँवा दिया है।

महात्माजी इस देश के सर्वश्रेष्ठ मानव थे, इसलिए हम उनको राष्ट्रपिता कहते हैं। हमारे देश में समय-समय पर महापुरुषों ने जन्म लिया है और इस जाति को पुनरुज्जीवित करने के लिए नूतन सन्देश का संचार किया है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि अन्य देशों में महापुरुष उत्पन्न हुए है, लेकिन मेरी अल्प बुद्धि में महात्मा गाँधी ऐसा द्वितीय बेजोड़ महापुरुष केवल भारत वर्ष में ही जन्म ले सकता था और वह भी बीसवीं शताब्दी में, अन्यत्र कहीं नहीं। क्योंकि महात्मा गांधी ने भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति को, उसकी पुरातन शिक्षा को परिष्कृत कर युग-धर्म के अनुरूप उसको नवीन रूप प्रदान कर, उसमें वर्तमान युग के नवीन सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्य का पुट देकर एक अद्भुत एवं अनन्यतम सामञ्जस्य स्थापित किया। उन्होंने इस नवयुग की जो अभिलाषाएँ हैं, जो आकांक्षाएँ हैं, जो उसके महान उद्देश्य हैं, उनका सच्चा प्रतिनिधित्व किया है। इसलिये वे भारतवर्ष के ही महापुरुष नहीं थे अपितु समस्त संसार के महापुरुष थे। यदि कोई यह कहे कि उनकी राष्ट्रीयता संकुचित थी, तो वह गलत कहेगा। यद्यपि महात्मा गांधी स्वदेशी के व्रती थे, भारतीय संस्कृति के पुजारी थे तथा भारतीय राष्ट्रीयता के

प्रबल समर्थक थे, किन्तु उनकी राष्ट्रीयता उदारता से पूर्ण थी, ओतप्रोत थी। वह संकुचित नहीं थी। संकुचित राष्ट्रीयता वर्तमान समाज का एक बड़ा अभिशाप है, किन्तु महात्माजी का हृदय विशाल था। जिस प्रकार भूकम्प-मापक यंत्र पृथ्वी के मृदु से मृदु कम्प को भी अपने में अंकित कर लेता है उसी प्रकार मानव जाति की पीड़ा की क्षीण से क्षीण रेखा भी उनके हृदय पटल पर अंकित हो जाती थी। हमारा देश समय-समय पर महापुरुषों को जन्म देता रहा है और मैं समझता हूं कि इस व्यवसाय में भारत सदा से कुशल रहा है अग्रणी रहा है। पतित अवस्था मे भी, गुलामी की हालत मे भी भारतवर्ष ही अकेला ऐसा देश रहा है, जो जगद्वन्द्य महापुरुषों को जन्म दे सका है। मै समझता हूं कि इस मामले मे भारत सदा से कुशल रहा है। हमारे देश में भगवान बुद्ध हुए तथा अन्य धर्मों के प्रवर्तक हुए, किन्तु सामान्य जनता के जीवन के स्तर को ऊँचा करने मे कोई भी समर्थ नहीं हो सका। यह यथार्थ है कि पीड़ित मानवता के उद्धार के लिए नूतन धार्मिक संदेश उन्होंने दिये थे, समाज के कठोर भार को वहन करने को समर्थता प्रदान करने के लिए उन्होंने नये-नये आश्वासन दिये थे, उनके विक्षुब्ध हृदय को शान्त करने के लिए पारलौकिक सुखों की आशाएँ दिलायी थी, लेकिन सामान्य जीवन के जो कठोर सामाजिक बन्धन है, जो जनता के ऊपर कठोर शासन चल रहा है, जो सामाजिक और आर्थिक विषमताएँ हैं, जो दीनों और अकिंचन-जनों को भाँति-भाँति के तिरस्कार और अवहेलनाएँ सहनी पड़ती हैं, इन सब समस्याओं को हल करने वाला यदि कोई व्यक्ति हुआ तो वह महात्मा गांधी है। उन्होंने ही सामान्य जनों के जीवन स्तर को ऊँचा किया। उन्होंने जनता के मानवोचित स्वाभिमान को उत्पन्न किया। उन्होंने ही भारतीय जनता को इस बात के लिए सुमति प्रदान की कि वह साम्राज्यशाही के भी विरोध करें, और यह भी पाशविक शक्तियों का प्रयोग करके नहीं किन्तु आध्यात्मिक बल का प्रयोग करके हुआ। उनकी अहिंसा बेजोड़ थी। भगवान बुद्ध ने कहा था 'अक्रोधेन जयेत क्रोधम' अर्थात् अक्रोध से क्रोध को जीतना चाहिए। उनकी अहिंसा का सिद्धान्त भी केवल व्यक्तिगत आचरण का उपदेश मात्र न था, किन्तु सामाजिक समस्याओ को हल करने के लिए अहिंसा को एक उपकरण बनाया और राजनीतिक क्षेत्र में अपने महान् ध्येय की प्राप्ति के लिए उसका सफल प्रयोग करना महात्मा गांधी का ही काम था और चूंकि वह संसार में अहिंसा को प्रतिष्ठित करना चाहते थे, इसलिए उनकी अहिंसा की व्याख्या भी

अद्भुत, बेजोड़ और निराली थी। उनकी अहिंसा की शिक्षा केवल व्यक्तिगत आचरण की शिक्षा नहीं है। उनकी अहिंसा की व्याख्या वह महान अस्त्र है जो समाज की आज की विषमताओं का, जो वैमनस्य और विद्वेष के कारण हैं, उन्मूलन करना चाहती है। अहिंसा के ऐसे व्यापक प्रयोग से ही अहिंसा प्रतिष्ठित हो सकती है।

सामाजिक और आर्थिक विषमता को दूर कर, मनुष्य को मानवता से विभूषित कर, आत्मोन्नति के लिए सबको ऊँचा उठाकर, जाति-पाँति और सम्प्रदायों के बन्धनों को तोडकर ही हम अहिंसा के सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठा कर सकते हैं। यदि किसी ने यह शिक्षा दी तो गांधी जी ने शिक्षा दी। इसलिये यह हम उनके सच्चे अनुयायी होना चाहते हैं तो समाज मे इस विषमता को, इस-ऊँचनीच के भेदभाव को, इस अस्पृश्यता को, समाज के नीचे से नीचे के स्तर के लोगो की दरिद्रता को और आर्थिक विषमता को समाज से सदा के लिए उन्मूलित करके ही हम सच्चे अहिंसक कहला सकते हैं। यह महात्मा गाधी की विशेषता ही थी।

हमारे देश की यह प्रथा रही है कि महापुरुष के निधन के बाद हमने उसको देवता की पदवी से विभूषित किया। समाधि और मन्दिर बनवाये। उसकी मूर्ति को मन्दिरों में प्रतिष्ठित किया या मजार बनाकर उसकी समाधि या मजार पर प्रेम और श्रद्धा के फूल चढ़ाकर हम सतुष्ट हो गये। इसी प्रकार से भारतवासियों ने अनेक महापुरुषों की केवल उपासना और आराधना करके उनके मूल उपदेशों को भुला दिया। मैं चाहता हूं कि हम आज महात्मा गांधी को देवता की उपाधि न दें, क्योंकि देवत्व से भी ऊँचा स्थान मानवता का है। मानवता की आराधना और उपासना समाधि-गृह और मजार बनाकर उन पर फूल चढ़ाकर नहीं होती। दीपक, नैवेद्य से उनकी पूजा नहीं होती, मानव की आराधना और उपासना का प्रकार भिन्न है। अपने हृदयों को निर्मल बनाकर और उनके बताये हुये मार्ग पर चलकर ही उसकी सच्ची उपासना होती है। यदि हम चाहते हैं कि हम महात्मा गांधी के अनुयायी कहलायें तो हमारा यह पुनीत कर्तव्य है कि जनता मे अपने प्रेम और श्रद्धा के भावों का प्रदर्शन करने के साथ-साथ हम उनका जो अमर सन्देश है, उस पर अमल करे। उनका सन्देश केवल भारतवर्ष के लिए नहीं वरन् वर्तमान ससार के लिए है, क्योंकि आज ससार का हृदय व्यथित है, दुखी है। एक नये महायुद्ध की रचना होने जा रही है। उसकी पूर्व सूचनाएँ मिल चुकी हैं ऐसे

अवसर पर संसार को एक नूतन आदेश और उपदेश की आवश्यकता है। महात्माजी का बताया हुआ उपदेश जीवन का उपदेश है, मृत्यु का सदेश नही है। और जो पश्चिम के राष्ट्र आज सकुचित राष्ट्रीयता के नाम पर मानव-जाति का बलिदान करना चाहते है, जो सभ्यता और स्वाधीनता का विनाश करना चाहते है, वे मृत्यु के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, वे मृत्यु के अग्रदूत हैं। यदि वास्तव मे हम समझते हैं कि हम महात्माजी के अनुयायी हैं तो हमारी सबकी सच्ची श्रद्धञ्जलि यही तो सकती है कि हम इस अवसर पर शपथ लें, प्रतिज्ञा करे कि हम आजीवन उनके बताये हुये मार्ग पर चलेंगे, जो जनतन्त्र का मार्ग, समाज मे समता लाने का मार्ग विविध धर्मों और सम्प्रदायो मे सामञ्जस्य स्थापित करने का मार्ग है, जो छोटे से छोटे मानव को भी समान अधिकार देता है, जो किसी मानव का पक्ष नही करता, जो सबको समान रूप से उठाना चाहता है। यदि महात्माजी के बताये हुए मार्ग का हम अनुसरण करते तो एशिया का नेतृत्व हमारे हाथो मे होता और हमारा देश भी दो भूखण्डों मे विभाजित नही हुआ होता। हम एशिया का नेतृत्व करेंगे, किन्तु इस गृह कलह के कारण हमारा आदर विदेशो में बहुत घट गया है। इसलिये यदि हम उस नेतृत्व को ग्रहण करना चाहते हैं तो हमको अपने देश मे उस सदेश को कार्यान्वित करना होगा। भारतवर्ष मे बसने वाली विविध जातियों में एकता की स्थापना करके हमको संसार को दिखा देना चाहिए कि हम सच्चे मार्ग पर चल रहे हैं। तभी सारा ससार हमारा अनुसरण करेगा।

महात्माजी के लिए जो सोचते हैं कि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति नहीं थे, उसका काम भारतवर्ष तक ही सीमित था, यह उनकी भूल है। भारतवर्ष तो उनकी प्रयोगशाला मात्र था। वह समझते थे कि यदि सत्य और अहिसा से वह देश मे सफलता प्राप्त कर सकेंगे, तो उनका संदेश ससार में फैलेगा।

मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि महात्माजी को अर्पित करता हूं और प्रार्थना करता हू कि मुझमें शक्ति पैदा हो कि मैं उनके बताये हुये मार्ग का अनुसरण किसी-न-किसी अश में कर सकूं।

☐

हमारा इष्ट राष्ट्र है, दल नहीं

आचार्य नरेन्द्र देव

माननीय अध्यक्ष महोदय, मैंने और मेरे ग्यारह साथियों ने आज असेम्बली से त्यागपत्र देने का निर्णय ले लिया है और कांग्रेस-असेम्बली पार्टी के नेता को अपना त्यागपत्र दे दिया है। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि कांग्रेस के पृथक होने का यह निर्णय हमारे जीवन का सबसे कठिन निर्णय है। बिना पूर्व विचार के हमने यह निर्णय सहसा नही किया है। कठोर कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर ही तथा अपने आदर्शों और ईद्देश्यों की पूति के लिए हम इस निर्णय पर पहुँचने के लिए विवश हुए हैं। इस निर्णय पर पहुंचने में हमने काफी समय लिया है हम देश की वर्तमान स्थिति भली-भाँति परिचित हैं। हम मानते हैं कि देश सकट की अवस्था से गुजर रहा है। किन्तु हम इन सकटो की सूची में अपनी सस्कृति तथा जनतन्त्र को भी शामिल करते हैं। आज जनतन्त्र तथा हमारी सस्कृति भी खतरे में है। यह निर्विवाद है कि जनतंत्र की सफलता के लिए एक विरोधी दल का होना आवश्यक है—एक ऐसा विरोधी दल, जो जनतन्त्र के सिद्धान्त मे विश्वास रखता हो, जो राज्य को किसी धर्म विशेष से सम्बन्ध न करना चाहता हो, जो गवर्नमेंण्ट की आलोचना केवल आलोचना की दृष्टि से न करे तथा जिसकी आलोचना रचना ओर निर्माण के हित में हो न कि ध्वंस के लिए।

हम इस अत्यन्त आवश्यक कार्य को पूरा करना चाहते हैं। हम इस बात को कहने के लिए क्षमा चाहते है कि इस कार्य की पूर्ति हमारे ही द्वारा हो सकती है। दुर्भाग्यवश जनतन्त्र की कोई परम्परा हमारे देश मे नहीं है तथा साम्प्रदायिकता का इस समम प्राधान्य है। हम जनततंत्र के अभ्यस्त नही है। इस कारण रचनात्मक विरोध के अभाव में अधिनायकत्व की मनोवृत्ति का पनपना सुगम है। केवल ———— का विरोध करने से जनतत्र की स्थापना नही होती। इस सम्बन्ध में मैं कहूगा कि क्या ही अच्छा होता यदि माननीय पुलिस-सचिव हमारे गृहसचिव

होते। कल तथा अपने बजट भाषण मे उन्होंने जिन सिद्धान्तो का निरुपण किया है और जिस प्रकार जनतन्त्र की प्रगति के लिए जनतन्त्र की आवश्यकता प्रतिपादित की है, उससे हम पूर्णत. सहमत है। हम आशा करते हैं कि यह नीति केवल उनकी व्यक्तिगत राय न होगी, बल्कि गवर्नमेण्ट की स्थिर नीति होगी। यदि ऐसा है तो हम आशा कर सकते हैं कि रचनात्मक विरोधी दल गवर्नमेंट का पूरक होगा और अपने महत्वपूर्ण कार्य में सफलता प्राप्त करेगा।

वियोग सदा दुःखदायी होता है। इस विछोह का हमको कोई कम दु.ख नही है। हमको इससे मार्मिक पीड़ा पहुंची है, किन्तु सस्थाओं तथा व्यक्तियो के जीवन मे ऐसे अवसर आते हैं जब अपने आदर्शो और उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का भी त्याग करना पडता है। हम सन्तप्त हृदय से अपना पुराना घर छोड रहे हैं। किन्तु जो अपनी पैतृक सम्पत्ति है, उससे हम दस्तबरदार नही हो रहे हैं। यह सम्पत्ति भौतिक नहीं है। यह आदर्शो तथा पवित्र उद्देश्यों की सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी न केवल जेष्ठ पुत्र होता है और न इस सम्पत्ति का समविभाग ही होता है। धार्मिक समुदायो का पर्सनल ला अर्थात व्यक्तिगत विधान उस पर लागू नही होता। इस सम्पत्ति का दायाद वही हो सकता है जो अपने आचरण और विश्वास से अपने को उसका उत्तराधिकारी सिद्ध करे। इसमे मिथ्या गर्व नहीं है। हम अपनी सीमाओं को जानते है। हम अपनी कमजोरियो से भी परिचित हैं। किन्तु हम यह कहना चाहते हैं कि हम इसका अधिकारी बनने का प्रयत्न करेगे।

ब्रिटिश पार्लमेंट तथा अन्य व्यवस्थापिकाओ का इतिहास बताता है कि ऐसे अवसर पर लोग त्याग-पत्र भी नही देते। हम चाहते तो इधर से उठकर किसी दूसरी ओर बैठ जाते। किन्तु हमने ऐसा करना उचित नही समझा। ऐसा हो सकता है कि आपके आशीर्वाद से निकट भविष्य में हम इस विशाल भवन के किसी कोने मे अपनी कुटी का निर्माण कर सके (हर्षध्वनि)। किन्तु चाहे यह संकल्प पूरा हो या नही, हम अपने सिद्धान्तो से विचलित न होगे। हम जानते हैं कि हमारे देश का यह युग निर्माण का है, न कि ध्वंस का। अतः हमारी आलोचना सदा इसी उद्देश्य से होगी। हम व्यक्तिगत आक्षेपों से सदा बचने का प्रयत्न करेंगे और हम किसी ऐसे विवाद मे नही पडेंगे। राजनीतिक जीवन को स्वस्थ और नीतिपूर्ण बनाने मे हम अपना हाथ बढाना चाहते है। इन बातों मे महात्माजी का

उपदेश हमारा पथ प्रदर्शन करेगा। हम आपको विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हमने किसी विद्वेष और विरोध के भाव से प्रेरित होकर यह कार्य नहीं किया है। हममें किसी प्रकार की कटुता नहीं है। हमारे बहुत से साथी और सहकर्मी कांग्रेस मे हैं और उनके साथ हमारा सम्बन्ध मधुर रहेगा। हम जानतें हैं मि उनको भी हमारे अलग होने से दुःख पहुंचा है। हमारे समान राजनीतिक आदर्श तथा हमारी समान निष्ठा अब भी हमको एक प्रकार से उनसे एक सूत्र में बाँधे रहेगी।

माननीय अध्यक्ष महोदय, आप एक कुटुम्ब के सम्मानित सदस्य होते हुए भी इस भवन के अन्य कुटुम्बों के अधिकारों की भी रक्षा करते हैं। अतः हम आप से आशा करते हैं कि आप हमको आशीर्वाद देगे कि हम अपने उद्देश्यो की पूर्ति में सफलता प्राप्त करें। हम आपके प्रति तथा कांग्रेस असेम्बली पार्टी के नेता माननीय पं० गोविन्दवल्लभ पन्त के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं।

☐

राष्ट्र की एकता के लिये एक राष्ट्र भाषा : एक राष्ट्र लिपि हो।

आचार्य नरेन्द्र देव

यह तो सभी मानते हैं कि कम से कम हाई स्कूल तक मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम रखना चाहिये। किन्तु विश्वविद्यालयों मे पहुंचने पर शिक्षा का माध्यम क्या हो, इस विषय में एकमत नहीं है। इण्टर-युनिवर्सिटी वोर्ड ने तो मातृभाषा को विश्वविद्यालय मे भी शिक्षा का माध्यम रखने के विरुद्ध मत प्रकट किया है। परन्तु सेन्ट्रल ऐडवाइजरी बोर्ड आव् एजूकेशन ने यह राय दी है कि उच्चतर शिक्षालयो मे भी मातृभाषा के ही द्वारा शिक्षा दी जाय और इण्टरयूनिवर्सिटी वोर्ड उनके साधन एव उपाय सूचित करे। यह सिफारिश इस विषय की खोज करने की ही सिफारिश थी। इस क्षेत्र में एकदम और आगे बढा जब अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन ने अपने जनवरी सन् 1948 वाले अधिवेशन में वाइसचांसलरों और कुछ विशेषज्ञों की एक समिति इस विषय पर सुनिश्चित विचार देने के लिये नियुक्त की। इस समिति की बैठक सन् 1948 के मई मास में हुई और बहुत कुछ विशेष विचार-विमर्श के बाद यह निश्चय हुआ कि विश्वविद्यालयो की शिक्षा भी मातृभाषा के ही माध्यम द्वारा दी जाय। इस समिति के समक्ष एक विचार यह रखा गया था कि विश्वविद्यालयो मे राष्ट्र शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, किन्तु उन लोगों ने इसे स्वीकार नही किया। समिति से यह कहा गया कि अंग्रेजी भाषा ने कम से कम एक काम यह बहुत अच्छा किया कि उससे हम सबको विचार करने और उन्हें व्यक्त करने का एक माध्यम मिला और इस प्रकार देश मे एक एकीकरण सिद्ध हुआ। देश के सभी विश्वविद्यालयों में एक ही माध्यम रखने की महत्वपूर्ण उपयोगिता पर जोर दिया गया था और यह भी कहा गया था कि इस प्रकार जो सुभीता प्राप्त होगा वह राष्ट्रभाषा का केवल साधारण ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसे अनिवार्य रुप से पढ़ाने से नही सिद्ध हो सकेगा। मेरी समझ मे नही आता कि

राष्ट्रभाषा को यदि विश्वविद्यालयो मे शिक्षा माध्यम नहीं बनाया जाता तो राष्ट्रीय महासभा का कार्य किस प्रकार सम्पादित किया जायेगा। राष्ट्रभाषा अपने समुचित स्तर पर तभी स्थापित हो सकेगी और राष्ट्रीय महासभा एवं अन्य राष्ट्रीय भाषाओं में विचार-विमर्श का समुचित माध्यम तभी बन सकेगी, जब उसे सभी विश्वविद्यालयो मे शिक्षा का माध्यम बना दिया जायेगा। इसके साधारण ज्ञान के द्वारा ही व्यवस्थापिका सभाओं में होने वाले विचार-संघर्षो मे सदस्य अपना पूर्ण सहयोग देने में समर्थ नही होंगे। महासभा में बहुत से महत्वपूर्ण एवं पेचीदे राजनीतिक और अर्थशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नो पर वाद-विवाद होता है और जब तक किसी को उसकी भाषा के माध्यम से अपने सर्वोत्तम विचार व्यक्त करने का अभ्यास नही होता, तब तक उसे परामर्शो मे भाग लेने में सकोच होगा और यदि किसी प्रकार उसने कुछ साहस किया भी तो उसका भाषण भटकता हुआ और अप्रभावशाली होगा और इस प्रकार वह सदस्य भाषणकला की दक्षता मे कोई प्रभाव नहीं पैदा कर सकेगा। ऐसे सदस्य मे एक कमी सदैव बनी रहेगी। सम्भव है कि उसमे विषय-विशेष के सम्बन्ध मे चलने वाले विचार-विमर्श मे महत्वपूर्ण योग देने की क्षमता हो, पर सभा में उसके मत का कोई प्रभाव इसलिये नही पड़ेगा कि वह राष्ट्रभाषा मे अपने विचार उन्मुक्तरुप से बिना किसी हिचकिचाहट के व्यक्त करने की क्षमता नही रखता। जब राष्ट्र का सब कार्य राष्ट्रभाषा के द्वारा होने लगता है तभी राष्ट्र के भाव, और आदर्श सब एक जीवन बनते हैं। सोवियत रूस का उदाहरण हमारे सामने विद्यमान है। वहाँ रूसी भाषा प्रान्तीय भाषाओं के साथ ही एक अनिवार्य विषय की भांति आरम्भ से ही पढाई जाती है।

यदि कोई अपनी भाषा के विषय मे पक्षपात रखता है तो यह बात स्वाभाविक ही है और समझ मे आने लायक है। मैं यह भी जानता हूं कि जिन लोगों की मातृभाषा पर्याप्त रुप मे समृद्ध है, उनके लिये तो किसी दूसरी भाषा को उच्चतर शिक्षा के माध्यम के रूप मे स्वीकार करना और भी कठिन हो जाता है। किन्तु जो लोग सदैव यह समझते रहे है कि अंग्रेजों से हमारा सम्पर्क भगवान की देन और छिपा हुआ वरदान है, और जिन्होने अंग्रेजी शिक्षा की बड़ी प्रशंसा इसलिये की है कि उसने देश के एकसूत्रीकरण में बड़ा काम किया है, उन्हे तो हमारे राष्ट्रीय जीवन की नयी व्यवस्था में राष्ट्रभाषा को वही स्थान देने में कोई संकोच न होना चाहिये। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मेरे प्रस्ताव की परिधि बहुत सीमित

है, क्योंकि मैं यह नहीं चाहता कि राष्ट्रभाषा माध्यमिक शिक्षा के माध्यम के रुप में अथवा प्रान्तीय सरकारो के शासन के कामो की भाषा के रुप मे स्वीकार की जाय। मैं समझता हूं कि आज शायद यह सम्भव भी नही कि दूसरे प्रान्तो के लोगों को यह प्रस्ताव स्वीकार हो सके। किन्तु मुझे निश्चय है कि बहुत दिनों के पूर्व ही उन्हे स्वानुभव से यह विश्वास हो जायगा कि हम लोगो मे से कुछ ने जो प्रस्ताव राष्ट्र के सामने रखा है उसका अनुसरण किये बिना अपने देश का काम आगे नही चलेगा। फिर भी मैं कहता हूं, हमें इस विषय में अपने दिमाग खुले रखने चाहिये और स्थानीय भावनाओ को ऐसे समय अपने ऊपर अधिकार नही जमाना चाहिये जब हम राष्ट्रीय महत्व की किसी समस्या के विषय मे कोई निर्णय करने हो। मैं यह भी स्वीकार करता हूं कि जब तक कि हम में विश्वविद्यालयो के लिये शिक्षा के माध्यम के विषय में एकमत नही होता तब तक के लिये राष्ट्रीय महासभा मे सदस्यो को उसी भाषा में बोलने की स्वतन्त्रता दी जाय जिसमे वे बोलना चाहे। स्पष्ट है कि ऐसे मामलों में कोई बात अनिवार्य नहीं की जा सकती और दूसरों के मन मे विश्वास पैदा करके ही तथा प्रचार द्वारा ही कार्य सिद्धि की आशा की जा सकती हैं।

जिस प्रकार राष्ट्रभाषा को उच्चतर शिक्षा के माध्यम के रुप मे स्वीकार कर लेने से सारे देश के लिये विचार करने और उसे व्यक्त करने के लिये एक माध्यम मिल जायेगा उसी प्रकार एक ही लिपि द्वारा अन्तर्प्रान्तीय एकता की भावना उत्पन्न करने और उसे अग्रसर करने में भी सहायता मिलेगी। हम सब जानते हैं कि भाषा और लिपि में कोई अविच्छेद सम्बन्ध नही है और इन दिनो जब रोमन लिपि के प्रयोग के लिये विश्वव्यापी आंदोलन चल रहा है, मैं नही समझता कि इस देश की भाषाओं के लिये एक ही लिपि की माँग करना कोई बहुत बडी माँग करना है। यह तो बहुत ही सौम्य प्रस्ताव है, इसे स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट न होनी चाहिये। इसकी सुविधायें सुस्पष्ट हैं। हमारे लिये एक दूसरे की भाषाओं और साहित्यो का ज्ञान आवश्यक है, क्योकि इस प्रकार अन्तर्प्रान्तीय विरोध और दुर्भावना दूर करने में और राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न और विकसित करने मे सहायता मिलेगी। हम लोग ऐसे युग में हैं और ससार की इस युग में ऐसी अवस्था है कि हम में से प्रत्येक के लिये पड़ोसी राष्ट्रो की रहन-सहन, सस्कृति और जीवन-क्रम की यत्किंचित् जानकारी प्राप्त करना भी आवश्यक है। तब अपने ही देश के विभिन्न प्रान्तों में रहने वाले अपने देश भाइयो के सास्कृतिक जीवन को समझना कितना अधिक महत्वपूर्ण है यह सभी समझ सकते हैं। पारस्परिक

सहानुभूति और सद्‌भावना बहुत सुगम हो जायेगी, यदि हम विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के लिये एक ही लिपि स्वीकार कर लें। यह एक व्यापक सुधार है, पर इसका फल भी बहुत व्यापक होगा। सच तो यह है कि यदि हम यह सुधार प्रवर्तित नहीं करते तो राष्ट्रहित की ही हम उपेक्षा करते है अथवा उसकी ओर से आंखें बन्द किये हुये हैं। मेरी समझ मे सब भाषाओं के लिये एक ही लिपि का प्रश्न वही महत्व रखता है जो सारे देश के लिये एक राष्ट्रभाषा का प्रश्न। यह भी आवश्यक है कि सभी भारतीय भाषाओ के लिये एक ही वैज्ञानिक शब्दावली बनायी जाये। हमारी एकता के मार्ग में जितने कृत्रिम व्यवधान हैं, उन सबको ही हटाने के लिये हमे सन्नद्ध होना है। पुनरुज्जीवनवाद (रिवाइवलिज्म) से हमारा काम नही चलेगा। हमें आगे देखना होगा और ऐसे सब परिवर्तन करने होगे जो स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन के लिये नितान्त आवश्यक है। वर्गवाद और प्रान्तवाद से ऊपर उठने का साहस और सुविचार हममे होना चाहिये और सब चीजो को विशाल दृष्टि से देखते हुये दृढ़ता के साथ राष्ट्रहित की नीति को जानना चाहिये।

कोई यह न समझे कि भाषा के आधार पर प्रान्तो के पुनस्संगठन के विरुद्ध हू। मैं उन लोगों मे से हूं जो यह मानते है कि देश के लिये सघीय विधान (फेडरल कास्टीट्यूटशन) सबसे अधिक व्यवहारिक होगा, क्योकि यह हमारे इतिहास एवं परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। मानव-बुद्धि मे हमारी इतनी आस्था है कि उसके द्वारा हम अपने सघीय विधान मे ऐसी बातो का समावेश कर सकेगे कि देश की एकता अक्षुण्ण रखी जा सके। साथ ही सब के लिये एक ही सामाजिक और आर्थिक नीति, सभी जातियों और धर्मो के लोगों के लिये एक ही कानून, एक ही राष्ट्रभाषा और एक ही राष्ट्रलिपि, सब ऐसे साधन है जिनके लिये राष्ट्रीय एकता स्थापित की जा सकती है। इससे बहुत अधिक महत्वपूर्ण तो जनता के सभी वर्गो में जनतंत्रीय भावना भर देना है। सब प्रकार की असमानताओ को दूर कर देना चाहिये और सभी वर्गों के लिये आत्म-विकास के समान अवसर मिलने चाहिये। यही नहीं, जो लोग सास्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुये हैं उनका निराकरण हो जाये। स्वतंत्रता और उनकी पिछडी स्थिति का यथासम्भव शीघ्र ही निराकरण हो जाय। स्वतन्त्रता और समानता की भावना के साथ-साथ एकता की भावना का भी प्रादुर्भाव होता हैं; और कोई कारण नही है कि जिन बातो ने आज हमें एक दूसरे से अलग कर रखा है उन्हें हटा देने पर हम विभाजक वृत्तियों को काबू मे न रख सकें।

☐

[4 दिसम्बर 948 को अखिल भारतीय सम्मेलन के अध्यक्ष पद स दिये गये भाषण का अश]

जाति व्यवस्था और लोकतंत्र

आचार्य नरेन्द्र देव

लोकतन्त्र का मूल तत्व व्यवहार और परम्परा होता है। हम अपने देश मे लोकतंत्र के उदय की आशा तब तक नहीं कर सकते जब तक हम उन मिथ्या धारणाओं और निष्ठाओं को समाप्त नही कर देते जो वर्तमान समाज-व्यवस्था के अवलम्ब है।

यदि हम शक्तिशाली राज्य (स्टेट) स्थापित करना चाहते हैं तो हमे समानता के आधार पर समाज को संगठित करना होगा। यदि सम्प्रभुता जनता में स्थित है तो आम जनता मे प्रभावपूर्ण अधिकार निहित करने होगे और चेन की जो भी कड़ी कमजोर हो उसे यथासमय शक्तिशाली बनाना होगा। वास्तव में सामाजिक समरसता शक्तिशाली सामाजिक परिवर्तन के द्वारा ही स्थापित हो सकती है और सामाजिक समरसता के बिना शक्तिशाली राज की स्थापना असम्भव है। दुर्भाग्यवश हमारे देश के नेतागण विधान मंडल के बाहर लोकतंत्र के व्यावहारिक स्वरूप पर जो देना आवश्यक नही समझते। जो व्यक्ति हमारे यहाँ सर्वोच्च शक्ति प्राप्त हैं वे पुलिस, सेना और नौकरशाही पर ही आस्था रखने वाले प्रतीत होते हैं। इस कारण वे राष्ट्र-निर्माण कार्यों में गैर सरकारी सगठनों को सम्मलित करने के प्रस्तावो के प्रति किसी प्रकार का उत्साह प्रदर्शित नही करते। स्पष्टतः हमारे मार्ग मे फूल नही बिछे हुए हैं। अतः हमे इस कथन पर ध्यान देते रहना होगा कि स्वतत्रता बनाये रखने हेतु सदैव सतर्क रहना चाहिए।

आगे आने वाले वर्षो मे हमें आन्तरिक और बाह्य दोनो ही प्रकार की समस्याओ की ओर पूर्ण ध्यान देना होगा। देश के अन्दरूनी अपक्रन्दीय तत्वो को शक्तिबल से नियत्रण मे नही रखा जा सकता वरन् इसके बजाय जिन समाजिक पक्षों का करते हैं उनकी वैध की पूर्ति कर उनसे निपटना

विभाजक तत्वों पर नियंत्रण रहा। लेकिन अब इन तत्वों के खुलकर खेलने की अधिक सम्भावना है। यथार्थ तो यह है कि इस प्रकार की भावनाओं की शुरू-आत भी देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ कांग्रेसजनों में ही बम्बई के विभाजन पर दो मतभेद उत्पन्न हो गये हैं। एक पक्ष इसे गुजरात मे सम्मिलित करना चाहता है तो दूसरा इसे महाराष्ट्र का भाग बनाने के पक्ष में है। हमें प्रदेश की सीमा के अन्दर क्षेत्रीय स्वायत्तता के सिद्धांत को स्वीकार कर जनजातियों के अलगाववादी आन्दोलन का सहानुभूतिपूर्ण हल ढूंढ़ना होगा। इसके अतिरिक्त अनेक प्रदेशों के बीच प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होने की आशका है। हमें अपनी सम्पूर्ण बौद्धिक क्षमता का उपयोग कर प्रादेशिक प्रतिस्पर्धा के कारण उत्पन्न समस्याओं को हल करना होगा। सर्वाधिक महत्व की बात यह है कि हमें रोटी और गरीबी की दोहरी समस्याओं का हल ढूंढना होगा।

अब हमें इस बात की ओर विशेष ध्यान देना है एक शक्तिशाली राष्ट्र की आधारशिला कैसे स्थापित की जा सकती है। निश्चित ही बिना आधुनिक उद्योगों को स्थापित किये ऐसे राष्ट्र की कल्पना नही की जा सकती। हमे बिल्कुल नयी शुरुआत करनी है। बिना जन-सहयोग के किसी प्रकार की प्रगति करना बड़ा कठिन कार्य है और निर्माण के महान कार्य में हमें जनशक्ति का पूरा उपयोग करना चाहिए। इस हेतु हमे उनमें दिलचस्पी और उत्साह पैदा करना चाहिए। यह सब तब तक सम्भव नहीं जब तक कि सरकार जनता के अन्दर आस्था की भावना उत्पन्न नही करती। उसे केवल आर्थिक प्रगति और समाज कल्याण हेतु वायदा ही नहीं करना है वरन् सामाजिक प्रगति के ठोस प्रमाण भी प्रस्तुत करने हैं। तभी यह आशा की जा सकती है कि जनता सभी प्रकार के कष्टो को सहन कर सकती है।

हमारे सामने उदाहरणस्वरूप सोवियत रूस है। लेनिन के प्रोत्साहन-पूर्ण नेतृत्व के अधीन नयी सरकार द्वारा जारी आज्ञप्तियों से देश में ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार हुआ कि श्रमिकों में नवजीवन का संचार हो गया और उन्हें इस बात की अनुभूति हुई कि उन्हें राष्ट्र निर्माण कार्य में सक्रिय रूप से भाग चाहिए। फलत अच्छे भविष्य की आशा में सोवियत जनता ने खुशी-खुशी अनेक कठिनाइयों को सहन किया। अत. यदि हम अपने देश में जनता को एकता के सूत्र में आबद्ध करना चाहते हैं और नवजीवन को साकार किया

रखने हेतु उसका सहयोग चाहते हैं तो हमें सोवियत रूस का अनुकरण करना होगा।

इस राष्ट्रीय उत्तरदायित्व में हमें पददलित वर्गों का हार्दिक सहयोग मिलने की पूर्ण आशा है। साथ ही हम उनकी सामूहिक शक्ति का लाभदायक उपयोग तभी कर सकते हैं, जबकि हम उन्हें यह अनुभव करा सकें कि वर्तमान भेदभाव-पूर्ण व्यवस्था का शीघ्र ही अंत हो जायेगा। हमें उन्हें यकीन दिलाना चाहिए कि राष्ट्र उनके महत्व को स्वीकार करता है और वे हमारी राजनीतिक व्यवस्था के प्रधान अंग हैं। इसके अतिरिक्त हमें इस तथ्य को भी ध्यान में रखना है कि वर्तमान युग में यह भी आवश्यक है कि इस बात पर विशेष बल दिया जाय कि सभी को अवसर की समानता प्राप्त हो ताकि सभी लोग आर्थिक प्रगति कर सकें। सही बात तो यह है कि सुखद जीवन तब तक सम्भव नहीं जब तक समाज में भारी असमानता कायम हो और विशेषकर विविध वर्गों में आर्थिक असमानताएँ मौजूद हों।

इसलिये सही लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सामाजिक असमानताएँ समाप्त की जायँ। यदि हम हिन्दू राज के नारे को अमल मे लाने का प्रयास जारी रखेंगे तो यह बड़ा स्पष्ट है कि लोकतन्त्र लुज-पुज हो जायेगा और हमारे समाज मे जो वर्तमान बुराइयाँ व्याप्त हैं वे स्थायी हो जायेगी। इससे प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण उत्पन्न हो जायेगा, ताकि लोकतन्त्र के आर्थिक आदर्शों की स्थापना के मार्ग मे व्यवधान उत्पन्न किये जा सकें। पुरातन-वादी प्रयास निश्चित रूप से घातक सिद्ध होंगे। इसके अतिरिक्त वह प्रतिक्रिया-वादी दृष्टिकोण जो भविष्य के विषय मे सोचने के बजाय गुजरे जमाने का ही राग अलापने वाला हो, निश्चिततः उस नये सामाजिक दृष्टिकोण को मिटा देगा जो जन-भावना को नयी दिशा प्रदान करने वाला सिद्ध हो सकता है।

जनता के लम्बे संघर्ष के बाद जो नये सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्श स्थापित हो चुके हैं हमें उन्हे संरक्षण प्रदान करना होगा। पिछली दो पीढ़ियों के दौरान हमने जो सबक सीखे हैं उन्हे गवाना नही चाहिए। इस अवधि मे हमने हिटलर के उग्र राष्ट्रवाद के विपरीत मैजिनी के व्यापक राष्ट्रवाद की शिक्षा ग्रहण की है। हमने निरन्तर यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया है कि हमारे राष्ट्रवाद को कभी भी संकुचित उग्रवादी राष्ट्रवाद में परिणत नहीं होना चाहिए

वर्तमान युग में राष्ट्रवाद अधिकाधिक असहनशील होता जा रहा है। इसलिये यह और भी आवश्यक है कि हम पूर्णरूपेण सावधान रहें।

हम समाज में लोकतान्त्रिक कार्यकलापों के प्रसार हेतु सहकारी आंदोलन से बहुत लाभान्वित हो सकते हैं। ऐसी सामाजिक व्यवस्था लोगों की स्थानीय पहल को शक्तिशाली बनाती है, समाज कल्याण की दिशा मे उन्हें समतावादी दृष्टिकोण के आधार पर संगठित करती है और लोकतंत्र के विकास में सहायक होती है। वास्तव मे ऐसी लोकप्रिय व्यवस्था के नैतिक प्रभाव के अधीन हम स्वतंत्र व्यक्तियो के लोकतान्त्रिक समाज की स्थापना हेतु बहुत सहायता कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमें पिछड़े वर्गों की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए हर सम्भव उपाय करना चाहिए। इन्हीं के माध्यम से हम उन घोर सामाजिक विसंगतियों को मिटा सकते हैं, जिन्होंने वर्तमान समाज व्यवस्था को मलिन बना रखा है। साथ ही राजसत्ता का यह प्रमुख कर्तव्य होना चाहिए कि वह प्रत्येक समाज समूह को आगे बढ़ने के लिए समान अवसर प्रदान करे।

□

जन नेता : पंडित नेहरू

आचार्य नरेन्द्र देव

यदि मेरी यावदाश्त सही है तो पहले पहल वर्ष 1916 या 17 में पंडित जवाहर लाल नेहरू से तब मिला था जब वह प्रान्तीय होमरुल लीग के सेक्रेटरी थे। तब मैं इसकी फैजाबाद शाखा का सेक्रेटरी था। पडित जी असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में फैजाबाद आये हुए थे। तब अकबरपुर और टांडा तहसीलों मे असहयोग आन्दोलन पूरे जोरो पर था और अकबरपुर का गोहन्ना मैदान ऐतिहासिक मीटिंग के लिए प्रसिद्ध हो चुका था। तब मैंने वकालत छोड दी थी। असहयोग आन्दोलन से पडित जी बडे प्रभावित हुए थे। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि तब वह अपने अन्दर एक आत्मिक पुर्नजीवन का अनुभव कर रहे थे। इसने उनकी जीवन-चर्या को पूरी तरह बदल दिया था क्योंकि परि-स्थितिक परिवर्तनो के प्रति पंडित जी की प्रतिक्रिया बडी तीखी होती है। बाह्य रूप से भी यह परिवर्तन स्पष्ट था। आनन्द भवन में पूर्ण परिवर्तन आ गया था। विदेशी कपडों की भारी होली खेली गयी थी। पंडित ने सिगरेट पीना और पान खाना छोड़ दिया था और मेहमानो को उस झोले से इलाइची निकाल कर पेश की जाती थी जिसे वह हमेशा अपने साथ रखते थे। वह बडी सादगी से रहते थे, चाहे व्यक्ति कितना ही छोटा या महत्वहीन क्यो न हो, वह उसके यहाँ जा सकते और ठहर सकते थे। गाँधी जी से प्रभावित होकर उन्होंने गीता-पाठ आरम्भ कर दिया था, घर के बच्चों ने भी संस्कृत का अध्ययन आरम्भ कर दिया था।

पडित मोती लाल नेहरू के चरित्र की यह विशेषता थी कि वह जिस काम को हाथ में लेते उस पर जी-जान से जुट जाते थे। जब उन्होंने असहयोग आन्दोलन मे हिस्सा लिया, वह इसी प्रकार इसमे भी जी-जान से लग गये। यही नहीं कि उन्होने अपनी फलती-फूलती वकालत का ही परित्याग कर दिया वरन्

अपनी शैली को भी बिल्कुल बदल दिया। प्राय: कहा जाता है कि उन्होंने पंडित जवाहर लाल के कारण ही आन्दोलन मे भाग लेना आरम्भ किया था, लेकिन यह आंशिक रूप से ही सत्य है। वह भाववेश मे आने वाले व्यक्ति नहीं थे, वह उसी बात को स्वीकारते थे जो उनके तार्किक मन और अनासक्त निर्णय को सही प्रतीत होती थी। लेकिन इतना सही है कि उन्हें अपने परिवार और खासतौर पर जवाहर लाल से अति लगाव-स्नेह था। अत: तथ्य यह है कि जवाहर लाल जी के आन्दोलन में शामिल होने का उन पर प्रभाव पडा। इसके बावजूद यह स्वीकारना ही होगा कि उन्होने स्वतंत्रता पूर्वक यह निर्णय लिया था। उन पर पंजाब की घटनाओ ने अत्याधिक प्रभाव डाला और गाँधी जी के अद्वितीय व्यक्तित्व का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। पडित मोती लाल नेहरू अन्य 'ओल्ड गार्ड्स' की अपेक्षा आन्दोलन में पहले ही शामिल हो गये थे। सी०आर० दास नागपुर कांग्रेस (1920) के अवसर पर इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय ले सके थे। इस सोच ने उनके अन्दर यह दिमागी परेशानी पैदा कर दी थी कि यदि वह वकालत छोड़ दें तो सामाजिक कार्यों के लिए धन कहाँ से आयेगा। मुझे स्मरण है मेरी ही उपस्थिति मे कुछ बंगाली कार्यकर्ता उनसे मिले और उनसे आन्दोलन का नेतृत्व करने का अनुरोध किया। उन्होने अपनी परेशानी उन कार्यकर्ताओ के सम्मुख रखी, कुछ विचार विनियम और नवयुवक कार्यकर्ताओ द्वारा यह आश्वासन दिये जाने के बाद कि धन की कमी रहेगी श्री दास ने अपना अंतिम निर्णय लिया और आन्दोलन में सम्मिलित हो गये।

जवाहर लाल जी के सारे परिवार ने आन्दोलन मे भाग लिया। इस मामले पर परिवार वालों में न किसी प्रकार का बहस-मुबाइसा हुआ और न किसी प्रकार की तकरार हुई जैसा कि अनेक अन्य परिवारो में हुआ। माता-पिता, पत्नी तथा परिवारजनो का विरोध होने पर किसी के लिए राजनीति मे भाग लेना आसान काम नही होता लेकिन कुछ ही ऐसे भाग्यशाली होते हैं जिन्हे उनका सहयोग और आशीर्वाद प्राप्त होता है। जवाहर लाल जी को पूरा समय राजनीति में व्यय कहने का अवसर मिला और वह बिल्कुल बदल गये। यदि वकालत के पेशे में बने रहते तो वह इसमें साधारण सफलता प्राप्त कर सकते थे। उन्होंने बहुत दिनों तक वकालत नही की और अपने पिता की सहायता से भी वह इस पेशे मे बड़ा नाम नहीं कमा सके और यह कहना बड़ा कठिन है कि उन्हे

इस पेशे में उसमे पिता के समान ऊँचा स्थान प्राप्त हो सकता था वह अन्य सम्पन्न माता-पिता के पुत्रों की भाँति सामान्य श्रेणी के थे और उनका जीवन-ढाँचा भी इसी प्रकाह् का था। उनका बाल्यकाल बड़ा परिरक्षित था। तब उन्हे बडा स्नेह प्राप्त हुआ और शिक्षा प्राप्त करने हेतु कम उम्र में ही विदेश भेज दिये गये जहाँ उन्होंने विदेशी जीवनचर्या ग्रहण की और राजनीतिक से पूरी तरह दूर रहे। उन दिनों श्याम जी कृष्ण वर्मा के प्रभाव मे आकर अनेक भारतीय विद्यार्थी क्रान्तिकारी बन गये थे। उन्होंने एक 'स्वराज्य हाउस' भी स्थापित कर लिया था। सावरकर और हरदयाल इस केन्द्र की ही विशेष उपज थे। हर-दयाल ने मिलने वाला सरकारी वजीफा नामंजूर कर दिया और राजनीति मे भाग लेने भारत लौट आये। जवाहर लाल जी इस ग्रुप से प्रभावित नही हुए यद्यपि तिलक से वह अवश्य प्रभावित हुए जिन्हे 1908 में छ वर्ष के कठोर कारावास की सजा दी गयी थी। फेवियन सोसाइटी ब्रिटेन का एक विशेष प्रकार समाजवादी ग्रुप का भी उन पर प्रभाव पड़ा। लेकिन ये प्रभाव ऐसे नही थे कि उनके जीवन या विचारों में रैडिकल परिवर्तन ला देते। भारत लौट आने पर अन्य अनेक व्यक्तियों की भाँति वह कांग्रेस अधिवेशनो में सम्मिलित होते रहे। तिलक ग्रुप के कांग्रेस से हट जाने पर वह बहुत दुःखी हुए। वर्ष 1916 मे दोनों ग्रुपों के मिल जाने पर कांग्रेस की शक्ति और प्रभाव मे वृद्धि होती गयी। जवाहर लाल जी होमरूल लीग के कार्यो मे भी बहुत रुचि ली लेकिन इसने भी उनके जीवन को मूलतः प्रभावित नही किया। गाँधी जी ने राजनीतिक मंच पर प्रकट होने और उनके व्यक्तित्व तथा आन्दोलन के प्रभाव ने जवाहर लाल जी मे परिवर्तन ला दिया।

मैं बहुतों को जानता हूं कि जिनमें इस प्रकार का गहरा परिवर्तन आया था। इस सम्बन्ध मे एक खास उदाहरण देना चाहूंगा : एक व्यक्ति था जो शराबी और जुआरी था, एक रईस घर का बिगडा पुत्र था, नाकारा था, उत्तरा-धिकार में प्राप्त धन को फूंकने वाला था तथा राजनीति से उसे कुछ लेना देना नही था—वह व्यक्ति बदल गया मानो उस पर कोई जादू हो गया हो, अपनी तमाम आदतो को छोड वह असहयोग आन्दोलन में शामिल हो गया और उस दिन से उसने शराब छुई तक नहीं। अपने को समर्पित कर देने पर जवाहर लाल जी में मौलिक परिवर्तन हुआ। जब हम अहमदनगर कोर्ट में बंद थे जवाहर लाल

जी ने मुझसे यह स्वीकार किया कि 'जेल जीवन ने उन्हें इंसान बना दिया। यह बात बिल्कुल सही है, यदि असहयोग आन्दोलन में शामिल होने से उनके जीवन को इतनी गहराई तक प्रभावित न किया होता उनका व्यक्तित्व इतने विकास और उच्चता के शिखर तक न पहुंच पाता जितना वह पहुंच सका और उन्हें जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त है वह उसे बहुत दूर होते। वर्ष 1925-27 मे योरप की यात्रा और बार-बार जेल यात्रा ने उन्हें अध्ययन और मनन के अवसर प्रदान किये और उन्होंने इनका सदुपयोग किया।

जवाहर लाल जी की लेखनशक्ति अच्छी है और लेखन गति बड़ी तेज है। मुझे 1936 की एक घटना का स्मरण है जब कि अखिल भारतीय संसदीय बोर्ड को चुनाव कार्यक्रम का प्रारूप तैयार करने का काम सौंपा गया था। मैं भी बोर्ड का एक सदस्य था। बोर्ड की बैठक बम्बई में हुई। मुझे प्रारूप को देख कर बड़ी निराशा हुई क्योंकि न तो यह प्रभावकारी था और न हृदयस्पर्शी लेकिन इधर उधर कुछ रद्दोबदल कर यह स्वीकार कर लिया गया था। उसी रात्रि को मैंने जवाहर लाल जी से से भेंट कर दूसरा प्रारूप तैयार करने का आग्रह किया। उन्होंने प्रयास करने का वादा किया। वर्किंग कमेटी और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को अगले दिन प्रात. प्रारूप पर विचार कर उसे पारित करना था। मैं दूसरे दिन प्रातः जवाहर लाल जी से फिर मिला और देखा कि उन्होंने एक नया प्रारूप तैयार कर लिया है। मुझे पता चला कि वह इसे तैयार करने में प्रातः 3 बजे तक व्यस्त रहे। मुझे प्रारूप के नये रूप से बड़ी प्रसन्नता हुई और उसे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी स्वीकार कर लिया। कांग्रेस कमेटी के लिए प्रस्तावों के प्रारूप प्रायः गांधी जी और जवाहर लाल जी तैयार किया करते थे। यदाकदा ही यह काम किन्हीं दूसरों को सौंपा जाता था। उनके प्रारूपों में परिवर्तन बहुत ही कम अवसरों पर होते थे।

जवाहर लाल जी सन् 1921 मे फैजाबाद में आये तो मुझे बताया कि काशी विद्यापीठ का शासी निकाय (गवर्निंग बाडी) चाहता है कि मैं वहाँ अध्यापन का कार्य भार ग्रहण कर लूँ। विद्यापीठ को महात्मा गाँधी ने 10 फरवरी 1921 को स्थापित किया था। शासी निकाय की स्थापना हो चुकी थी और उसमे मेरा नाम सम्मिलित कर लिया गया था यद्यपि उस समय कोई ऐसी चर्चा नहीं थी कि मुझे अध्यापक मंडल में सम्मिलित होना होगा। लेकिन नेहरू जी

का ख्याल था कि वे (शासी निकाय) मेरी उपस्थिति वहाँ चाहते हैं। यह विचार मुझे भी रुचिकर लगा और जवाहर लाल जी के कहने पर मैंने श्री शिव प्रसाद गुप्त को पत्र लिख कर वहाँ जाने की सहमति व्यक्त कर दी। उन्होंने मुझे बुला लिया और इसके कुछ दिनों बाद ही मैंने वहाँ अध्यापन कार्य आरम्भ कर दिया। यदि जवाहर लाल जी ने दिलचस्पी न ली होती तो मेरे वहाँ जाने का प्रश्न ही न उठ पाता और मैं अक्सर सोचा करता हूं ऐसी दशा मे मेरे जीवन का दर्रा क्या होता। तब तक उनके साथ मेरा मामूली परिचय था। लेकिन विद्यापीठ से सम्पर्क हो जाने पर हमारे सम्बन्ध प्रगाढ होते गये और जब वह 1927 में यूरोप से लौटे तो विचारो की समानता के कारण मैत्री सम्बन्ध दृढ़तर हो गये।

काउन्सिल प्रवेश के प्रश्न पर 1922 में कांग्रेस का विभाजन हो गया। जो असहयोग आन्दोलन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते थे 'अपरिवर्तन वादी' कहलाये। इनका नेतृत्व श्री राजगोपालाचारी कर रहे थे। दूसरी ओर पंडित मोतीलाल और सी०आर० दास थे जो काउन्सिल प्रवेश के समर्थक थे। महात्मा गांधी तब जेल मे थे। कलह में तेजी आने पर जवाहर लाल जी इसमे तटस्थ हो गये। दिल मे वह अपरिवर्तनवादी थे लेकिन इस मुद्दे पर वह कलह नहीं चाहते थे। उन दिनों वर्किंग कमेटी से इस्तीफा अक्सर दे दिया जाता था। आखिरकार स्वराज्य पार्टी स्थापित हुई और चुनाव लड़े गये किन्तु जवाहर लाल जी दोनों से अलग रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन कमजोर होने लगा और हिन्दू-मुस्लिम झगड़े होना आम बात हो गयी। जवाहर लाल जी और उनकी पत्नी (श्रीमती कमला नेहरु) यूरोप चले गये। स्वतः अपनाये इस निर्वासित जीवन के दौरान उन्होंने राजनीति का गहरा अध्ययन किया और वह एक समाजवादी के रूप में भारत लौटे। यहाँ आने पर उनका पहला राजनीतिक कार्य यह था कि उन्होंने कांग्रेस का ध्येय पूर्ण स्वराज्य घोषित करने हेतु प्रस्ताव पेश किया। लेकिन महात्मा जी उनके इस कार्य से अधिक प्रसन्न नहीं थे। जवाहर लाल जी ने 'इंडिपेंडेंस आफ इण्डिया लीग' की स्थापना की जिसका मैं भी सदस्य बना। यूरोप से लौटने के बाद जवाहर लाल जी और उनके पिताजी के बीच विचार भिन्नता बढ़ती गयी, प्रायः बात-चीत में गरमा-गरमी आ जाया करती थी। कलकत्ता के 1928 के कांग्रेस सम्मेलन मे काग्रेस ध्येय के सम्बन्ध में फिर-वाद विवाद खड़ा हुआ। इस अधिवेशन के दौरान

मैं एक बार जवाहर लाल जी और श्री प्रकाश के साथ जा रहा था हमसे जरा सा आगे श्री सुभाष चन्द्र बोस अपने सहयोगियों के साथ चले जा रहे थे। यह देखकर जवाहर लाल जी ने प्रशंसात्मक लहजे में यह इंगित किया कि सुभाष चन्द्र बोस अपने साथियों के साथ समानता के आधार पर व्यवहार करते में और स्वयं कार में जाने के बजाय अक्सर उनके साथ ही मीटिंग की ओर पैदल ही चल देते हैं। उन्होंने हमसे इसे अनुकरणीय कार्य कहा। आर्थिक और सामाजिक समस्याओं ने उन दिनों उनके लिए एक दिमागी उलझन पैदा कर दी थी और इन मामलों पर गांधी जी और अपने पिता जी में मतभेद होने के कारण वे बड़े दुखी थे। यदि कांग्रेस ने अगले वर्ष ही लाहौर अधिवेशन के अवसर पर अपना ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता न घोषित न किया होता और उसके तत्काल बाद एक नया आन्दोलन शुरू न हुआ होता जो चार-पाँच वर्ष तक चलता रहा तो मैं समझता हूं कि जवाहर लाल जी के जीवन में एक नया मोड़ आ गया होता। वह कांग्रेस के अन्दर ही एक अन्य पार्टी के नेता बन जाते।

निश्चय ही यह एक काल्पनिक बात है, लेकिन मेरा यह कहने का आधार उनका 1928-29 का दृष्टिकोण है जिसका मुझे ज्ञान था। कांग्रेस हाई कमान के साथ मौलिक मुद्दों पर सहमति होने की असम्भवता के कारण उनके लिए कोई अन्य विकल्प शेष ही न रहता। लेकिन ऐसी स्थिति पैदा न हुई। गांधी जी जवाहर लाल जी का महत्त्व समझते थे और जवाहर लाल जी यह समझते थे कि यह गांधी युग है जब तक उनके सहभागी बने बिना कुछ भी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसीलिये उन्होंने हर सहूलियत के लिए भारी संघर्ष किया और इसके बाद जो कुछ प्राप्त हुता था उस पर वह सन्तोष कर लेते थे। कभी-कभी वह दृढतापूर्वक बहस करने लगते थे और चिड़चिड़े भी हो जाते थे। गांधी जी उनकी बात प्रायः सहज-भाव से सुनते थे और उनके कटुकथनों की उपेक्षा कर देते थे। फिर भी कभी-कभी गांधी जी अपने दृटिकोड को स्पष्ट कर देते थे और इशारतन कह देते थे कि ऐसा नहीं हो सकता। जब 1942 मे गाँधी जी और जवाहर लाल जी की सत्याग्रह के सम्बन्ध में साफ-साफ बात करने के लिये साबरमती गये। तब मैं साबरमती मे ही था। तब उन्होने बातचीत के दौरान मुझसे कहा कि वर्तमान स्थिति में वह गाँधी जी को बहुत महत्त्वपूर्ण तत्व मानते हैं। वह जो कुछ सचते हैं या करने जा रहे हैं वह बहुत महत्वपूर्ण है। जब उन्होंने समझा कि गाँधी जी अपनी बात पर दृढ़ हैं

तो कतिपय मुद्दों पर स्पष्टीकरण प्राप्त करने से ही वह सतुष्ट हो गये और अपनी स्वीकृत दे दी। गांधी जी ने जवाहर लाल जी के आने से एक दिन पहले मुझसे पूछा कि जवाहर लाल जी की कैसी प्रतिक्रिया हो सकती है। मैंने उत्तर दिया था कि मेरी राय में यदि सत्याग्रह आरम्भ करने का निर्णय लिया जाता है तो जवाहर लाल जी इससे बाहर नही रहेगे। ऐसा ही गाधी जी का भी ख्याल था लेकिन जवाहर लाल जी की स्वीकृति प्राप्ति हेतु चिंतित थे और इसे प्राप्त कर लेने तक वह सतुष्ट नही थे लेकिन जवाहर लाल जी ने बौद्धिक रूप से निर्णय को वास्तव में कभी नही स्वीकारा। अहमदाबाद फोर्ट के कारागार काल मे उन्होंने एकाधिक बार स्वीकारा कि उनकी राय मे यह कदम जल्दबाजी में उठाया गया था और यह सम्भव था कि अमरीकी दबाव की सहायता से ब्रिटेन मे समझौता हो सकता था।

वर्ष 1929 में जवाहर लाल जी काग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। इस लाहौर अधिवेशन में मोती लाल जी ने अपना स्थान जवाहर लाल जी को सौप दिया और कहा कि पिता जिसे करने मे असफल रहा उसे पुत्र कर सकेगा। यह एक अविस्-मरणीय घटना थी। ऐसे बहुत कम उदाहरण हैं जब महान नेताओ के महानतम पुत्र उनसे आगे निकल गये हो, सामान्यत. महान व्यक्तियो के पुत्र अयोग्य हुये हैं और हमारे देश का इतिहास इस अनेक प्रमाण प्रस्तुत कर सकता है लेकिन मोती लाल जी की भविष्यवाणी सही सिद्ध हुई। उस समय जवाहर लाल जी की माता जी को महान हर्ष हुआ था जो बड़ा स्वाभाविक था क्योंकि काग्रेस की अध्यक्षता सबसे बड़ा सम्मान था जो देश किसी को प्रदान कर सकता था। आज स्थिति मे भले बदलाव आ गया हो और इस पद से भले ही अपनी दीप्ति और महत्व खो दिया हो लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले स्थिति ऐसी नही थी। वास्तव मे जवाहर लाल जी भाग्य के चहेते थे, उनके ही समय मे स्वतन्त्रता का प्रतिज्ञापत्र स्वीकार किया गया था। प्रस्ताव पारित होने के बाद की रात्रि मे प्रतिनिधियो के कैम्पो में बड़ा जश्न मनाया गया और नेहरू जी प्रतिनिधियो के साथ नाच उठे। पंडित मोती लाल जी और जवाहर लाल जी का पजाबियो पर बड़ा प्रभाव था, ऐसा वहाँ मार्शल लॉ कायम होने के समय से था जब कि मोती लाल जी ने उनके बीच काम किया था। जवाहर लाल जी पजाबी युवको के हीरो थे और उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ।

हम 1942 मे एक साथ गिरफ्तार हुए और अहमदनगर फोर्ट मे बन्दी रहे। हम वहाँ सा-थसाथ रहे। जब अहमदनगर कैम्प को खत्म कर दिया गया तो मुझे उनके साथ बरेली सैंट्रल जेल भेज दिया गया और उसके बाद हमें अल्मोडा जेल ट्रान्सफर कर दिया गया। बाद में हमे साथ ही रिहा कर दिया गया। जेल जीवन मे सहजीवन थोप दिया जाता है और वह चालू रहता है। ऐसे मे कोई अपनी कमजोरियो को नही छिपा सकता। जेल जीवन की तीन वर्ष की अवधि मे मुझे बहुत नजदीक से जवाहर लाल जी का अध्ययन करने का अवसर मिला था। वह अति कठोर नियमित जीवन व्यतीत करत थे। वह नियमत: व्यायाम करते थे, नाश्ता करने से पहिले स्नान कर लेते थे और उसक तुरन्त बाद काम करने बैठ जाते थे। लच के कुछ समय को छोड़ वह तीन बजे तक काम करते रहते थे वह कभी-कभी थोडी देर के लिए दिन मे सो जाया करते थे। सायकाल या तो वह बैडमिंटन खेलते थे या तेजगति से भ्रमण करते थे। सध्योपरान्त नौ से ग्यारह बजे तक फिर वह काम पर जुट पड़ते थे। इस दौरान या तो वह पढ़ते या नोट लेते रहते थे। उन्हे अनेक भारतीय और विदेशी पत्र प्राप्त होते थे और सदैव नयी पुस्तकें मिलती रहती थी। वह अपने मित्रो तथा साथियो के प्रति बहुत अनुरक्त रहते थे और किसी रोगी कामरेड की खुले दिल से सेवा।सुश्रुपा करते थे। एक एक बार डाक्टर महमूद काफी बीमार हो गये। तब जवाहर लाल जी रात भर उनके पास बैठे रहते थे और बाद को थोड़ी-थोड़ी बाद उनकी खबर लेने आते रहते। जेल जीवन के पहले वर्ष म मेरी हालत भी खराब रही। तत्र हर तीसरे सप्ताह मुझे दमे का कोपभाजन बनना पड़ता था। मै बहुत-बहुन कमजोर हो गया था और इस कारण प्रत्येक व्यक्ति चितिय था। जवाहर लाल जी ने मुझस हेलीबट लीवर आयल इस्तेमाल करने का आग्रह किया। इससे मुझे काफी लाभ हुआ और और दमे के आक्रमण बन्द हो गये। हम भोजनालय की व्यवस्था बारा-बारी से करते थे। जवाहर लाल जी अन्य कदियों को कहा करते कि अडे से चीजे कैसे तैयार की जाती है और चाय कैसे बनायी जाती है। हम अपने राष्ट्रीय पर्व मनाया करते, जवाहर लाल जी भोजन कक्ष को सजाते और इस सारे काम में अगुवा बने रहते। जहाँ हमे रखा गया था वहाँ एक लम्बा चौड़ा आगन था, वहाँ जवाहर लाल जी की आगनवाड़ी बन गयी जिसे उन्होने नाना प्रकार के फलो से सुन्दर बना दिया। वह व्यवस्थित जीवन और सफाई को बहुत पसन्द करते थे उनके जीवन

में ऐसी व्यवस्था और नियमितता जेल के बाहर भी देखी जा सकती हैं। यद्यपि जेल से बाहर उन्हे खेलने का समय बहुत कम मिल पाता है और पढने के लिए भी अधिक समय नही मिलता लेकिन पढ़ने के समय की कमी को वह ट्रेन यात्राओ के दौरान पूरा कर लेते हैं जब कि वह घनघोर पढाई करते हैं। लगातार साथ रहने पर कभी-कभी तू-तडाग और गरमा-गरमी भी हो जाती है। हम लोगो के बीच भी कभी-कभी मुबाइसा हो जाने जोश पैदा हो जाता था और कलह तक हो जाती थी लेकिन यह सब टिकाऊ नही होंता था। अहमदनगर फोर्ट मे हमारा एक काफी क्लब भी था जहाँ अक्सर राजनीतिक बहस हुआ करता थी और कभी-कभी जेल साथी कथा कहानिताँ भी सुना दिया करते ते। इस मामले मे डाक्टर महमूद बहुत दिलचस्प व्यक्ति थे। राजनीति के सिद्धान्तो पर वाद-विवादो के फलस्वरूप राजनीतिक कार्यकर्ताओं के बीच प्राय. कटुता उत्पन्न हो जाती है और स्थाई रूप से सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। राजनीति ती कुछ स्थापित सिद्धान्तो का खेल है और और कुछ ही लौग ऐसे होते है जो विपक्ष की राय की ओर ध्यान देते हों चाहे उस राय के समर्थन में ठोस तर्क ही क्यो न पेश किये गये हो। लेकिन जवाहर लाल जी इस मामले मे अपवाद थे। वह सदैव ही दूसरो के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करते थे और समझाये बुझाये जाने पर दूसरों की राय से सहमत होने को तैयार रहते थे। प्रत्येक प्रश्न के दो पहलू होते हैं ओर प्रत्येक पहलू में कुछ सत्यता का अश होता है लेकिक जो दोनों पहलुओ को समझते हैं उनके मिए अन्तिम निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन हो जाता है। ऐसी ही जवाहर लाल जी की स्थिति हैं और किसी खास मुद्दे पर अतिम निर्णय लेने में उनके सामने अक्सर मुश्किल नेश हो जाती है। इसका अर्थ सदापि नही है कि किसी विपय पर उनकी अपनी कोई स्पष्ट नीति होती उनकी राय होती है ओर वह अपनी राय के समर्थन मे दृढ़ तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं। लेकिन बात इतनी सी ही है कि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनकी बाबत अतिम राय तय करना वह आवश्यक नही समझते।

जवाहर लाल जी जनता से शक्ति प्राप्त करते हैं। वह भारी भीड को पसन्द करते है। व्यक्तिगत लोकप्रियता का अर्थ वह यह समझते है कि लोग उनके प्रशासन से सन्तुष्ट हैं लेकिन ऐसा निष्कर्ष सदैव ही सिद्ध नही होता है। वह विशेषकर अपनी समीपी मित्र मंडली से प्रभावित रहसे है। इस मडली मे भी यूरोप में शिक्षा प्राप्त व्यक्ति सम्मिलित है जिनके साथ वे अन्य की अपेक्षा अधिक सादृश्यता पाते है। लेकिन विगत १५ वर्षो में प्राचीन भारत की संस्कृति ने उनके

ऊपर गहरा प्रभाव छोड़ा है। सर्वप्रथम स्व० आर० एस० पंडित (स्व० रणजीत सिंह पंडित नेहरू की बहिन श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित के पति थे और संस्कृत के विद्वान थे) ने इस ओर उनकी दिलचस्पी उत्पन्न की थी जिसमें उसके बाद निरन्तर वृद्धि होती गयी। उन्होंने एक बार मुझसे कहा कि 'यदि मुझे यह विश्वास होता कि भारत के लोग गुणहीन थे तो मैं उनके लिए काम करने की चिन्ता न करता, लेकिन मेरे देश का इतिहास यह बताता है कि भारत देश महान था। उसमें व्यापक ऐतिहासिक परिवर्तन हुए हैं और उसने अनेक महापुरुषों को जन्म दिया है। जवाहर लाल जी को मध्यम वर्ग से कुछ अपेक्षा नहीं है, उसे वह पतनोन्मुख मानते हैं। लेकिन जन साधारण मे वह जिन्दादिली और जीवन शक्ति पाते हैं, उनकी देश के भविष्य की आशायें उन्ही पर निर्भर है।

□

सांप्रदायिक एकता की समवेत चेष्टा करें

नरेन्द्र देव

राष्ट्रीयता और जनतंत्र इन दोनों शक्तियों ने एशिया के सब देशों में जन-जागरण किया है। इन्हीं दो शक्तियों के कारण एशियावासियों में साम्राज्यवाद का सफल विरोध करने की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हुई है। इन्हीं के वरदहस्त का सहारा लेकर भारत स्वतंत्र हुआ है। यही शक्तियाँ आज भी हमारे विचारों और क्रियाकलापों को निश्चित करती है। यदि यह शक्तियाँ उन्मुक्त न होती और हमको प्रभावित न करती तो हमारी निष्कर्मण्यता और हमारे सम्मोह का अन्त न होता और विविध जातियों और धार्मिक संप्रदायों में बँटा हुआ हमारा देश एक सूत्र में ग्रथित होकर और एक समान भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये प्रयत्न न करता। इन शक्तियों का प्रादुर्भाव और विकास कैसे हुआ, इस विषय पर विचार करने का यहाँ अवसर नहीं है। हमको इन शक्तियों के स्वरूप और लक्षणों को जानना चाहिये और यह समझना चाहिए कि यह शक्तियाँ आज भी काम कर रही है और यदि हमको जीवन और विकास की ओर बढ़ना है तो हमको इनकी आज भी आवश्यकता है। इन शक्तियों की उपेक्षा कर हम अपने को सफल नहीं बना सकते। भारत में बसने वाले सभी लोग अपनी-अपनी जान अपने-अपने सम्प्रदाय से ऊपर उठकर सब अपनी-अपनी बिरादरी के साथ समान रूप से एकता का अनुभव करते हैं और राष्ट्रीय दृष्टि से, न कि बिरादरी या अपने सम्प्रदाय की संकुचित दृष्टि से विचार करते हैं।

एकता के जिस कार्य को वंश या धर्म बिरादरियों और संप्रदायों में सिद्ध करता है, राज्य की भौगोलिक सीमा के भीतर वही कार्य राष्ट्रीयता सम्पन्न करती है। किन्तु यह कार्य तभी पूरा हो सकता है जब हम बिरादरी और सम्प्रदाय की क्षुद्र कुंठा के ऊपर उठना सीखें। भारत को एक सुदृढ़ राष्ट्र में संगठित करने के लिए यह आवश्यक है कि जो प्रतिगामी भाव और शक्तियां हमको जात-पात और संप्रदाय के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित करती है और हमारी शक्ति को बिखेरती हैं उनका हम तीव्र विरोध करें। यही शक्तियाँ अवसर पाकर हमको

छिन्न-भिन्न कर देने का प्रयत्न करती हैं। युग की नवीन शक्तियों ने इन पर अभी पूर्ण विजय नही प्राप्त की है क्योकि नवीन भावों ने हम सबके हृदय और मस्तिष्क को अभी पूर्ण रूप से व्याप्त नही किया है। इसी साप्रदायिक भावना के कारण हमारे देश के दो टुकडे हुए और यदि हम राष्ट्रीयता को पूर्ण रूप से नहीं अपनाते तो देश इसी प्रकार बंटता चला जायेगा। पूर्वी पजाब में आज मुसलमान शून्य के बराबर है किन्तु वहाँ हिन्दू-सिख प्रश्न खड़ा हुआ है। दक्षिण मे ब्राह्मण-अब्राह्मण प्रश्न है और द्रविड स्थान की माग भी हमारे सामने आ गयी है। हमने पाकिस्तान कि माग का मजाक किया और अपने मन को यह कहकर ढाढस दी कि इस मांग में कुछ दम नही है और श्री जिन्ना अंग्रेजों के एजेण्ट मात्र हैं। किन्तु वह मांग पूरी होकर रही इसी प्रकार द्रविड़ स्थान की माग की उपेक्षा करना मूर्खता होगी। आज आपकी यह मांग सारहीन मालूम पड़ती है किन्तु यदि हमने समय से इसके आधार को निर्मूल नही किया और उत्तर और दक्षिण के बीच वास्तविक सौहार्द स्थापित नही किया तो यही माग एक दिन भीषण रूप धारण कर लेगी। इन सब के मूल मे हमारी सकीर्णता, जात-पात का भेद-भाव और हमारी साम्प्रदायिक बुद्धि काम करती है।

राष्ट्र संगठन के कार्य में यही सकुचित भाव और हमारी साप्रदायिक बुद्धि काम करती है। राष्ट्र संगठन के कार्य में यही संकुचित भाव बार-बार बाधा डालता है हमारी सामाजिक व्यवस्था का आधार असमानता रहा है और इसी कारण हमारे देश में जनतन्त्र पनप नही पाता तथा राष्ट्रीयता सबल और पुष्ट नही हो पाती। हमको समझ लेना चाहिए कि जब तक इन छोटी-छोटी दीवारों को गिरा नही देते जो हमको एक दूसरे से अलग करती है; जात-पांत के तारतम्य को हटाकर और धर्म को अपनी उचित मर्यादा से सीमित रखकर सच्ची राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की ओर अग्रसर नही होते; तब तक समारा भविष्य अन्धकारो से आछन्न है। प्रत्येक को सामाजिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए जहा तक वह सामाजिक शान्ति और नैतिकता के प्रतिकूल नही है' किन्तु उसका राजनीति से कोई सबन्ध न होना चाहिए। धर्म एक व्यक्तिगत वस्तु है, वह राष्ट्र के कार्य में बाधक क्यों हो ? और वह धम धर्म ही क्या हैं जो दया और न्याय पर आश्रित नहीं है, जो आतताइयों से पूर्वजो की रक्षा नहीं करना (किन्तु वास्तविकता यह है कि धर्म का लोग राजनीति के लिए उपयोग करते है और जनता की साप्रदायिक बुद्धि होने के कारण जनता इन लोगो के हाथ मे खेलती है। राज्य को किसी धर्म मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए किन्तु ऐसे उपाय अवश्य सोचना चाहिए जो इस सांप्रदायिक बुद्धि को विनष्ट करने में समर्थ हो।

केवल यह उपदेश देना पर्याप्त नही है कि हिन्दू-मुसलमान-सिख आदि को परस्रर प्रेम से रहना चाहिये। हमको अपनी दुर्बलता के कारण ढूढने चाहिये और उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस समय एक ऐसे उदार सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है जो हमारे दूषित मन को विशुद्ध करे और युग के अनुकूल हम मे नये सस्कार सपन्न कर हम को उदार बुद्धि प्रदान करे। जन्म जन्मान्तर के सचित सस्कारो को विनष्ट करने के लिये कोई उपाय पर्याप्त नही होगा। सांप्रदायिक बुद्धि को विनष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि वह बातें, जिनका धर्म से सम्बन्ध नही होना चाहिये, कानून से निश्चित हो। उदाहरण के लिये सब सप्रदायों से मानने वालो के लिये एक से कानून होने चाहिए: हिन्दू कानून मुस्लिम कानून के भेद मिटा देने चाहिए। इसी प्रकार हम धीरे धीरे आचार की समानता और एकरुपता ला सकेंगे और आचार की विविधता को बहुत कुछ घटा सकेंगे। और भी कई उपाय है जिन पर विचार किया जा सकता है। किन्तु सबका आधार यही हैं कि सबकी ऐसी शिक्षा-दीक्षा होनी चाहिए जिससे आचार की एकरुपता सिद्ध हो और सब राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के महत्व को समझें और उनके अनुकूल अपने आचरण को बनावें।

इस दृष्टि से नई पीढ़ी पर उचित ध्यान देने की आवश्यकता है। हमारे नवयुवकों के ज्ञान का विस्तार होना चाहिए। उनकी जानकारी हर दिशा मे बढ़नी चाहिए जब वह अपनी आंखो के सामने बनते हुए इतिहास का ठीक-ठीक अध्ययन करेंगे और उन शक्तियो को पहचानेगे जो आज नये समाज का निर्माण कर रही है और धीरे-धीरे सकल जगत को एक कर रही हैं तब उनकी सकीर्णता दूर होगी और उनकी दृष्टि व्यापक और उदार होगी। इस सामाजिक जागरुकता और चैतन्य की अत्यन्त आवश्यकता है और जितनी मात्रा मे इसकी वृद्धि होगी उतनी मात्रा में हमारे नवयुवक नव निर्माण कार्य मे परिशोधित बुद्धि स कार्य करेंगे। नैतिकता की शिक्षा देने से ही सद्बुद्धि और सादज्ञाण की पुष्टि नही होगी। जब जीवन का एक लक्ष्य निश्चित होगा, जब उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लगन उत्पन्न होगी, तब चरित्र आप ही एक नये साचे मे ढलने लगेगा। साथ ही साथ जन साधारण के ज्ञान के स्तर को विस्तृत करना होगा। यह काम रेडियो आदि द्वारा होना चाहिए। प्रौढ़ शिक्षा की ओर भी अधिक ध्यान देना होगा। जनतन्त्र जीवन का एक ढग है। हम इसके अभ्यस्त नही है, हमारी समाज व्यवस्था इसमे बाधक है। इसको भी बदलना

होगा। यह सब काम अत्यन्त आवश्यक हैं और जब तक यह मौलिक कार्य नहीं होते तब तक हमारी उन्नति नहीं होगी।

हमको यह नहीं देखना है कि दूसरे क्या करते हैं, प्रतिशोध और विद्वेष की भावना से किया हुआ काम कभी ठीक नहीं होता। हमको अपना लाभ देखना है और अपने सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा करनी है। मैं निःसंकोच कहना चाहता हूं कि यदि हमने अपनी सांप्रदायिक बुद्धि का परित्याग नहीं किया और जाँत-पांत के भेदभाव को मिटाया नहीं तो हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। अब सारा राष्ट्र तभी बन सकेगा जब भारत के भीतर रहने वाले सभी लोग बिना लिहाज धर्म, संप्रदाय, प्रान्त और जात के भारतीय समाज के निर्माण में परस्पर सहयोग करेंगे और एक दूसरे के साथ एक देश के नागरिक होने के नाते समानता और स्नेह का व्यवहार करेंगे। हमको राष्ट्रीय प्रश्नों पर राष्ट्र के हित की दृष्टि से विचार करना चाहिये और अपने छोटे स्वार्थों को तिलांजलि देना चाहिये।

यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि सांप्रदायिक एकता की कितनी आवश्यकता है। परस्पर का विद्वेष बन्द होना चाहिए और सब के सब स्वत्वों की रक्षा होनी चाहिए और प्रत्येक को इस प्रकार आचरण करना चाहिये जिससे वह दूसरों का विश्वासपात्र बन सके। आज का विश्वास और सन्देह का वातावरण घातक है, यदि इसे दूर नहीं किया गया तो यह रोग सक्रामक हो सकता है। इसका इलाज जल्द होना चाहिये और इलाज वही है जो पहले बताया गया है। यह सकोच का युग नहीं है, यह अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। इस युग में सकीर्ण भावो को पनपने देना आज विनाश को निमन्त्रण देना है और युग धर्म की अवहेलना करना है। युग की अन्तरात्मा उदारता चाहती है और मानव को मानव से पृथक करने के जितने प्रकार चले आ रहे हैं उनका ध्वस चाहती है। यह कार्य होकर रहेगा। प्रतिगामी शक्तियां कहीं-कहीं कुछ काल के लिये विजय हो जाये किन्तु अन्त में मानव धर्म की विजय होगी। जो व्यक्ति और समूह समाज का विकास चाहते हैं और समझते है कि मानव मात्र का कल्याण इसी मे है कि युग की मांग का समर्थन किया जाय, उन सबके सांप्रदायिक विद्वेष को शान्त करने के लिये समवेत चेष्टा करनी चाहिये।

□

[27 मई 1950 को आ लखनऊ से प्रसारित वार्ता]

लोकतांत्रिक समाजवाद का रास्ता

आचार्य नरेन्द्र देव

लोकतांत्रिक समाजवाद वर्गहीन समाज का समर्थक है। लेकिन यह विविध प्रकार के व्यवसायों की आवश्यकता को स्वीकारता है। यह किसी व्यवस्था की प्रभुता स्थापित होने का विरोधी है और यह कार्यरत व्यक्तियों के विविध अंगों के बीच सबके साथ समान न्याय के आधार पर स्वतंत्र सहयोग का पक्षधर है।

कार्यरत लोगों की श्रेणियों में पगार या वेतन पाने वाले श्रमिकों की ही गिनती नहीं होती है वरन् इनमे स्वतत्र रुप से काम करने वाले किसान, चरवाहे, शिल्पी, निपुण कारीगर और समाजहित के पेशों में कार्यरत बुद्धिजीवी भी सम्मिलित रहते हैं।

भारतीय समाजवादी स्वतंत्र व्यवसायों के महत्व को भली भाति समझते हैं। उन्होने लघु उद्योगो की तकनीक के आविष्कार और मध्यम तथा कुटीर उद्योगो को सहकारी आधार पर विकसित करने के सामाजिक महत्व और आर्थिक आवश्यकता पर सदैव अधिकाधिक बल दिया है। वे सहकारिता पर बल देते हैं, इसलिये नहीं कि वे स्वतंत्र व्यवसायों में लगे लोगों को उनकी स्वतंत्रता से वचित करना चाहते हैं वरन् इसलिये कि लघु आर्थिक इकाइयों का हित सहकारिता में ही निहित है। सहकारिता के माध्यम से ही स्कैंडियन किसान इस शताब्दी के तीसरे दशक के आर्थिक सकट का सामना कर सके और डेरी व्यवसाय को ठोस आधार पर संगठित करने में सफल हुए। भारत में कुटीर उद्योग तथा लघु आर्थिक इकाइयां केवल सहकारिता के आधार पर फल फूल सकती हैं।

प्रजा समाजवादी पार्टी के 28 दिसम्बर, 1955 के गया सम्मेलन के अवसर पर दिये गये अध्यक्षीय भाषण के आधार पर।

लोकतांत्रिक समाजवाद उद्योगों पर तकनीकियो तथा प्रबन्धकों के प्रभुत्व-स्थापन का विरोध करता है। इसकी औद्योगिक लोकतंत्र में आस्था है। यह समाज पर तकनीक विशेषज्ञों के आदेशों और उद्योगों पर प्रबन्धकों के निरंकुश अधिकारों को उचित नहीं समझता। यह समाज व्यवस्था मे श्रमिकों के सक्रिय तथा रचनात्मक सहयोग का समर्थक है। यह शारीरिक श्रम और तकनीकी निपुणता में किसी प्रकार का विरोध नहीं देखता। यह औद्योगिक विकास हेतु इनके बीच-समुचित तालमेल को आवश्यक मानता है। यह श्रमिकों को तकनीकी निपुणता प्राप्त करने हेतु प्रोत्साहन प्रदान करने का पक्षधर है और चाहता है कि वे तकनीकी विकास का स्वागत करने वाले तथा उसमें अपना सहयोग देने वाले बनें। इसका मत है कि तकनीकी व्यक्ति श्रमिकों का ही आन्तरिक अंग है। प्रबन्धको और तकनीशियनों को पूंजीवाद का एजेन्ट नही होना चाहिये वरन् श्रमिकों के साथ मेल-मिलाप बढ़ाना चाहिये तथा उनसे मिलकर समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की रचना करनी चाहिये।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के निर्माता होने के नाते वर्तमान समाजवादी व्यवस्था में उन्हें अधिक सम्मान प्राप्त होगा। वर्तमान में उन्हें पूंजीवाद का एजेन्ट बनना पड़ता है, शोषण में सहायक बनना होता है और मनमाने ढंग से उद्योगों को मुखिया बने पूजीपतियो की सनकों, आदेशों और निर्देशों के सम्मुख झुकना पड़ता है। समाजवादियों को इसमें कोई सन्देह नहीं कि निजी प्रतिष्ठान में अधीनस्थ एजेन्ट होने के बजाय सामाजिक प्रतिष्ठानों में सहभागी होना कही अधिक सम्मानजनक तथा मानवीय कार्य है। समाजवादी यह भी विश्वास करते हैं कियदि प्रबंधक और तकनीकी व्यक्ति शारीरिक श्रम करने वाले कर्मचारियो के विरुद्ध अपनी श्रेष्ठता भावना का परित्याग कर दें और उनके साथ साझा उद्योगों में सहभागी के रूप में कार्य करने का प्रयास करें तो शारीरिक श्रमकर्ताओ की उनकी सहकर्म तथा सहकारी भावना के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया होगी और वे अपनी उर्साहीन मनोवृत्ति से छुटकारा पा सकेंगे जो पूजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न होती है।

समाजवादियों ने बौद्धिक व्यवसायों और कार्य-कलापो के अहित में न तो कभी सोचा और न सोच ही सकते हैं, क्योंकि वे सभ्य सामाजिक जीवन के लिये अपरिहार्य हैं। कुछ उदारवादी दार्शनिकों की भांति समाजवादी स्वतः मात्र ज्ञान को न तो मूल्यवान मानते हैं और न प्लेटों की भांति ज्ञान की श्रेष्ठता की अवधारणा

से ही सहमत होते हैं क्योंकि उसका तकाज़ा यह होता है कि समस्त राजनीतिक शक्ति पर दार्शनिकों का ही पूर्ण नियन्त्रण स्थापित रहे और एक मेहनतकश दार्शनिक नहीं हो सकता। वे इसके भी विरोधी हैं कि ज्ञान तथा बौद्धिक व्यवसायों और कार्य-कलापों पर जनता के किसी अंग विशेष का आधिपत्य स्थापित रहे।

लेकिन ज्ञान को वे उच्च स्थान प्रदान करते हैं। वे ज्ञान का विस्तार करना चाहते हैं और उसे विश्वव्यापी बनाना चाहते हैं और चाहते हैं कि जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इसका अधिकतम उपयोग किया जाय। ज्ञान और श्रम की एकबद्धता समाजवाद का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसका अर्थ है ज्ञान प्राप्ति के साधन श्रमिकों और उनके बच्चो को भी उपलब्ध होने चाहिये। अपने सामाजिक मूल के कारण उन्हें बौद्धिक प्रगति से वंचित नही किया जाना चाहिये और ज्ञान उपार्जन हेतु उन्हें समाज द्वारा यथेष्ट सुविधाये उपलब्ध कराई जानी चाहिये। इसका यह भी अर्थ है कि सामान्य शिक्षा तथा व्यवसायिक प्रशिक्षण के बीच उचित तालमेल होना चाहिए और प्रत्येक बालक को नागरिकता और किसी व्यवसाय की प्रारम्भिक ट्रेनिंग दी जानी चाहिए। इसका यह भी अर्थ है कि शारीरिक श्रम करने वाले व्यक्ति को उतना निपुण होना चाहिए जितना निपुण उपलब्ध ज्ञान उन्हे बना सकता है।

अन्तिम बात—जो कम महत्वपूर्ण नही है—यह है कि बुद्धिजीवियो और शारीरिक श्रम करने वालो के बीच आपसी मेल-मिलाप की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। समाजवादी वर्गविहीन समाज के समर्थक हैं और यह तब तक सम्भव नही जब तक कि इन दोनों में एकताबद्ध होने की भावना उत्पन्न नही होती। इसको प्राप्त करने हेतु सामाजिक पूर्वाग्रहो और बाधाओं को त्यागना होगा और उन सामाजिक जटिलताओ से मुक्ति पानी होगी जो इन दोनों को सदियो से विभक्त किये हुए हैं। इन दो पक्षों के बीच अधिक मेल-मिलाप होने, सांस्कृतिक प्रगति और शारीरिक श्रम करने वालों की सामाजिक हैसियत में उत्थान होने के फलस्वरुप यह कार्य सरल हो सकेगा। दोनो पक्षो का एकान्तिक स्वरुप समाप्त हो चुका है। एक पक्ष दूसरे पक्ष के क्षेत्र मे पदार्पण कर चुका है और वे एक दूसरे को आलिंगन करते प्रतीत होते हैं। कुछ श्रेणियों के निपुण श्रमिक कुछ विशिष्ट प्रकार के बौद्धिक क्षेत्रो के समकक्ष आ गये हैं। आधुनिक तकनोलाजी के कारण इन दो पक्षों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन कार्य हैं किन्तु बौद्धिक विकास

हेतु अधिकाधिक सुविधायें उपलब्ध हो जाने से शारीरिक श्रमकर्ताओ और उनके बालको के लिये रेखा पार करना और बौद्धिक व्यवसायों तथा कार्य-कलापो में सम्मिलित होना सम्भव हो गया है।

बुद्धिजीवियों और शारीरिक श्रमकर्ताओं से सम्मिलन की प्रक्रिया स्वागत योग्य है और इसे बढ़ाने हेतु सक्रिय प्रयास किये जाने चाहिए क्योंकि इससे सामाजिक समरसता उत्पन्न होती है और बौद्धिक जीवन समृद्ध होता है, साथ ही इसके फलस्वरुप बौद्धिक व्यवसायों और कार्य-कलापो को अग्रसारित करने हेतु जन सहयोग प्राप्त करने में सहायता प्राप्त होगी। यदि बुद्धिजीवियों और शारीरिक श्रमकर्ताओं में नित संघर्ष की स्थिति बनी रहती है तो भारत में सामाजिक प्रगति के लिये इससे अधिक हानिकारक और कुछ भी नही हो सकता। लोकतन्त्र में बुद्धिजीवियों के एकाकी बने रहने पर उनको स्वय हानि भोगनी होगी। एकाकी बने रहने की भावना के कारण बुद्धिजीवी वर्ग शेष समाज से अलग-थलग पड़ जायेगा, उसका समाज को नेतृत्व प्रदान करने का दावा समाप्त हो जाएगा और इस कारण वह निज अस्तित्व बनाये रखने का अवसर भी खो बैठेगा।

विगत काल में भारत में बुद्धिजीवियों के एकाकीपन से उन्हें हानि उठानी पड़ी है। फलस्वरुप उन्हें अस्थिरता और ह्रास का भागीदार होना पड़ा है। सशक्त के लिये उन्हें अपने क्षेत्र-विस्तार और व्यापक सम्पर्क की आवश्यकता होती है। इसके विस्तार और जनवादीकरण से बौद्धिक स्तर में ह्रास होने के बजाय बौद्धिक जीवन समृद्ध होता है। विश्व के लोकतंत्रों ने इसे यथेष्ट रुप से सही सिद्ध कर दिया है। समाजवाद में ज्ञान एवं बौद्धिक कार्य-कलापों के विस्तार के प्रति सदैव उत्कंठा प्रदर्शित की गयी है। पूँजीवादी लोकतंत्र की तुलना मे समाजवादी व्यवस्था में ऐसे कार्यो के लिए उदारतापूर्वक अधिक धनराशि आवंटित की गयी है तथा बुद्धिजीवियों को उच्च सम्मान प्रदान किया है। पूँजीवाद और पूँजीवादी वर्ग के समाप्त होने पर बुद्धिजीवी वर्ग का निश्चय ही सामाजिक उत्थान होगा। स्वतंत्र समाजवादी समाज में पूँजीवादी लोकतत्रों की तुलना में उनका रुतबा निश्चय ही अधिक ऊँचा होगा। ऐसा सोवियत संघ में भी देखा जा सकता है जहाँ कि दुर्भाग्यवश तानाशाही ने आवश्यक बौद्धिक स्वतंत्रता पर रोक लगा दी है, राजनीतिक नियतिवाद से परिचालित आस्थायें थोप दी गयी हैं और मतारोपण द्वारा बौद्धिकता का गला घोंट दिया गया है। लेकिन लोकतांत्रिक समाजवाद को

इस प्रकार के विकारों का दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि यह विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक है और यह किसी भी प्रकार की और किसी भी क्षेत्र की तानाशाही का विरोधी है। वह चाहता है कि बुद्धिजीवी व्यापक मानव सहानुभूतियाँ उपलब्ध करें। उनके बौद्धिक कार्य-कलाप सोद्देश्य हों, वे समाज हित के प्रति उत्कंठित हों, साथ ही वह उन्हें पूर्ण बौद्धिक स्वतन्त्रता प्रदान करने की गारंटी देता है।

लोकतांत्रिक समाजवाद यह चाहता है कि बुद्धिजीवी शरीरिक श्रमकर्ताओं के साथ अपनी एकता स्थापित करें, वह यह नहीं चाहता कि वे श्रमिकों पर पूंजीवाद के जैसे तौर तरीकों को थोप दें। इसके स्थान पर वह चाहता है कि शारीरिक श्रम करने वालों का स्तर अपने पेशे के अनुकूल उच्च हो सके। वह चाहता है कि उद्योगों का उद्देश्य जन सेवा हो क्योंकि किसी भी व्यवसाय का यही मुख्य अंग होता है। वह चाहता है कि औद्योगिक श्रमिक स्वयं अपनी शिष्टाचार संहिता तैयार करें और ईमानदारी से उसका पालन करें। वह आशा करता है कि उस समाजवादी समाज में श्रमिक यह महसूस करेंगे कि उनके कार्य की कसौटी उससे प्राप्त होने वाला आर्थिक लाभ मात्र ही नहीं वरन् उसका लक्ष्य सेवा है और इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु वे अपने व्यक्तिगत लाभ को उसके अधीनस्थ कर देंगे।

समाजवादी समाज किसी प्रकार की सेवा के लिए अत्यधिक शुल्क प्राप्त करने और बेहद धन संचय की अनुमति नहीं देगा, लेकिन जो बौद्धिक व्यवसायों और कार्य-कलापों में संलग्न हैं उनका जीवन स्तर यथेष्ट उच्च होगा। तब बेरोजगारी नहीं रहेगी और रोग-व्याधि, परिवार में जन्म तथा मृत्यु और बीमारी, वृद्धावस्था या किसी अन्य कारणवश व्यक्तिगत रूप से काम करने की क्षमता समाप्त होने से जो चिन्तायें उत्पन्न होती हैं उन्हें दूर करने के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने वाले उपाय ग्रहण किये जायेंगे।

बौद्धिक व्यवसायों एवं कार्य-कलापों में संलग्न व्यक्तियों को समाजवादी आमन्त्रित करते हैं कि वे अपनी उस अनिश्चितता की भावना को त्याग दें जिसके फलस्वरूप उनका व्यक्तित्व विघटित हुआ है, अपने भाग्य को श्रमिकों के साथ जोड़ दें और उनके साथ मिलकर भारत में समाजवादी समाज की स्थापना करें।

समाजवाद : एक सांस्कृतिक आन्दोलन

आचार्य नरेन्द्र देव

समाजवाद केवल आर्थिक ही नहीं, एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी है। जितना जोर यह नयी आर्थिक व्यवस्था पर देता है उतना ही जोर यह वास्तविक मानव संस्कृति पर भी देता है। सामाजिक आचार संहिता की तरह ही यह भी संस्कृति को मानवीय, सामाजिक और ऐतिहासिक मानता है। मनुष्य में जो कुछ भी सामाजिक है, संस्कृति उसकी अभिव्यक्ति मात्र है और सांस्कृतिक धरोहर अतीत के मानव प्रयासों की सामूहिक उपलब्धि सांस्कृतिक सिद्धान्त इतिहास की उपज, मानव-अनुभवों के परिणाम और मानव की आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं के मूर्त रूप हैं। सांस्कृतिक ताना-बाना एक जीवनशैली है जो एक निश्चित भौतिक पर्यावरण और ऐतिहासिक रूप से सुनिश्चित सामाजिक अवस्थाओं में रहकर अपना स्वरुप ग्रहण करती है।

भौगोलिक वातावरण, संस्कृति को आकार व रंग तथा सांस्कृतिक विचार धारा प्रदान करता है। हमारी जीवनशैली की जड़े निःसंदेह इस मिट्टी में गहरी जमी हुई हैं, जिसे उखाड़ा नहीं जा सकता। कोई भी नई जीवनशैली तब तक नहीं लायी जा सकती जब तक वह भौगोलिक वातावरण की अभ्यस्त न हो जाय! लेकिन भौगोलिक कारक सामाजिक स्थिति के तात्कालिक निर्धारक न होकर उसकी सीमा-निर्धारक शर्तों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारी जीवनशैली और संस्कृति, भौगोलिक पर्यावरण की अपेक्षा सामाजिक वातावरण और उसकी परिस्थितियों से अधिक निर्धारित होती है। अपनी अनेकानेक विविधताओं के बावजूद साथ जीवन बिताने वाली जनता ने अनजाने ही कुछ सामाजिक विशेषताओं और सांस्कृतिक दृष्टि-कोणों को विकसित करना शुरू कर दिया। इस तरह हम देखते हैं कि सांस्कृतिक और सामाजिक दशाओं के बीच तथा सांस्कृतिक प्रगति और सामाजिक उद्भव के बीच निकट के संबंध हैं। संस्कृति काफी हद तक अपरिहार्य सामाजिक शक्तियों और आर्थिक हितों द्वारा स्वरूप ग्रहण करती है। किसी भी सांस्कृतिक ढांचे का सामाजिक विकास के साथ-साथ चलना अनिवार्य होता है। सांस्कृतिक पिछड़ापन

प्रजा पार्टी के गया अधिवेशन (1955 में दिया गया भाषण।

सामाजिक विकास के लिए हानिकारक और खतरनाक होता है। संस्कृति और सामाजिक आवश्यकताओ के बीच किसी प्रकार की खाई विभाजित व्यक्तित्व और सामाजिक जीवन में असतुलन पैदा करती है।

विभिन्न वर्गों वाले समाज मे सामाजिक चेतना उन सामाजिक पूर्वाग्रहो में जकड़ी हुई होती है जो आर्थिक हितो के टकराव और सामाजिक आर्थिक सम्बन्धो की निकटताओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए होते हैं। ऐसे समाज में जहाँ एक ओर कुछ सांस्कृतिक मूल्य सम्पूर्ण समुदाय की समान रूप से धरोहर होते हैं, वही दूसरी ओर बहुतेरे सांस्कृतिक मूल्य वर्गहितो और पूर्वाग्रहो का प्रतिनिधित्व करते हैं। विभिन्न वर्गों के सांस्कृतिक आदर्श भी अलग-अलग होते हैं जिससे संस्कृति के क्षेत्र मे भी टकराव होते हैं। समाज पर शक्तिशाली सामाजिक वर्ग वह सांस्कृतिक ताना-बाना थोप देने मे समर्थ होता है जो उसकी आवश्यकताओ के अनुकूल हो, और उसको वह दृढता से कायम रखता है ताकि वह समाज पर अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक पकड़ सदैव बनाये रख सके। लम्बे समय से दबे-सहमे लोग शक्तिशाली सांस्कृतिक ढाचे के सम्मोहन मे रहते आये हैं और शक्तिशाली वर्ग का इस तरह अनुकरण करते रहे हैं जैसे कि वह कोई दैवी आदेश का पालन कर रहे हो। किन्तु समय के साथ जैसे-जैसे वर्ग चेतना जागृत होती है, दबे हुए वर्ग पुराने तौर-तरीकों की चुनौती देते हैं और उन मानवीय मूल्यो को मान्यता देने की माँग करते हैं जो उनके हितों की साधना में सहायक हो और सास्कृतिक ताने-बाने मे ऐसे बदलाव लाने पर जोर देते हैं जो उनकी अपनी सांस्कृतिक आवश्यकताओ और नयी अपरिहार्य सामाजिक-आर्थिक शक्तियों के अनुरूप हों।

ऐसे सास्कृतिक टकराव को सामने देखकर पुरानी सांस्कृतिक व्यवस्था के समर्थक अपने बचाव में आक्रमक हो उठते हैं। बहुसख्य जनता की वृत्ति के नाम पर पुरानी व्यवस्था को सही ठहराते हैं, और चली आ रही लीक से हटने को ही सामाजिक बुराइयो और सास्कृतिक उथल-पुथल का कारण बनाते हुए उसी लीक पर लौट आने की वकालत करते है। लेकिन सास्कृतिक वापसी का विचार घातक होता है। इसकी प्रकृति निश्चित रुप से प्रतिक्रियावादी होती है। यह जीवन मे ठहराव पैदा कर देता है, सामाजिक प्रगति के विरुद्ध तूफान खड़ा कर देता है और अन्त मे सामाजिक गति के दबाव में पड़कर यह टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

संयुक्त सस्कृति की कांग्रेसी अवधारणा जो भारतीय जनता के सास्कृतिक एकीकरण का समाधान बतायी जाती है, वास्तव में वह न केवल गतिहीन है बल्कि प्रतिक्रियावादी भी। इसमे जीवन और गति का अभाव है और यह आधुनिक

भारत की सांस्कृतिक आवश्यकताओं को समझ पाने में भी असमर्थ है। यह कुछ मध्यकालीन सास्कृतिक तौरतरीकों को सही मानते हुए इस आधार पर उन्हे भारतीय सस्कृति की मुख्य विशेषताओं का रुप देता है कि अतीत मे हिन्दू और मुसलमान, दोनों ने ही इन तौर-तरीकों को अपना रखा था। इस तरह यह कोशिश की जा रही है कि ऐसे समाज के ऊपर, जो कि लोकतांत्रिक होना चाहता है, पक्के तौर पर सामन्तवादी संस्कृति थोप दी जाय। कोई आश्चर्य न होगा अगर सयुक्त संस्कृति की, कांग्रेसी अवधारणा आधुनिक भारत को प्रेरित कर सकने में असफल हो जाय और वे सारे लोग इसे मानने से इनकार कर दें जो हमारी जीवन शैली का लोकतन्त्रीकरण तथा ऐसी नयी संस्कृति की रचना करना चाहते हैं जो कि श्रमजीवी जनता की समाजवादी प्रकृति वाली सामाजिक आकांक्षाओं पर आधारित हो।

समाजवाद निश्चित रुप से संयुक्त संस्कृति के नाम पर उन तौर-तरीकों को बनाये रखने के खिलाफ है जो समाज को उपर से नीचे तक खानों में बाँटती हो। यह आम आदमी की आकांक्षाओ और सास्कृतिक आवश्यकताओ को सामाजिक मान्यता दिलाने तथा प्रभुत्व और शोषण से मुक्त, जहाँ वर्ग सघर्ष न हो और कोई ऊँचा या नीचा न हो, ऐसे वर्गहीन समाज के लिए एक वास्तविक मानव सस्कृति विकसित करने के लिये कृत-सकल्प है। यह संस्कृति, भारतीय सस्कृति के मानवीय तत्वों और पश्चिमी संस्कृति के लोकतांत्रिक और समाजवादी तत्वो का रचनात्मक संस्लेषण होगी।

इस तरह विकसित हुआ सामाजिक मानवतावाद ही भारत में समाजवादी संस्कृति का आधार होना चाहिए, सामाजिक मानवतावाद रुप और अभिव्यक्ति में एकरुपता पर जोर नहीं देता। यह विविधताओ मे एकता और समन्वय चाहता है। हर नागरिक को सांस्कृतिक स्वायत्तता और हर तरह की समानता की गारटी होगी। उसे स्वतन्त्र रुप से अपने धर्म का प्रचार करने और उसका आचरण करने, अपने धर्म और साहित्य का अध्ययन करने तथा उसे बढ़ावा देने के लिए शैक्षिक सस्थाएं और सांस्कृतिक सगठन बनाने का समान अधिकार होगा। अल्पसख्यकों की सस्कृति, भाषा, परम्पराओ और विशेष रुचियों का पूरा ध्यान दिया जायगा और ऐसा कोई भी क़ानून नहीं बनाया जायगा जो किसी भी रुप में इनका विरोध करता हो। किसी भी समुदाय, चाहे वह धर्म के आधार पर या सम्प्रदाय अथवा भाषा के आधार पर अल्पसख्यकों के विरुद्ध किसी तरह का भेदभाव नहीं होगा।

प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में पूरी भागीदारी करने की अनुमति मे होगी। ऐसे स्थानों पर जहाँ आबादी मे किसी अल्पसंख्यक समुदाय का अनुपात काफी हो, राज्य द्वारा उनके बच्चो को माध्यमिक स्तर तक उन्ही की भाषा में मौलिक शिक्षा देने के लिए सुविधाए जुटायी जायेंगी। लेकिन अल्पसख्यकों के बच्चों को राष्ट्रभाषा और सम्बधित प्रान्त की काम-काज की भाषा भी पढनी होगी ताकि वे एक नागरिक के रुप मे अपनी रचनात्मक भूमिका अदा कर सकें।

श्रम और सस्कृति की एकता सामाजिक सस्कृति का मौलिक सिद्धात है। यह मानव श्रम को मानव व्यक्तित्व की रचनात्मक शक्ति के रुप मे आँकता है और इसकी अभिव्यक्तिकी दशाओ को परिस्कृत करने को मानव जाति के सुसस्कृत जीवन के लिए अनिवार्य मान्यता है इसकी मान्यता के अनुसार सस्कृत को पूरे समुदाय द्वारा अपनाया जाना चाहिए और यह सबके द्वारा अपनायी जा सकने योग्य होनी चाहिए। अपने व्यक्तित्व के विकास करने और मानव की सांस्कृतिक धरोहर से लाभ उठाने के लिए जनसामान्य को पर्याप्त सुविधाएं दी जानी चाहिए और तब, कला के खजानो को निजी सम्पत्ति बनकर कदापि नही रहने देना होगा उनका राष्ट्रीयकरण करके उनके दरवाजे अध्ययन और आमोद-प्रमोद के लिए सभी के लिए खोल देने चाहिए, अपने कार्यकर्ताओ की सांस्कृतिक उन्नति के लिए सुविधाए देने और सास्कृतिक कक्षों की स्थापना करना सभी आर्थिक उपक्रमो के लिए अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। किसानो को न केवल ग्रामीण भारत की प्राकृतिक सुन्दरता बनाये रखने के लिए बल्कि, सांस्कृतिक गुणों को प्राप्त करने तथा उसका आनन्द उठाने के लिए भी मानव को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। शालीन सभ्य जीवन की आधुनिक सुविधाएं ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली जनता को भी इस तरह उपलब्ध करायी जानी चाहिए ताकि शहरी और ग्रामीण भारत का वास्तविक साँस्कृतिक एकीकरण सभव हो सके।

जनजातियो का सास्कृतिक उत्थान करने और पिछड़ी तथा उन्नत जातियों के बीच शैक्षिक और सांस्कृतिक अन्तर को दूर करने की समस्याएँ समाजवादी आन्दोलन की विशेष चिन्ता के विषय हैं। पिछले समय में दुनिया के बहुत से देशों में राष्ट्रवादियों ने जनजातियों का सांस्कृतिक समानीकरण सुनिश्चित करने के प्रयास में उनपर ऐसा सांस्कृतिक ताना-बाना थोप दिया जो उनके विचार में

राष्ट्रीय प्रगति का था। वे सारे प्रयास न केवल अपना लक्ष्य पाने में असफल रहे बल्कि अधिकांश मामलों में उन प्रयासों से जनजातियों की सास्कृतिक उन्नति मंद हो गयी और उनका शोषण और अतिक्रमण भी होने लगा। थोपने की क्रिया ने उस सांस्कृतिक ताने-बाने का मार्ग अवरुद्ध कर दिया और उससे घृणा की जाने लगी और यह जनता की सास्कृतिक रूप से उखाड़ फेकने की ओर प्रवृत्त हो गयी।

इसलिए लोकतांत्रिक समाजवाद संस्कृतियो के सम्मेलन और उन्हें नयी परिस्थितियो के अनुकूल बनाने की प्रक्रिया द्वारा उनकी सास्कृतिक प्रगति करने का प्रयास करेगा। उनकी स्वदेशी सस्कृतियो के अनिवार्य तत्वों और समाजवादी सस्कृति के मौलिक सिद्धान्तो के रचनात्मक संश्लेषण की रुपरेखा तैयार करने मे उनकी सहायता करने के प्रयास किये जायेंगे। उनकी सांस्कृतिक स्वायत्तता स्थापित की जायगी। जिसे साधारण नगरपालिका सम्बन्धी कार्यो के अतिरिक्त कानून बनाने और जनजातीय अर्थतन्त्र तथा उसके सामाजिक-सांस्कृतिक मामलों के प्रशासन का भी अधिकार होगा। इन क्षेत्रीय परिषदों को जनजातीय क्षेत्रो मे उत्पादन की उन्नत तकनीकें और सास्कृतिक जीवन की आधुनिक सुविधाएँ जुटाने मे सहायता और प्रोत्साहन दिया जायगा।

इस तरह भारत के उन्नत वर्गों और राज्य की सहायता और प्रोत्साहन से जनजातियाँ अपने रचनात्मक सहकारी प्रयासो से अपनी प्रगति कर ले जायेगी। वे ऐसी संस्कृति विकसित करने मे समर्थ होंगी जो विषयवस्तु में समाजवादी तो होंगी, लेकिन ऐसे सास्कृतिक तौर तरीके और परम्पराओ को बनाये रखा जायगा जो उन्हें प्रिय हों और नयी सस्कृति की भावना के विरुद्ध न हो।

भारत एक बहुभाषावादी देश है, जिसे भारतीय कम्युनिस्ट बहुराष्ट्रीय राज्य के रूप में गलत देखते हैं। भारत की विभिन्न भाषायी इकाइयो के बीच जातीय सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सम्बन्ध हैं, स्विटजरलैण्ड के उन विभिन्न भाषायी समूहों के बीच सबन्धो से कही अधिक निकट हैं, जिन्हे सारे सक्षम सस्थानो ने एक देश के रूप में स्वीकार कर लिया है। सोवियत यूनियन और भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचों की कोई तुलना नहीं की जा सकती इसलिए सोवियत यूनियन की एकरूपता भारत में लागू नहीं की जा सकती। जार के शासन काल मे रूसी साम्राज्य विभिन्न भाषायी समुदायो वाला था, जिनमे से अधिकाश अपनी में वृहत्तर रूस से पूरी तरह भिन्न व उसके प्रमुख

से पीड़ित रहे थे।

बृहत्तर रुस की जनता द्वारा अपने साम्राज्य के दूसरे भाषायी समुदायो के साथ राष्ट्रीय एकीकरण का कोई प्रयास नही किया गया और इस तरह बोल्शेविक क्रान्ति के ठीक पहले रुसी प्रभुत्व से राष्ट्रीय मुक्ति के सघर्षों का सामना रुस को करना पडा था। ये सारी बातें भारत के बारे मे नही कही जा सकती हैं। अपने सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचो मे लगभग सारे महत्वपूर्ण भाषायी समुदाय एक जैसे हैं। उनकी कई सांस्कृतिक परम्पराएँ एक जैसी हैं और उन्होंने भारत की सामान्य सास्कृतिक धरोहर मे अपने योगदान किये हैं। विदेशी दास्ता के विरुद्ध सबके संघर्ष के दौरान राष्ट्रीय एकता के विकास मे यह सांस्कृतिक एकता सहायक रही है। इस तरह भारत के विभिन्न भाषायी समूहो की सास्कृतिक स्वायत्तता की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति की नहीं है। वास्तव में यह समस्या भारत के घटक राज्यों में और क्षेत्रीय इकाइयों के बीच इस प्रकार के पुनर्बंटवारे की समस्या है, जिससे कि सबको समान सांस्कृतिक स्वायत्त, जो उसके आकार या राष्ट्रीय विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल हो, सुनिश्चित की जा सके।

भारत के कम्युनिस्टो, जो सोवियत एकरूपता को बहुत पसद करते हैं और जो उस आधार पर भाषायी समुदायो के अलगाव के अधिकार की चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं, को यह भी याद रखना चाहिए कि सोवियत यूनियन में अलगाव की मांग को क्रांति विरोधी माना जाता है और अलगाव का अधिकार सभी राष्ट्रीय इकाइयों को न देकर केवल उन्हीं को दिया जाता है, जिनकी सख्या कुल की दस प्रतिशत से भी कम है, और जो इन तीन महत्वपूर्ण शर्तों को पूरा करती हों : (1) सबंधित इकाई सोवियत यूनियन के मध्य भाग में स्थित न हो (2) इकाई इतनी विशाल हो कि वह स्वतन्त्र राज्य बन सके, और (3) सबंधित क्षेत्र एक एकीकृत राष्ट्रीय इकाई हो। उन्हें यह भी याद रखना चाहिए कि सोवियत यूनियन में रूसी जनता 'बड़े भाई' के रुप मे देखी जाती है और यह भी कि भाषायी समुदायो की राष्ट्रीयता की परिकल्पना 'सोवियत जनता' की अखड प्रस्तर सरीखी एकता की परिकल्पना में लगभग डूब सी गयी है, जिस पर सोवियत राजनेता अधिकाधिक जोर दे रहे हैं।

हम समाजवादी लोग भारत के भाषायी समुदायों के अलगाव के अधिकार की निन्दा करते हैं लेकिन साथ ही साथ हम किसी भी भाषायी समुदाय को बड़ा

भाई मानना भी अस्वीकार करते हैं और हम एक ही पत्थर से बने स्तम्भ जैसी एकता की दृष्टि से सोचते भी नहीं हैं। हम सभी भाषायी समुदायों की बराबरी के आधार पर राष्ट्रीय एकता के पक्षधर हैं। जो हमारा आशय है, वही हम कहते हैं। इसलिए हम यह ठीक नहीं समझते कि एक सांस में अलगाव के अधिकार की बात कही जाय और अगली सांस में इसकी माँग को क्रान्ति विरोधी बताकर दण्ड दिया जाय। हम पूरी तरह सतुंष्ट है कि सभी महत्वपूर्ण भाषायी समूह भारत राष्ट्र के बराबरी के सदस्य हैं और कोई भी समूह किसी भी रुप में अन्य समूहों की अपेक्षा श्रेष्ठता का दावा नहीं कर सकता। हमारी दृष्टि में श्रेष्ठता का दावा करना लोकतन्त्र को नकारना और समानता को छीनना है, जो कि समाजवादी समाज का पहला मौलिक सिद्धान्त है। हमारी राय में स्वायत्त राष्ट्रों को अखंड प्रस्तर सरीखी एकता का विचार अपने आप में अन्तर्विरोधी है और यह केवल अधिनायकवाद में ही सम्भव है जो स्वायत्त की बात तो करता है लेकिन सभी महत्वपूर्ण मसलों पर कठोर एकरुपता भी थोप देता है। हमे इस बात मे थोड़ा भी संशय नही है कि वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय एकता की प्रकृति कभी भी अखंड प्रस्तर सरीखी नही हो सकती। इसकी तुलना प्रस्तर एकता के रुपक सरीखी उस स्तम्भ की कठोरता और एकरुपता से नहीं की जा सकती, जिसे किसी एक बड़े पत्थर को तराशकर बनाया गया हो।

भारतीय जनता की प्रगति और सास्कृतिक एकता को बढ़ावा देने के लिए, पार्टी 'हिन्दी' भाषा को भारत की सामान्य राष्ट्रीय भाषा के रुप में स्वीकार करेगी परन्तु वह इस बात को भी अपना कर्तव्य समझेगी कि सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान रूप से बढ़ावा दिया जाये। ऐसे प्रान्तों मे भी जहां सम्बन्धित क्षेत्रीय भाषा काम-काज की भाषा नही है, वहाँ भी उसके समुचित अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए कदम उठाये जायेंगे। भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के अध्ययन-संस्थान कम से कम बड़े राज्यो मे तो अवश्य ही स्थापित किये जायेंगे और भारत की विभिन्न भाषायी इकाइयों के बीच सांस्कृतिक निकटता को बढ़ावा देने के यथासम्भव अन्य प्रयास भी किये जायेंगे।

लोकतांत्रिक समाजवाद महिलाओं और पुरुषों की समानता स्थापित करने की तात्कालिक आवश्यकता तथा उसके औचित्य को स्वीकार करता है। असमानता अमानवीय होती है और महिलाओं का सांस्कृतिक पिछड़ापन है।

महिलाओं की सक्रियता के बिना बड़े सामाजिक परिवर्तन असंभव हैं। इसलिए समाजवाद ऐसे सांस्कृतिक तौर-तरीकों और रूपों के विरुद्ध है जिन्होंने महिलाओं को आश्रित बनाकर समाज में दूसरे दर्जे में ढकेल दिया है और उनकी सांस्कृतिक उन्नति के अवसरों और सुविधाओं से उन्हें वंचित कर दिया है। उनके लिए यह समानता के स्तर और आत्मनिर्भरता का आनन्द उठाने की कामना करता है। यह न केवल सभी स्तर की नौकरियों और रोजगार पाने के उनके अधिकार को स्वीकार करता है और समान कार्य के लिए समान वेतन के अधिकार को मानता, है, बल्कि उनके समान सांस्कृतिक विकास तथा सभी विषयों में सामाजिक बराबरी के उनके दावे पर भी जोर देता है। मातृत्व को उसका उचित दर्जा देते हुए, यह जच्चा-बच्चा के कल्याण को परिवार और समुदाय का संयुक्त दायित्व मानता है यह भी स्वीकार करता है कि महिलाओं को शिक्षा पाने और देश के सांस्कृतिक जीवन में भागीदारी करने का समान अधिकार है।

संस्कृति और हंसी-खुशी इस तरह कुछ ही सुविधा सम्पन्न लोगों का एकाधिकार बनकर नहीं रहने पायेगी। हर एक के पास शालीन सांस्कृतिक जीवन के साधन होंगे और उसे दूसरों के साथ हंसने और खुशी मनाने का अधिकार होगा। हर एक का विकास हो, यह सबके विकास की शर्त होगी। मानव स्वयं अपना भाग्य निर्माता होगा। उसकी रचनात्मक प्रतिभा को स्वतंत्र अभिव्यक्ति मिलेगी और कलाकार और शिल्पकार दोनों को मानव आनन्द में वृद्धि करने के लिए समान प्रोत्साहन दिया जायगा। रईसों की सनक, अशिष्टता और अहंकार की तुष्टि करना किसी के लिए जरूरी न रहने पायेगा। न ही किसी को अपनी कलाकृति राजकीय अधिकारियों के आदेशार्थ प्रस्तुत करनी पड़ेगी, जैसा कि सोवियत यूनियन में किया जाता है। लोक परम्पराओं को, जो कि आम आदमी की खुशी, दुख, आकांक्षाओं और प्रतिभा की स्वतंत्र अभिव्यक्तियाँ होती हैं, समाजवादी समाज और अधिक आदर देगा और वह सामन्तों के दरबारों में पली कला की अपेक्षा समाजवादी कलाकारों पर अधिक ध्यान देगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि सामन्तों और पूंजीपतियों के समय की कला को बरबाद हो जाने दिया जायगा। इस बात के सारे प्रयास किये जायेंगे कि वह कला सुरक्षित रहे और नयी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरुप उसकी तकनीक का विकास हो।

कलाकार और साहित्कार सत्य, मानवगुण और सुन्दरता के तीन आदर्शों, जिसे प्राचीन काल में 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' कहा जाता था, द्वारा दिशानिर्देशित

होते रहेंगे। कला का अर्थ यथार्थवाद होगा और वह सत्य का समर्थन करेगी। वह स्वतंत्र सामूहिक प्रयासों को मानव आनन्द और प्रसन्नता प्राप्त करने के माध्यम के रूप में व्यक्त करेगी। निःसंदेह यह प्रकृति और जीवन के सामंजस्य की पक्षधर होगी। लेकिन साथ ही यह वर्ग संघर्ष, शोषण और दमन से मुक्त सामाजिक प्रणाली में सामाजिक शक्तियो और भावनाओं के सामंजस्यीकरण से समाज में सामजस्य स्थापित करने की भी पक्षधर होगी। इन तीनो को एक समष्टि के अपृथक्करणीय घटक माना जायेगा। इसलिये सत्य की अभिव्यक्ति ऐसी होगी जो आनन्द और सामंजस्य को बढ़ावा दे। आनन्द और प्रसन्नता को असत्य और अन्तर्विरोधों से मिश्रित कर डालने का कोई प्रयास न होगा, न ही 'सुन्दरता, सत्य, सामाजिक आनन्द और नैतिक गुणों से वंचित रहेगी। स्थायी मूल्य की कला को रचना के लिये स्वतंत्र वातावरण में इन तीनों की समन्वित अभिव्यक्ति आवश्यक है।

भारतीय कला की प्रकृति मुख्यतः प्रतीकात्मक है और समाजवादी भारत मे वह ऐसी ही बनी रह सकेगी। लेकिन तब वह प्राचीन पौराणिक परम्पराओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति निरर्थक कल्पनाओ से नही करेगी। यह मानव मूल्यों, स्वतंत्र समाज की सामाजिक धारणाओं, सामाजिक आकाक्षाओं और इसके सदस्यो के मानवीय सवेदनों को बोधगम्य रुपो में अभिव्यक्त करेगी तथा एक ऐसे प्रतीक आदर्श व्यक्तित्व को उजागर करेगी जो समाजिक अन्याय और स्वयं अपनी बुरी प्रवृत्तियो के विरुद्ध प्रयास करता हुआ सबके आनन्द और विकास की उन्नति के प्रति समर्पित हो।

किसी ऐसे समाज के जन्म के लिये जो लोकतांत्रिक प्रकृति वाला और शोषण तथा दमन से मुक्त हो, शिक्षा की प्रणाली का आमूल परिवर्तन करना होगा। ज्ञान ही शक्ति है, अतएव समता और न्याय सुनिश्चित करने के लिये इसका सर्वव्यापीकरण अनिवार्य है इस तरह समाजवादी समाज में शिक्षा और सस्कृति सुविधा सम्पन्न वर्ग का एकाधिकार वनकर न रहने पायेगी। हर नागरिक आधुनिक शिक्षा से लाभान्वित होगा। धीरे-धीरे विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा भी निःशुल्क कर दी जाएगी। हर बच्चा, लड़के और लडकिया अपनी रुचि और योग्यतानुसार तथा समुदाय की आवयकताओ के अनुसार शिक्षा पायेंगे। उन वर्गों और सम्प्रदायों, जो अब तक शिक्षा के लाभों से वचित रखे गये थे, के लड़के और लडकियों पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। न केवल उनका अध्यापन निःशुल्क किया जाएगा बल्कि राज्यों की ओर से उन्हे निर्वाह सहायता भी दी जायेगी।

कोई भी व्यवसाय अब समुदाय के किसी वर्ग अथवा जाति विशेष की नियति न रहने पायेगा। समुदाय के निर्धन वर्गों के प्रतिभावान युवक युवतियों को विभिन्न व्यवसायों में विशेष प्रशिक्षण पाने के लिये छात्रवृत्ति और निर्वाह भत्ता दिया जाएगा। किसानो और श्रमिको के लिए प्रौढ़ शिक्षा संस्थान उनके घरों और काम करने की जगहो के पास स्थापित किए जायेंगे। वे संस्थान व्यवसायिक प्रशिक्षण के साथ-साथ सांस्कृतिक और शैक्षिक गतिविधियों की भी व्यवस्था करेंगे। चूकि प्रतिभायें समाज की प्रत्येक सतह पर विद्यमान हैं और मानवजाति का कोई भी वंश या वर्ग ऐसा नही है जो मानव की सांस्कृतिक धरोहर को आत्मसात करने मे समर्थ न हो, इसलिए शिक्षा का सर्वव्यापीकरण देश की सांस्कृतिक उन्नति मे सहायक होगा, इसकी बौद्धिक पूंजी बढ़ाएगा और इसे दुनियां के दूसरे सभ्य देशों की बराबरी में ले आयेगा। विज्ञान और तकनीकी शिक्षा पर विशेष बल दिया जाएगा। अल्प विकसित देश की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बडी संख्या मे व्यवसायिक स्कूल और तकनीकी विद्यालय खोले जायेंगे। लेकिन विज्ञान की शिक्षा को मानविकी विषयों से जोड़ा जाएगा ताकि तकनीकी शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य और आदर्श विचार भी समा सकें। शिक्षा के कार्यक्रमो मे भौतिक, नैतिक और बौद्धिक शिक्षा को उचित स्थान दिया जायगा।

युवक-युवतियों में आत्मोद्योग, नागरिक और सामाजिक चेतना, सहकारिता की आदत, लोकतांत्रिक आदर्शों और परम्पराओं के प्रति आदर तथा नागरिक सम्पत्ति तथा सामाजिक दायित्वों के प्रति सम्मान की भावना जागृत करने के प्रयास किये जायेंगे। नागरिकता के सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के साथ इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए शिक्षकों के मार्गदर्शन में लोकतांत्रिक तरीकों से उपरोक्त नैतिक आदर्शों से युक्त स्वस्थ बाहरी गतिविधियां प्रारम्भ की जायेंगी। समुदाय के सम्पूर्ण युवावर्ग में लोकतांत्रिक भावना और राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न करने के लिए यह भी आवश्यक है कि सभी को सामान्य विद्यालयों में शिक्षा मिले। इसके लिए उन विशेष स्कूलों को, जो रईसो और ऊँचे ओहदो पर बैठे राजकीय अधिकारियों के बच्चों के लिए खोले गए हैं, बन्द कर दिया जायगा और धार्मिक तथा साम्प्रदायिक शिक्षण संस्थानों को सार्वजनिक स्कूलो के रुप मे परिवर्तित कर दिया जायगा।

ज्ञान और कार्य की एकता समाजवादी शिक्षा का मौलिक सिद्धांत है। मस्तिष्क निश्चेष्ट और निरालोचक रहते हुए विचारों को ग्रहण कर लेने का आदी नही होता। ज्ञान का स्रोत एक दृश्यानुभवपरक वास्तविकता है, जो कि प्रयो-

तिकता, कौशल और आलोचनात्मक परीक्षण की सक्रिय प्रक्रिया है। इसलिए शिक्षा को विद्यार्थियों मे विचारो को जबरदस्ती ठूंस देने की प्रक्रिया कदापि नहीं बनने देना चाहिए। इसके बजाय, सैद्धान्तिक शिक्षा को उत्पादक श्रम और विद्यार्थियों द्वारा वस्तुओं के प्रत्यक्ष प्रायोगिक कौशल के साथ-साथ आगे बढ़ना चाहिए।

ऐसी शिक्षा हमेशा इस बात को ध्यान में रखकर नियोजित करनी होगी कि ज्ञान शोध की उन्नति केवल शैक्षिक स्वतंत्रता के वातावरण में ही पल सकेगी जहाँ शिक्षकों को विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हो, समाज में उनका सम्मान हो और उन्हें आवश्यक वस्तुओं की कमी न हो। समाजवादी शिक्षा की व्यवस्था के लिए समाज को ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता है, जो न केवल अपने ज्ञान क्षेत्रों के विशेषज्ञ हो बल्कि वर्तमान काल की भावना से ओत-प्रोत और समकालीन जीवन की अवश्यकताओ और आकांक्षाओ से भलीभाँति परिचित हैं। उनका यह दायित्व है कि वे अपने शिष्यों को लोकतन्त्र की भावना, स्वतन्त्रता से प्रेम, न्याय और प्रगति करने की प्रबल इच्छा के रंगो मे रंग दें। इस मिशन के लिए अनिवार्य है कि उनके इसके लिए आवश्यक गुण मौजूद हों। संक्षेप में एक शिक्षक को अच्छी शिक्षा पाया हुआ तथा समाज सेवा के लिए सशक्त नैतिक बोध और उत्साह का धनी होना चाहिए। केवल तभी हम स्कूलों का मानवीकरण कर सकेंगे, देश के युवा वर्ग पर नैतिक प्रभाव डाल सकेंगे, अनुशासन स्थापित कर सकेंगे, और लोकतान्त्रिक नागरिक के रूप में अपने कर्तव्यों के निर्वाह हेतु हम उन्हें तैयार कर सकेंगे।

पहले कदम के रूप में सरकार को निरक्षरता समाप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए और यथासंभव शीघ्र आठ वर्षों की मौलिक शिक्षा अनिवार्य कर देनी चाहिए। इसके अलावा उसे नागरिकता की जनतांत्रिक समाजिक शिक्षा को बढ़ावा देना, व्यवसायिक संस्थानो की स्थापना करना, बड़े पैमाने पर तकनीकी शिक्षा और वैज्ञानिक शोध की व्यवस्था करना तथा गरीब परिवारो के प्रतिभावान युवक-युवतियों को उदारता से छात्रवृत्ति और निर्वाह भत्ता भी देना चाहिए। अनुसूचित जातियों सहित पिछड़े समुदायों और जनजातियो के बच्चो की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। विस्तृत अनुभव वाले शिक्षाविदों के परामर्श से शिक्षा की एक विस्तृत योजना बनायी जानी चाहिए। इस दिशा मे काफी कुछ पहले ही किया जा चुका है, लेकिन अभी और भी काम करने बाकी हैं। सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि सरकार अपना इरादा बनाये कि यह शिक्षा का कौन सा कार्यक्रम लाना चाहती है।

युवजन आन्दोलन का उद्देश्य

आचार्य नरेन्द्र देव

वर्तमान अव्यवस्था को प्रभावहीन बनाने तथा मिटाने के लिये लोगो के मन मे नये मूल्यबोध जागृत कराना होगा, मौजूदा सामाजिक सरचना और एकराष्ट्रीयता तथा सामान्य भाईचारे को अपनाना होगा और मौजूदा सामाजिक सरचना मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना होगा। हमारा नारा "प्रगति के लिये शान्ति" होना चाहिये। केवल इसी आधार पर स्थायी शान्ति की स्थापना की जा सकती है। यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है जबकि उन शक्तियों को न कुचल दिया जाय जो कि इन अव्यवस्थाओं के पीछे है और पुनर्जागरण के आन्दोलन के रूप में संकट को और बढ़ा रहे है।

जब तक राजनीति राष्ट्रीय एकता पर आधारित न हो शान्ति नही हो सकती। इसी उद्देश्य के लिये लोगों को निकट भविष्य मे आधारभूत सिद्धांतों पर काम करने के लिये तैयार होना पडेगा। ये ऐसेसिद्धांत होगे जो लोगो में एक नई जान डाल दें, उन्हें नये जीवन मूल्य तथा नये विश्व के दर्शन करा सके। वर्तमान अव्यवस्थाओ की परछाई के तले वे ताकतें जिन्होने कभी राष्ट्रवादी ताकतो के विरूद्ध सघर्ष किया था, स्वय को शक्तिस्थलो पर सस्थापित करने तथा प्रतिक्रिया के एक युग को खोल देने के लिए एक बिल्कुल दूसरे रुप मे एकत्रित हो रहे हैं। इन ताकतो को नष्ट किये बिना भविष्य के लिये कोई आशा नहीं हो सकती है। अगर दुर्भाग्यवश इन ताकतो को अधिक शक्तिशाली होने का मौका मिल जाता है तो इसका अर्थ होगा उन सब सपनों का अन्त जो लोगों ने समानता तथा सामाजिक न्याय पर आधारित स्वतन्त्र तथा जनतांत्रिक भारत के लिये देखे थे।

वर्तमान दंगो ने आपसी वैमनस्य को इतना बढावा दिया है कि इसका सामना केवल लोगों के ध्यान को अधिक सृजनशील रास्तों पर लगाने से ही हो

सकता है। "शांति किसके लिये ?" उनका प्रश्न होगा, और इस प्रश्न का उत्तर देना होगा ।

इस बढते हुये वैमनस्य को बढ़ावा देने वाले "हिन्दू राज" के नाम का इस्तेमाल करने वाले वे निहित स्वार्थ वाले प्रतिक्रियावादी हैं जो हिन्दुत्व के वास्तविक अर्थ को नही जानते हैं।

वह लोग जिन्होंने हमेशा ही लोगों के नागरिक स्वतन्त्रता के आन्दोलन का "हिन्दूराज" के नाम पर दमन तथा विरोध किया हो, को यह अधिकार कतई नही है कि वे स्वयं को "हिन्दू" हितों का रक्षक कहे ।

मैं छात्रों से गम्भीरतापूर्वक यह अनुरोध करना चाहता हूं कि वे राष्ट्रहित के वास्तविक ठोस कार्य को करने में व्यस्त हों। कर्म ही उनका आदर्श वाक्य हो। उन्हें यह याद रखना चाहिये कि केवल राजनीति उनका एकमात्र ध्येय न हो क्योंकि उनको सांस्कृतिक कार्य भी करने हैं।

लेकिन पराधीन राष्ट्रों मे छात्र आन्दोलन पर हमेशा ही राजनीति का प्रभुत्व रहा है और जब तक राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी शक्ति तथा प्रभाव को बनाये रख सकता है, मैं उनसे यह कहना चाहूंगा कि वे अपने आपको सांप्रदायिक सद्भावना और शान्ति के लिये समर्पित कर दें। यह बड़े ही राजनीतिक महत्व का कार्य है और इस ओर उनका पूरा ध्यान देना आवश्यक है।

हमारी गुलामी भारतीय जीवन का एक प्रमुख यथार्थ है। इसलिये हमारा पहला उद्देश्य होना चाहिये अपनी आजादी हासिल करना। मगर आज की दुनिया में आजादी तब तक हासिल नही की जा सकती, या शायद बरकरार भी नही रखी जा सकती जब तक कि स्वतन्त्रता आन्दोलन सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों से प्रेरित न हो और सामान्य लोगों की वास्तविक जरूरतों तथा अधिकारो को व्यक्त न करता हो।

एक सशक्त युवा आन्दोलन सामाजिक तथा राजनीतिक हालतों की अस्थिरता का निश्चित सूचक है। यह स्पष्ट दिखाता है कि भविष्य के अधिकार प्राचीन परम्पराओं म टकरा रहे हैं और एक नये संतुलन की अत्यन्त आवश्यकता है।

हर राष्ट्र की सामाजिक स्थितियां उसके युवा आंदोलन का निर्धारण करती हैं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद योरोपियन युवा आंदोलन अनुशासन के ठहराव तथा

अतिराष्ट्रीयता के विरुद्ध संघर्ष था। यह उच्च आदर्शवाद तथा हर व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा मानवीय भाईचारे को व्यक्त करता है। फासिज्म में जर्मनी का युवा वर्ग बहकावे और धोखे मे था।

नई एकता :

छात्रों को यह फैसला करना होगा कि उनका आंदोलन केवल रोग का एक लक्षण मात्र होगा या एक नये युग का प्रवर्तक तथा नये समाज का वास्तुकार होगा जब बदलाव के लिये समय आ गया है। मूल संस्थायें और विचार बिखर रहे हैं या विकेन्द्रित हो रहे हैं और सारा झुकाव एक नई एकीकरण पाने के लिये है।

अगर उन्हें अपने भाग्य के बारे में जानना है तो उन्हें अपनी बौद्धिक स्वतन्त्रता, मानवीय भाईचारे तथा सम्पूर्ण जनतन्त्र के लिये उठ खड़े होना चाहिये और एक ऐसी नयी दुनिया बनाने के लिये कार्य करना चाहिये जो स्वतन्त्रता समानता, सामाजिक न्याय तथा शान्ति पर आधारित हो। उन्हें जनतन्त्र के लिये केवल भाषण ही नहीं देने चाहिए बल्कि उन्हें लोकतान्त्रिक तथा सहयोगशील (सहकारी) आदतों का भी विकास करना चाहिये। कागजी संविधान उन्हें नये युग मे धकेल नहीं सकता। लोकतन्त्र आदत और परम्परा की चीज है।

इन सबसे ऊपर उन्हें साधारण आदमी की सेवा करनी चाहिये। हमारे लाखों साथी जो राष्ट्र की सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं भूख और बेरोजगारी का सामना करते हैं। वह अज्ञान में डूबे हुये हैं और दलित तथा शोषित हैं। वह इन युवकों को राष्ट्र के भावी नेता के रूप में देखते हैं और इनसे मदद की अपेक्षा रखते हैं। इन लोगों का यह फर्ज बनता है कि वे इन लोगों (दलितों) की जरुरतों को समझें और अपनी पूरी सामार्थ्य से इनकी सहायता करें।

हमारा संघर्ष अब एक नयी अवस्था में प्रवेश कर रहा है। यह आडम्बर रहित कार्य चाहता है। इस देश मे भविष्य में हर आंदोलन का मूल्यांकन इस आधार पर नहीं होगा कि वे कितना शोर मचाते थे, बल्कि इस आधार पर होगा कि उन्होंने वास्तव मे क्या कार्य किया है। राष्ट्रीय घटनाओं के उत्सव तथा सामयिक प्रदर्शन जरुरी हैं मगर हमें यह समझ लेना चाहिये कि अब समय हो चुका है कि हम आन्दोलनात्मक धरातल से ऊपर उठें।

नैतिक सिद्धान्त :—

यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है कि वर्तमान युग की यह प्रकृति है कि बौद्धिक स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और यहाँ तक कि नैतिक सिद्धांतो की शक्ति (केन्द्रित) राजनीति पर बलि चढा दिया जाये। नैतिक मूल्य नीचे गिर चुके है तथा यह काम को यथार्थवाद के नाम पर न्यायसंगत करने की कोशिश की जाती है। यह भावना सारे सगठनो मे प्रवेश कर रही है। जब यह होगा तो यह आंदोलन अपनी सृजनात्मक अपील खो देगा क्योंकि शक्ति की राजनीति के साथ मुफ्त कार्य उस उद्देश्य को ही विकृत/निष्प्रभाव कर देता है जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आन्दोलन आधारित होता है।

☐ अनुवाद—आभा उपाध्याय

कांग्रेस से सहयोग की बात

आचार्य नरेन्द्र देव

इधर पार्टी में कांग्रेस के साथ सहयोग करने या न करने के प्रश्न की चर्चा चल रही है। कुछ अरसे से पार्टी के कुछ नेताओं के विचार तेजी से बदल रहे हैं और वह उन विचारों को समय-समय पर व्यक्त भी करते रहते हैं। जिन विचारो के आधार पर पार्टी सगठित हुई है और जिनके अनुसार अब तक उसका काम चलता रहा है उनमे और इन नये विचारों में आकाश पाताल का अन्तर है। इस कारण पार्टी के सदस्यो में बुद्धि-विभ्रम का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है।

मैं गवर्नमेंट मे सहयोग देने के पक्ष नही हूँ। किन्तु इसके पक्ष में हूँ कि जिन प्रश्नों पर हमारा एकमत हो उन पर कांग्रेस के साथ सहयोग करना चाहिए। मेरे लिए सहयोग का प्रश्न वाद या सिद्धान्त का प्रश्न नही है; मेरे लिए यह एक शुद्ध व्यवहारिक राजनीति का प्रश्न है। मै मानता हू कि आज की स्थिति मे गवर्नमेंट में सहयोग देना पार्टी के लिए घातक होगा। इससे न पार्टी को बल मिलेगा और न पार्टी के उद्देश्य ही आगे बढ़ेंगे। कुछ लोग कहते हैं कि देश के हित के लिए यदि आवश्कता हो तो व्यक्ति और दल का बलिदान कर देना चाहिए। किन्तु मेरी ऐसी धारणा है कि यह आत्मबलिदान नहीं, आत्महत्या के समान होगा।

श्री अशोक मेहता का यह कहना कि एक पिछडे हुए देश में इस बात की विशेष रूप से आवश्यकता है कि गवर्नमेंट को अधिक से अधिक समर्थन प्राप्त हो जिसमें वह योजनाओं को कार्यान्वित कर सके कुछ अंश मे ठीक है। उनका यह भी कहना ठीक है कि हमारी पार्टी में और कांग्रेस में दो बातों में साम्य है, हम दोनो जनतन्त्र और राष्ट्रीयता के हामी हैं। किन्तु हमारी विशेषता यह है कि हम मौलिक सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं, जबकि कांग्रेस इसके लिए तैयार नहीं है। इस सम्बन्ध मे अन्तिम प्रोग्राम की बात करना व्यर्थ है। आज जब समाजवाद फैशन में आ गया है तब सभी पूँजीवाद का अन्त करने की बात करते हैं आज सच्ची

कसौटी पर कसने में कांग्रेस असफल ठहरी है। यही उसकी दुर्बलता है और यही हमारी शक्ति है। अपनी इस विशेषता पर जोर देना हमारा कर्तव्य है, अन्यथा पार्टी के अस्तित्व की कोई आवश्यकता नही है। **यदि जनतन्त्र या राष्ट्रीयता खतरे में हो तो हम कांग्रेस का साथ देंगे और उन शक्तियों का विरोध करेंगे जो इन सिद्धान्तों को आघात पहुंचाना चाहती हैं।** इस अर्थ मे हम कम्युनिस्ट पार्टी की अपेक्षा कांग्रेस के अधिक निकट हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में हमको यह यह भी सोचना चाहिए कि आज की स्थिति में बिना मौलिक सामाजिक परिवर्तन किये जनतन्त्र और राष्ट्रीयता की भी रक्षा नहीं हो सकती। लोगों के आर्थिक कष्ट बढ़ गये हैं और वह सजग हो गये हैं वह पैदावार बढाने को तैयार नही हैं जब तक उनको यह विश्वास न हो जाय कि इस वृद्धि में उनको उचित हिस्सा मिलेगा।

कांग्रेस हमारा सहयोग केवल जनतन्त्र और राष्ट्रीयता को दृढ करने के लिए ही चाहती है। सामाजिक क्षेत्र में वह पंचवर्षीय योजना से आगे बढना नहीं चाहती। हम बिना गवर्नमेंट में सहयोग दिये उन सब शक्तियों का विरोध कर सकते है जो साम्प्रदायिकता को फैलाना चाहती है और जो देश को बिखेरना चाहती हैं। किन्तु गवर्नमेंट में सहयोग देने से हम अपने को समाप्त करते हैं और कुछ काल के लिए ही कांग्रेस को मजबूत करते हैं।

जो लोग किसी आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर गवर्नमेंट में सहयोग देना चाहते है उनको जानना चाहिए कि कांग्रेस हमारा चौदह सूत्री कार्यक्रम स्वीकार नही करेगी। जो पार्टी अधिकारारुढ है उसको इसके महत्व की अनुभूति नहीं है। पं० जवाहर लाल के व्यक्तिगत विचारो से क्या सम्बन्ध ? इस मामले में उनको और कांग्रेस को एक समझना गलती है।

मेरा तो विचार है कि यदि कांग्रेस मौलिक परिवर्तन के लिए तैयार हो जाय और भूमि समस्या को प्राणपण से हल करने मे लग जाय तो वह दूसरे दलों के सहयोग की अपेक्षा कर सकती है।

[15 अगस्त 1953, संघर्ष से]

युगद्रष्टा आचार्य नरेन्द्र देव

गोपाल उपाध्याय

"हमारी संस्कृति मे वे सभी तत्व मौजूद हैं जिनसे हम नवयुग और नव-मानव का निर्माण कर सकते हैं। हमारी संस्कृति का सबसे बडा तत्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों मे एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। विशाल भारतीय सस्कृति के अन्तर्गत अनेक छोटी-छोटी सस्कृतिया है किन्तु उनमे एकात्म्य है। वैविध्य और वैभिन्य मे एकता का जो सूत्र है वह हमे सदा से अनुप्राणित करता रहता है। अतीत के प्रति मोह होना चाहिए, आदर होना चाहिए, किन्तु अधविश्वास नही होना चाहिए। आज के युग मे जो किसी प्रकार की संकीर्णता से आबद्ध रहना चाहता है वह आज के ससार का नागरिक होने के अयोग्य है। हमारी सस्कृति का एक बड़ा सदेश आचरण की शुद्धता है। अपना ख्याल रखते हुए दूसरो का भी ख्याल रखना संस्कृति का मूल है।"

ये शब्द हैं भारतीय मनीषा के महानतम विचारक और विद्वान आचार्य नरेन्द्र देव जी के जो उन्होने 'सस्कृति' विषय पर एक वक्तव्य में कहे थे।

नरेन्द्र देव जी का पैतृक घर तो फैजाबाद में था, किन्तु उनके पूज्य पिता श्री बल्देव प्रसाद जी सीतापुर में वकालत करते थे। वहीं सम्वत् 1946 मे कार्तिक शुक्ल अष्टमी अर्थात् 31 अक्तूबर, 1889 ई० को इनका जन्म हुआ था।

नरेन्द देव जी इन्ट्रैन्स पास कर सन् 1906 में इलाहाबाद गये और म्योर सेन्ट्रल कालेज में भरती होकर हिन्दू हास्टल के एक कमरे मे 3-4 साथियो के साथ रहे। सन् 1905 मे अपने पिता जी के साथ बनारस कांग्रेस मे शरीक हुए थे। इलाहाबाद में ही उनके राजनीतिक विचार ने धरातल पाया। बग-भग ने अग्रेजो की पोल खोल दी थी और जापान की विजय ने एशिया मे एक नया आत्मविश्वास जगाया था। काग्रेस भी गरम और नरम दल में बंट गयी थी। गरम दल के नेता लोकमान्य तिलक, विपिन चन्द्र पाल, अरविन्द घोष और लाला [illegible] थे [illegible] नरेन्द्र देव भी सन् 1906 में काग्रस के [illegible] अधिवेशन में

गरम दल में शामिल होकर 'बन्देमातरम्' आदि समाचार पत्र पढ़ने शुरू किये। हिन्दु हास्टल राजनैतिक गतिविधि का केन्द्र बन गया था। लाला हरदयाल का 'बन्देमातरम्' बरलिन से निकलने वाला 'ललकार' और पेरिस से प्रकाशित होने वाले 'इंडियन सोशियालाजिस्ट' आदि क्रांतिकारी पत्रिकाएं पढने लगे। नरेन्द्र देव जी के साथियों का क्रांतिकारियों से सम्बन्ध था और तय किया गया कि आई० सी०एस० बनकर क्रांति के समय जिले का शासन सम्हाला जायेगा। किन्तु माता जी के मना करने से नरेन्द्र देव जी आई०सी०एस० नहीं हो सके।

सन् 1924 में कांग्रेस की स्वराज्य पार्टी में रहकर आचार्य जी ने कौंसिल चुनाव लड़ने का समर्थन किया किन्तु स्वयं चुनाव नही लड़े। 1927 में पूर्ण राज्य की माँग को लेकर इंडियन लीग में शामिल हुए। और 1930 मे गाँधी जी के नेतृत्व मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे जुट गये। रूस की 1917 की क्रांति से आचार्य जी काफी प्रभावित थे। वे मार्क्स, एंजिल्स तथा रोजा लक्जम्बर्ग के साथ-साथ लेनिन से भी प्रभावित थे जिनका पर्याप्त अध्ययन उन्होंने किया और लेख भी लिखे। स्टालिन की नीति-कार्य उन्हें पसंद नहीं थे। वह राष्ट्रीय-संघर्ष में किसानों-मजदूरों की प्रबल भागीदारी चाहते थे। मित्रों के आग्रह पर ही वह 1936 मे प्रांतीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने और नेहरू जी के निमंत्रण पर कार्य समिति में भी रहे हालांकि पद से उन्हें विरक्ति थी। सन् 1934 में पटना में समाजवादी सम्मेलन आचार्य जी की अध्यक्षता मे हुआ जिसमें कांग्रेस समाजवादी दल बना था। केवल कांग्रेस के सदस्य ही उस दल के सदस्य हो सकते थे।

सन् 1934 में बिहार भूकम्प के समय नरेन्द्र देव जी छात्रों को लेकर गावो में सहायता कार्य के लिए गये वहीं डा० लोहिया जी से सम्पर्क हुआ था। 1937 में वह कांग्रेस से विधान सभा सदस्य चुने गये। किन्तु बहुत आग्रह के बाद भी मंत्री पद स्वीकार नही किया, क्योंकि वह मंत्रिमंडल बनाने के पक्ष मे भी नहीं थे। कई साल तक भारतीय किसान सभा के अध्यक्ष रहे, जो कांग्रेस का समर्थक संगठन था। सन् 1940 में दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान गाँधी जी के व्यक्तिगत सत्याग्रह की जगह आचार्य जी, जन-सत्याग्रह के पक्ष मे थे पर वे कांग्रेस और गाँधी जी का समर्थन करते हुए आंदोलन में सम्मिलित रहे। गाँधी जी के आदेश पर संयुक्त प्रांत में इस आन्दोलन के संचालक रहे और जेल गये। गाँधी जी ने उनसे 1942 में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चलाने पर बात की और इस आंदोलन में आचार्य जी भी 9 अगस्त 1942 को जेल गये। 1945 में कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्यों के साथ आचार्य जी भी जेल से छूटे अहमद नगर जेल व

अल्मोड़ा जेल में वह पंडित नेहरू के अधिक सम्पर्क में रहे। नेहरू जी और वह अल्मोड़ा जेल से 14 जून को छूटे थे। 1946 में ही वह विधानसभा-सदस्य चुन लिये गये। नेहरू जी भी समाजवादी विचार के थे और दोनों में विचार साम्य था। सन् 1942 में आचार्य जी गांधी जी के आश्रम में भी रहे थे, जहा दोनों संतों में काफी विचार-विमर्श होता रहता था।

सन् 1947 में देश के स्वतन्त्र हो जाने पर कुछ लोगों ने कांग्रेस समाजवादी दल को कांग्रेस से अलग करने की बात की, किन्तु आचार्य जी ने कांग्रेस में ही बने रहने पर जोर दिया था। बाद में उन्होंने महसूस किया कि लोकतन्त्र मे विरोध पक्ष का सबल होना जरूरी है वरना सत्ताधारी दल निरकुश हो सकता है। अतः फरवरी 1948 में समाजवादी दल को कांग्रेस से अलग कर उन्होने अपने अन्य ग्यारह विधानसभा सदस्य साथियो के साथ विधान सभा से त्याग पत्र दे दिया। वह चाहते तो अलग दल बनाकर भी विधानसभा सदस्य रह सकते थे किन्तु उन्होंने यह श्रेयस्कर समझा कि जनता ने हमें जिस दल के सदस्य के रूप में चुना है उस जनता में हमें फिर अपने बारे में मत लेकर ही पुनः विधानसभा मे आना चाहिए। यह राजनैतिक नैतिकता का एक महान उदारण था। सत्य, त्याग, सिद्धांत और अनुशासन तथा कमजोर की सहायता उनके जीवन का लक्ष्य था। अन्याय के वह कट्टर विरोधी थे, शोषित जनता का पक्ष लेते हुए वह मानव को केन्द्र मानकर ही राज्य की कल्याणकारी व्यवस्था के हिमायती थे। वह जनतंत्र के प्रबल पक्षधर थे। समाजवाद उनकी आस्था थी। विद्वता में उनका कोई मुकाबला नहीं था। अध्ययन उनका परम प्रिय शौक था। देश मे राष्ट्रीय एकता और जनतान्त्रिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए समाजवादी समाज का निर्माण आचार्य नरेन्द्र जी का लक्ष्य था। समाजवाद को वह आर्थिक आंदोलन के साथ-साथ सांस्कृतिक आदोलन भी मानते थे इसलिए आर्थिक मूल्यो के साथ नैतिक, सामाजिक आदर्शों पर भी जोर देते थे। कांग्रेस से समाजवादी दल को अलग करने के बाद वह आठ वर्ष तक जीवित रहकर विपक्ष की लोकतांत्रिक भूमिका को राजनीति का नैतिक आदर्श देते रहे।

सन् 1931, 1932, 1941, 1942 में आचार्य जी जेल गये थे। सन् 1936 से कांग्रेस के प्रदेश अध्यक्ष रहते हुए वह 1937 मे वह उत्तर प्रदेश विधानसभा के सदस्य निर्वाचित हुए थे और 1946 में निर्विरोध विधानसभा सदस्य चुने गये थे। उनका चुनाव क्षेत्र सीतापुर, बहराइच और फैजाबाद था। सन् 1952 में वह राज्यसभा के सदस्य निर्वाचित हुए थे। सन् 1947 मे आचार्य

जी लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति तथा 1952 में बनारस विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त किये गये थे। उसी साल चीनी सांस्कृतिक मिशन मे चीन यात्रा पर भी गये थे। सन् 1954 में नागपुर प्रजा समाजवादी सम्मेलन के और 1955 में गया सम्मेलन के अध्यक्ष बनाये गये थे। वह अपने वेतन का 40 प्रतिशत छात्रो को दान कर दिया करते थे।

सन् 1950 में आचार्य जी संयुक्त राष्ट्रों के विश्वसंघ के प्रतिनिधि के रूप मे थाईलैन्ड गये थे। वह बर्मा (रंगून) भी गये थे। सन् 1953 में आचार्य जी का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया जिसके इलाज के लिए वह 1954 मे लदन गये। उसी सिलसिले में उन्हें आस्ट्रिया भी जाना पड़ा। उसी समय वियना में वहाँ के प्रेसीडेंट, उप प्रधानमत्री व मेयर से उनकी मुलाकात हुई। वहाँ से ओवलाडिस और जिनेवा भी गये। वहाँ से विनलव, मोन्तेर, होसकाक्स, जूरिच, फैन्कफोर्ट व बर्लिन गये। वहीं से ब्रुसल्स, म्यूनिख व यूगोस्लाविया गये। बेलग्राद में महत्वपूर्ण लोगों से उनकी मुलाकात हुई। लदन लौटते हुए वह पेरिस, मिस्र (केरो) व इजरायल गये जहां से वह लेबनान होते हुए दिल्ली लौटे। इस बीच इन देशो के महान नेताओं मे उनकी भेंट हुई। सन् 1954 मे उनकी पार्टी प्रसोपा की केरल मे सरकार भी बनी थी। 1955 मे दिल्ली में उन्होंने यूगोस्लाविया के प्रधान मार्शल टीटो को प्रसोपा के अध्यक्ष की हैसियत से सम्बोधित किया था।

3 जनवरी, 1956 को इलाज के लिए आचार्य जी पेरुन्दुराई के लिए गये। यह स्थान कोयम्बटूर जिले में है। मद्रास के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश व वहां के मत्री श्री सी० सुब्रह्मण्यम ने उनके वहाँ रहने की व्यवस्था करायी थी। उससे पहले वह अपनी पुस्तक 'बौध धर्म दर्शन' प्रस्तावना सहित पूरी लिख चुके थे। कविराज गोपीचन्द ने लिखा है कि ऐसा ग्रंथ हिन्दी भाषा मे तो नहीं है, किसी भारतीय भाषा मे भी नहीं है। उनके लेख और वक्तव्य, विचार समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। उनकी रेडियो वार्ताए तथा अखबारो व पत्रिकाओ मे आने वाले लेख राजनीति, साहित्य और दर्शन की निधि हैं। उन्होने 'संघर्ष', 'जनवाणी' जैसी पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादक-संचालक के रूप में अपने बहुमूल्य विचार समय-समय पर दिये। भाषा, लिपि, सस्कृति, धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्रीयता, समाजवाद, दर्शन और अन्याय विषयों पर उनके गहन-चिन्तन पूर्ण लेख व वक्तव्य हैं। उनके काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण हिन्दी साहित्य की अप्रतिम धरोहर हैं। राष्ट्रीय प्रतीक अशोक चक्र, अशोक की

लाट और साची द्वारा जैसे प्रतीको के अगीकरण में आचार्य जी का विवेक प्रमुख था। उनके लेखों, वक्तव्यों का संकलन एक कठिन काम था क्योकि वह लेख, वक्तव्य, पत्र आदि कुछ भी सम्हाल कर नहीं रखते थे। लखनऊ की मासिक पत्रिका 'उत्कर्ष' ने सन् 1967 मे उनके लेखों, वक्तव्यो को संकलित कर प्रकाशित करने का पहला प्रयास किया। सन् 1970 मे प्रोफेसर मुकुट बिहारी ने 'आचार्य नरेन्द्र देव', युग और नेतृत्व, नाम से एक विवेचनात्मक पुस्तक लिखी। अब और प्रयास भी हो रहे हैं।

19 फरवरी 1956 को पेन्दुराई में साय 5 बजकर 10 मिनट पर आचार्य जी ने यह ससार छोड़ दिया। सारा देश शोक में डूब गया। पडित नेहरू ने जहाज भिजवा कर कोयम्बटूर होते हुए उनका शव लखनऊ मंगाया। लखनऊ मे मोती महल के पास गोमती तट पर असंख्य अश्रुपूरित भीड ने उन्हें अन्तिम विदाई दी। देश आचार्य नरेन्द्र देव के कार्यो, विचारो और संतभावना से किये उत्सर्ग-पूर्ण प्रयासों के प्रति नतमस्तक हो गया। उनका जीवन बहुत ही सादगीपूर्ण था, आडम्बर हीन था और ऊँचे पदो पर रह कर भी वह नितान्त सामान्य जन का ही जीवन जीते रहे। वह जीवन भर सत्यान्वेषी रहे और अपने सिद्धान्त व विचारों की कीमत पर उन्होंने कभी बड़े मे बड़ा पद या अवसर पाने के लिए भी रंच मात्र समझौता नही किया। वह कभी किसी का दिल नही दुखाते थे। पडित नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, जय प्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, प्रो० राजाराम शास्त्री, डा० सम्पूर्णानन्द, अशोक मेहता, डा० लोहिया, आदि आदि उनके निकटतम मित्रो और साथियो मे थे।

□

दृष्टि : पथ

प्रारम्भ

शुभ और अशुभ जीवन का ताना-बाना है। प्रकृति ने ऐसा ही जीवन हमको प्रदान किया है और इस ताने-बाने के द्वारा इतिहास कार्य सम्पन्न होता है। शुभ और अशुभ के बीच संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में शुभ की विजय, संस्कृति और शालीनता की विजय है। ज्यों-ज्यों शुभ की वृद्धि और अशुभ की हानि होती है त्यों-त्यों सभ्यता की उन्नति होती है मानव के आत्म विकास में भी यह संघर्ष सहायक होता है। बिना संघर्ष के आत्म-विकास सम्भव नहीं है। जिस व्यक्ति के सामने कोई समस्या नहीं है, जिसने किसी समस्या को हल करने का प्रयत्न नहीं किया है, उसके व्यक्तित्व का विकास कैसे हो सकता है ? शुभ कर्म के लिये अदम्य उत्साह का होना—जुल्म, अन्याय, दारिद्रय के विरुद्ध अनवरत युद्ध करना—एक विकसित व्यक्तित्व का कार्य है। निरन्तर संघर्ष करके ही मानव पाशविक जीवन से ऊपर उठा है। और उसने जीवन के नवीन मानवीय मूल्यों की सृष्टि की है। मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है और यदि हम बहुजन-हित सुख के उद्देश्य से प्रेरित होकर काम करें तो विपुल साधनों का उचित उपयोग करके हम दारिद्रय और सामाजिक अन्याय का अन्त कर सकते हैं, और उन सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा कर सकते हैं, जिन के लिये मनुष्य ने अनेक लड़ाइयां लड़ी हैं और अथक परिश्रम किया है। खेद है कि साधनों के विपुल होते हुये भी दारिद्रय और विषमता का अन्त नहीं होता। पूंजीवादी समाज साधनों पर अपने लाभ के लिये प्रभुत्व कायम रखना चाहता है और अपने हितों पर समाज के कल्याण को निछावर करता है। शोषित किसान और मजदूर इस अन्याय को रोकने में अपने को असमर्थ पाते हैं। उनमें शिक्षा और धन की कमी है। उनका संगठन दुर्बल है। वर्ग संघर्ष के द्वारा यह वर्ग शिक्षित और संगठित होते हैं। यही इनकी पाठशाला है। आदर्शों के लिये कष्ट सहन करना, एक दूसरे के लिये त्याग की भावना रखना इत्यादि गुणों का पोषण इन पिछड़े हुये वर्गों में इसी प्रकार होता है।

[उत्कर्ष : 1968 से]

☐

नरेन्द्र देव

जयपुर, 2 अगस्त 1955

आचार्य नरेन्द्र देव : दृष्टि पथ

आचार्य नरेन्द्र देव के विचार में "उपनिषदों की विचारधारा और साधना संसार के अलभ्य रत्नो मे है। भारत में जिन विशिष्ट विचार-धाराओ ने जन्म लिया है उन सब का मूलस्थान उपनिषदों में है। उपनिषदों के वाक्यो में गाम्भीर्य, मौलिकता, और उत्कर्ष पाया जाता है और वह प्रशस्त, पुनीत और उदात्त भाव से व्याप्त है। .. उपनिषद वे स्तम्भ हैं जिन पर प्रतिष्ठित सस्कृत विद्या और भारतीय सस्कृति का दीपक सदा प्रकाश देता रहता है। यही हमारी अचल निधि है, यही हमारा जय स्तम्भ है"।

●

"बोधिचर्यावतार" के जो पद उन्हें बहुत ही प्रिय थे और जिनको वे विद्यार्थियों को सुनाते थे उनका सारांश है कि-जब समस्त लोक दुःख से आर्त और दीन है तो मैं ही इस रसहीन मोक्ष को प्राप्त कर क्या करूँगा ? प्राणियो के सैकड़ों दुःखों को स्वयं भोग करके उनके दुःखों को हरण करने की कामना करने वालों को और उसे ही अपना सुख सौभाग्य समझने वालों को बोधिचित्त का परित्याग कभी नही करना चाहिए। बोधिचित्त, चित्त का सकल्प है जिससे ससार के समस्त प्राणियों का उद्धार होगा।

●

साहित्य और साहित्यकार

"जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करके चलने वाला साहित्य" ही आचार्य जी की दृष्टि मे 'प्रगतिशील साहित्य' था। वे इसके सृजन के लिए विश्वव्यापी जीवन दृष्टिकोण जरूरी समझते थे। वे प्रगतिशील साहित्यिक का कर्तव्य समझते थे कि वह अतीत के "साधक तत्वों को ग्रहण करे", 'बाधक तत्वो का परित्याग करे', जीवन शक्तियों और समस्याओं का गहराई से अध्ययन करे, समाज के वर्तमान रुप का चित्रण करे, जनता की मूक अभिलाषाओं को वाणी दे, इतिहास की जीवनदायनी शक्तियो का

समर्थन करते हुए जनता का मार्ग दर्शन करें।" "जीवन सघर्ष से पृथक रहकर सच्चे और प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि सम्भव नही है। परन्तु संघर्ष के सम्बन्ध में निष्पक्ष सम्मति बना सकने और साहित्य सृजन के लिए अवकाश प्राप्त करने के लिए सघर्ष मे सक्रिय भाग लेने से कलाकार को बचना पड़ता है।" वे यह भी मानते थे कि "जनशिक्षा के लिए ऐसे साहित्य की जरुरत है जिसे जन साधारण आसानी से समझ सके"।

●

"माधुर्य और प्रसाद गुण मातृ-भाषा के साहित्य में ही सुगमता से आ सकता है। अतः मातृभाषा में साहित्य सृजन करने में हम को गौरव का अनुभव करना चाहिए"।

●

साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह "मनुष्य को समाज से पृथक करके अमूर्त मानवता के स्वतन्त्र प्रतीक के रुप में न देखकर उसे सामाजिक प्राणी के रुप में देखे। ऐसे समाज के सदस्य के रुप मे जिसमे निरन्तर सघर्ष हो रहा है और जो इन सघर्षों के कारण प्रतिक्षण परिवर्तनशील है"।

●

प्रगतिशील साहित्य

सितम्बर सन् 194८ में काशी के कुछ उत्साही साहित्यकारों ने आचार्य नरेन्द्रदेव की प्रेरणा से एक नव सस्कृति सघ की स्थापना की। 7 अक्टूबर सन् 1948 को नरेन्द्रदेव जी ने उसका उद्घाटन किया। अपने इस भाषण मे उन्होंने आज की परिस्थिति मे भार बनने वाली परम्पराओ का परित्याग कर..... वर्तमान काल मे पुरुषार्थ को प्रेरणा देने वाले परम्परागत सांस्कृतिक तत्वो को तथा नवीन जीवन के विकासमान मूल्यो को ग्रहण कर केन्द्र मे मानव को प्रतिष्ठित करने वाले साहित्य और सस्कृति के निर्माण की सलाह दी। उन्होंने जहाँ एक तरफ प्राचीनता और परम्परा का अन्धपुजारी साहित्य का विरोध साहित्यकों का कर्तव्य बताया, वहा दूसरी तरफ पुरानी संस्कृति तथा साहित्य के साधक तत्वों के माध्यम से नवीन सस्कृति और साहित्य के निर्माण में प्राचीन संस्कृति और साहित्य से उनकी बनाये रखना जरुरी बताया उनका कहना था कि

प्रगतिशील साहित्य का निर्माण करते समय साहित्यकों को नवीन शैलियो के साथ-साथ प्राचीन साहित्य की टैकनीक सम्बन्धी विशेषतओ को भी अपनाना ही होगा। दीर्घकाल से पुष्ट की जाने वाली शैली, टैकनीक, छन्द एव शब्द-विन्यास आदि की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती।

प्रगतिशील साहित्यिक को जीवन की समस्याओं का अध्ययन करना होगा, अपनी रचनाओं में उसे समाज के वर्तमान रुप का चित्रण करना होगा, जनता की मूक अभिलाषाओ को वाणी देनी होगी, इतिहास का अध्ययन करके उसकी जीवन-दायिनी शक्तियों का समर्थन करते हुए जनता का मार्ग प्रदर्शन करना होगा"।

●

समाज से ही सीखता है रचनाकार

मार्च सन् 1950 को नरेन्द्रदेव जी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा की अध्यक्षता का भार सभाला। इस पद पर वे दो वर्ष तक काम करते रहे। उनकी अध्यक्षता के जमाने में ही सितम्बर सन् 1950 को देश में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जन्मशती मनायी गयी। नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वाधान में आयोजित समारोह में नरेन्द्रदेव जी ने भारतेन्दु जी को अपनी श्रद्धान्जलि अर्पित करते हुए कहा कि भारतेन्दु जी आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का जो प्रयत्न शुरु हुआ, वे उसके आदि प्रवर्तक थे। उन्होंने हिन्दी की जो सेवाए की हैं वे अमर रहेंगी। वे सच्चे कलाकार थे, पर साथ ही वे सामान्यजन की भावनाओं को पहचानते थे। इसका कारण यही था कि वे सहृदय थे और सभी श्रेणी के लोगों के सम्पर्क में आते थे। भारतेन्दु जी की प्रारम्भिक शिक्षा का जिक्र करते हुए आचार्य जी ने कहा कि वस्तुतः कलाकार के लिए समाज ही विश्वविद्यालय है जहा वह कला की अपनी रुपरेखा सवारता है। समाज में रहकर ही वह अपनी कला मे सजीवता और ताजगी भर सकता है। भारतेन्दु मण्डल का जिक्र करते हुए आचार्य नरेन्द्र देव ने कहा कि भारतेन्दु साहित्यकार ही नहीं साहित्यकों के नेता भी थे। उनको इर्द-गिर्द उन्ही के समान सजीव और समाजदृष्टा कलाकारों की एक बड़ी मण्डली थी। सर्व श्री बद्री नाथ चौधरी, प्रेमधन, प्रतापनारायन मिश्र, बाल मुकुन्द गुप्त, भट्ट, गोस्वामी आदि विविध वर्गों के लोग

इस मण्डली के सदस्य थे । वे समाज के सभी वर्गों की जनता से मिलते थे । अन्त में नरेन्द्र देव जी ने भारतेन्दु जी के कार्य की पूर्ति के लिए साहित्यकारों से प्रार्थना की कि वे हिन्दी साहित्य के भण्डार को अधिक समृद्ध बनाएं।

●

संस्कृत का प्रसार करना जरूरी है

नवम्बर 1951 में लखनऊ में अखिल भारतीय संस्कृत परिषद की स्थापना कर आचार्य जी ने कहा कि संस्कृत भाषा और वाङ्मय का प्रचार और प्रसार करना, संस्कृत साहित्य के ग्रन्थो का हिन्दी तथा अन्य भाषाओ में प्रकाशन करना संस्कृत, पालि और प्राकृत के हस्तलेखों तथा ऐसे प्रकाशित ग्रन्थो को जो अब अप्राप्य या दुर्लभ हो गये हैं प्रकाशित करना, संस्कृत, पालि और प्राकृत के हुस्त-लेखों का अन्वेषण और संचय करना, संस्कृत पुस्तकालयों, वाचनालयों और संग्रहालयो की स्थापना, भारतीय विद्या के सभी क्षेत्रों में शोधकार्य को चलाना, उसे प्रोत्साहन देना तथा उसे पोषित करना, और सब ऐसे कार्यो को करना जो संस्कृत भाषा और वाङ्मय के प्रचार, प्रसार और संरक्षण के लिए आवश्यक हो इस परिषद के उद्देश्य हैं।

●

संस्कृति से व्यक्ति और समाज की प्रगति

मार्च सन् 1953 मे काशी नागरी प्रचारिणी सभा की हीरक जयन्ती मनायी गयी। इस अवसर पर आयोजित सांस्कृतिक सम्मेलन के अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव मनोनीत हुये। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने संस्कृति की विशेषताओ और पश्चिम की महत्वपूर्ण देनों का विश्लेषण करते हुए सब प्रकार की संकीर्णताओ का परित्याग कर व्यक्ति और समष्टि दोनो के विकास को ध्यान में रखते हुए सांस्कृतिक विकास करने की सलाह दी। उन्होने कहा कि "जो संस्कृति भेदभाव रखती है, मनुष्य को मनुष्य के रूप मे देखना नहीं चाहती, उस संस्कृति से आज हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नही कर सकते।··· जो भेदभाव रखते हैं, मनुष्य को मनुष्य के रूप में नहीं बल्कि ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र के रूप में देखना चाहते हैं वे आज के युग मे नागरिक होने के पात्र नही हैं।"

●

साहित्यकार अतीत के आलोक में वर्तमान को समझें, देखें

21 अप्रैल सन् 1954 को आचार्य जी ने बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के तृतीय वार्षिकोत्सव का सभापतित्व किया। अपने अभिभाषण में उन्होंने परिषद के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए और उसकी आशातीत सफलता कर बधाई देते हुए हिन्दी भाषा-भाषियों को उदारता और सहिष्णुता के साथ विनयपूर्वक अहिन्दी भाषा-भाषियों की सद्भावना और सहयोग से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि तथा हिन्दी भाषा के विस्तार कार्य में संलग्न होने की सलाह दी। इस भाषण मे आचार्य नरेन्द्रदेव ने साहित्य की गरिमा तथा उसके विकास के महत्व पर भी प्रकाश डाला। उन्होने कहा कि "जहाँ विज्ञान भौतिक जगत के विषय का ज्ञान कराता है, वहां सच्चा साहित्य मानव सम्बन्धों के विषय मे जानकारी कराता है। अतीत के अनुभव के आलोक में वर्तमान को देखना तथा आज के समाज मे जो शक्तियाँ काम कर रही हैं उनको समझना तथा मानव समाज के हित की दृष्टि से उनका सचालन करना एक सच्चे कलाकार का काम है।"

धर्म की शिक्षा

धार्मिक शिक्षा की समीक्षा करते हुए और उसको आवश्यक बताते हुयेआचार्य जी ने शिक्षा पद्धति मे ऐसे सुधार करने का मशवरा दिया जिससे विचारो और भावो की एकता परिपुष्ट हो, मन, बुद्धि और हृदय की एकता साधित हो, बच्चो को स्कूल के अन्दर ही परिस्थिति से ही उन सामाजिक आदर्शों और चारित्रिक दृष्टान्तो की शिक्षा मिले जो राष्ट्र को उत्तम बनाने मे साधक होते हैं तथा उनमे मानवता के आधार पर धर्मनिरपेक्ष विश्वास की पुष्टि हो। उन्होने स्वीकार किया कि "मनुष्य केवल तर्क से नहीं जी सकता, उसे विश्वास की आवश्यकता होती है"। पर उनके विचार में यह विश्वास "धर्मनिर्पेक्ष" होना चाहिए और "सामाजिक लोकतन्त्र" हमे ऐसा "विश्वास" प्रदान कर सकता है। उनकी धारणा थी कि मानव, लोक-तन्त्र और समाजवाद पर अटल विश्वास हमे इस युग में आध्यात्मिक प्रेरणा दे सकता है और उन कृत्रिम दीवारो को ढहा सकता है जो हम लोगो को एक दूसरे से अलग करने के लिए धर्म और जात-पांत ने खड़ी की है।

जनशिक्षा

व्यापक जनशिक्षा को लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था और लोकतान्त्रिक सार्वजनिक जीवन के लिए आवश्यक बताकर उन्होने सरकार को मशवरा दिया

कि वह इस प्रकार की जनशिक्षा की योजना करे जिससे जीवन के प्रति स्वस्थ और असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण बन सके, लोकतान्त्रिक और मानवीय मूल्य प्रतिष्ठित हों, सामाजिक व्यवहार की नवीन संस्थाओं का निर्माण हो, जनता के अन्दर विवेचनात्मक शक्ति का विकास हो, उसे अपने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यो का ज्ञान हो तथा उन्हें विभिन्न विचारधाराओं में निर्णय करने की क्षमता प्राप्त हो।

विश्वविद्यालयों को मानव प्रगति का साधन बनावें

4 मई सन् 1952 को नरेन्द्रदेवजी ने पीकिंग यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों को पन्द्रह मिनट हिन्दी में सम्बोधित किया। उन्होंने अपने भाषण में चीनी राष्ट्र के स्वतन्त्रता संग्राम और उत्थान में यूनिवर्सिटी के प्रोफेसरो और विद्यार्थियों के महत्वपूर्ण योगदान की प्रशंसा करते हुए कहा कि इतिहास ने चीन और हिन्दुस्तान की जनता पर बड़ा भारी उत्तरदायित्व लाद दिया है। उन्होंने कहा कि सन् 1853 में मार्क्स ने अपने से स्वयं प्रश्न किया था कि "क्या एशिया की सामाजिक स्थिति में मौलिक क्रान्ति के बगैर मानव समाज अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकता है?" उन्होंने कहा कि हम दोनों को बहुत काम करना है। जनता की गरीबी दूर करनी है, उसे शिक्षा और संस्कृति से लाभान्वित करना है और इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता, समता, भ्रातृत्व और सामाजिक न्याय के आधार पर एक नया समाज बनाना है। तभी मार्क्स के प्रश्न का उत्तर होगा और मानव समाज अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर पायेगा। उन्होंने कहा कि उनकी दृष्टि में विश्वविद्यालय मानव प्रगति के साधन हैं। इस आधुनिक युग में उन्हे महत्वपूर्ण काम करना है। नये युग में विश्वविद्यालयो की शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। उन्हें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को पुराने ज्ञान भण्डार को पहुंचाना और ज्ञान में अभिवृद्धि करना ही नहीं है, बल्कि राष्ट्र को ह्रास और पतन से बचाने के लिए नये मूल्यो का भी सृजन करना है। शिक्षा का सामाजिक लक्ष्य आवश्यक है। उसे नवयुवको को जीवन के लिए तैयार करना चाहिए, उनकी आवश्यकताओं और आकांक्षाओ को पूरा करना चाहिए। संसार एक होता जा रहा है और यदि हम भयंकर विपत्ति से अपनी रक्षा करना चाहते हैं, तो हमें अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री और सहानुभूति

बढ़ानी चाहिए। इसलिए सब सुसंस्कृत लोगों को अन्तर्राष्ट्रीय गलतफहमी को दूर करने और शान्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जब तक हम अन्तर्राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित नहीं होते तब तक हम कोई सफलता हासिल नहीं कर सकते। आचार्य जी ने कहा कि मुझे खुशी है कि इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को नवजागृति के आन्दोलन के नेताओं से एक बड़ी परम्परा विरासत में मिली है और यहाँ विद्यार्थियों और शिक्षकों के बीच विचारों का स्वतन्त्र आदान-प्रदान है तथा लड़कों और लड़कियों में सहशिक्षा ठीक तौर पर चल रही है। उन्होंने कहा कि मुझे पता चला है कि सैतालिस विद्यार्थी हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी का अध्ययन कर रहे हैं। हमारे देश में भी विश्वविद्यालयों में चीनी भाषा की शिक्षा का प्रबन्ध हो रहा है। अन्त में नरेन्द्रदेवजी ने आशा की कि हम दोनों देश, फिर चाहे वे अपने-अपने सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए किसी मार्ग का भी अवलम्बन क्यों न करें, सदा मित्र रहेंगे तथा शान्ति और अच्छे पड़ोसी के सम्बन्ध बनाये रखेंगे।

●

समाजवादी दृष्टि के उन्नायक

आचार्य बीरबल सिंह जी ने अपने एक लेख में ठीक ही लिखा है कि "काशी विद्यापीठ के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने सन् 1921 से लेकर सन् 1942 तक के स्वातंत्र्य संग्रामों में जो गौरवपूर्ण कार्य किया और ख्याति प्राप्त की उसका अधिकतर श्रेय नरेन्द्रदेव जी को है। वे विद्यापीठ के प्राण थे। उन्हीं से सब को नेतृत्व मिलता था, प्रेरणा मिलती थी, स्फूर्ति मिलती थी, साहस और प्रोत्साहन मिलता था जिसके बल पर विद्यापीठ का एक साधारण विद्यार्थी नेताओं के जेल जाने पर प्रान्त में स्वतन्त्रता-संग्राम का सफल संचालन करता था।

●

आचार्य जी मार्क्स और एंगिल्स के साथ साथ लेनिन से भी बहुत प्रभावित थे पर स्तालिन की नीति और गति-विधि उन्हें पसन्द नहीं थी। उनका विचार था कि स्तालिन ने मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को विकृत कर दिया है। कम्युनिस्ट पार्टी के अनैतिक व्यवहार से भी वे बहुत असन्तुष्ट थे। ऐसी हालत में मार्क्सवाद पर विश्वास रखते हुए भी उनके लिए हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी से, जो स्तालिन

वादी थी, अपना सम्बन्ध जोड़ना सम्भव नहीं था।

मार्च सन् 1929 मे "सोवियत रूस की एशिया सम्बन्धी नीति" पर नरेन्द्र-देव जी ने विद्यापीठ पत्रिका में एक लेख प्रकाशित किया। इस लेख मे उन्होंने बताया कि पुराने साम्यवादी अफ्रीका और एशिया के देशों को "उपेक्षा भाव" से देखते थे और इन "महाद्वीपो के परतन्त्र राष्ट्रों को स्वतन्त्र कराने की उनको कोई फिक्र नहीं थी, पर लेनिन इसके लिये प्रयत्न करना सोवियत रूस और साम्यवादी शक्तियों का कर्तव्य समझते थे। लेनिन के विचार में "आर्थिक साम्राज्यवाद पूँजीवाद की आखिरी मंजिल है" तथा "साम्राज्यवादी राष्ट्रों की शक्ति का मुख्य स्रोत एशिया और अफ्रीका के वे देश हैं जो आज उनके अधीन हैं। अत: इन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों की सहायता करना, उन्हें सबल बनाना, साम्यवाद के स्थायित्व और प्रगति के लिए तथा साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को क्षीण करने के लिए जरूरी है"। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए लेनिन के नेतृत्व मे सोवियत रूस ने एशिया में साम्राज्यवाद के विरूद्ध प्रचार प्रारम्भ किया और ऐसा संघ संगठित किया जो साम्राज्यवाद का विरोध करें। लेनिन ने रूस की पुरानी साम्राज्यवादी नीति का परित्याग कर फारस, तुर्की, अफगानिस्तान, चीन आदि देशों से स्वतन्त्रता और आत्मनिर्णय के आधार पर नयी सन्धियाँ की जिनमें पूँजीवाद की एशिया सम्बन्धी नीतियों की खुले शब्दो में निन्दा की गयी। नरेन्द्र देव जी ने इस लेख में यह भी बताया कि लेनिन ने एशिया और अफ्रीका के देशों को तीन भागों में बाँटा था। पहले भाग में वे देश आते थे जहाँ वर्तमान युग की वैज्ञानिक व्यवसाय-पद्धति का उपक्रम नहीं हुआ था, पर जो साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा पददलित और त्रसित थे। दूसरे भाग में उन देशों की गिनती की गयी थी जहाँ इन नवीन व्यवसाय पद्धति का उपक्रम तो हो गया था, पर उसका विशेष रूप से विकास नहीं हुआ था। तीसरी कोटि में वे देश थे जहाँ इस पद्धति का काफी चलन हो गया था। लेनिन पहले कोटि के देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों को सहायता देना ही काफी समझते थे। दूसरी कोटि के देशों में वह साम्यवाद का प्रचार करना भी जरूरी समझते थे। तीसरी कोटि के देशों में वह एक सबल साम्यवादी दल के द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व जरूरी समझते थे, लेनिन हिन्दुस्तान को इस तीसरी श्रेणी में रखते थे। नरेन्द्रदेव जी ने इस लेख में यह भी कहा कि "साम्यवाद के लिये साम्यवाद का सिद्धान्त प्रधान है और सब

बातें गौण हैं तथा सोवियत रूस राष्ट्रवाद का विरोधी है और यदि वह किसी राष्ट्र को स्वाधीन होने में सहायता देता है तो केवल इसी विचार से कि इससे साम्राज्यवाद पर आघात होगा और यदि परिस्थिति अनुकूल हुई तो साम्यवाद का प्रयोग करने के लिये नया क्षेत्र भी हाथ आयेगा" ।

●

उनका विचार था कि समाजवाद को कायम करने के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता आवश्यक है तथा उसे प्राप्त करने के लिए साम्राज्य विरोधी बहुवर्गीय राष्ट्रीय संस्था की जरूरत है । देश की आजादी के प्रश्न को सोवियत यूनियन की वदेशिक नीति का पुछल्ला नहीं बनाया जा सकता और आजाद हिन्दुस्तान पर सोवियत यूनियन की तानाशाही का अधिपत्य कबूल नहीं किया जा सकता ।

●

उनकी धारणा थी कि किसानों और मजदूरों को आजादी की लड़ाई में आकृष्ट करने के लिए जरूरी है कि स्वतन्त्रता-संघर्ष को किसानों और मजदूरों की आर्थिक माँगों से जोड़ा जाए । जब किसानों और मजदूरों को पता चलेगा कि स्वराज्य के साथ-साथ आर्थिक आजादी भी हासिल होगी, उनका शोषण और दमन खत्म होगा, उन्हें सुख और आजादी की जिन्दगी बसर करने का अवसर मिलेगा तब वे आजादी की लड़ाई में उत्साह से शामिल होंगे और तभी साम्राज्य विरोधी संघर्ष में शक्ति आयेगी । वे यह भी सोचने लगे थे कि इस देश में हमें राष्ट्रीयता और सामाजवाद दो युगों का काम साथ-साथ करना है और इसलिए राष्ट्रीयता की शक्तियों को समाजवाद की तरफ और समाजवादी शक्तियों को राष्ट्रीयता की ओर प्रेरित करना होगा ।

●

उनका कहना था कि "समाजवादी कांग्रेस में काम करते हुए राष्ट्रीय संघर्ष को मजदूरों, किसानों और मध्यम वर्ग के संघर्ष से सम्बन्धित करें । पूंजीवादी व्यवस्था की विषमताओं और फासिज्म की प्रतिक्रियावादी स्वरूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने समाजवाद को ही उनकी विषमताओं का निराकरण बताया । उनकी यह भी धारणा थी कि क्रान्तिकारी परिस्थिति की मौजूदगी में समाजवादी क्रान्ति पहले उस देश में ही हो सकती है, जहाँ जनता आर्थिक शोषण से बर्बाद हो गयी है, पर आद्योगिक विकास काफी नहीं हो पाया है ।" वह कहते थे कि

समाजवादी राज्य में मनुष्य फरिश्ते नहीं बन जायेंगे। पर यह निश्चय है कि मौजूदा समाज में बन्धनों से मुक्त होने पर मानव आचरण बहुत ऊँचा उठ सकेगा।

●

आचार्य जी ने कहा कि मार्क्स मानवता की भावना से अनुप्राणित था, उसका हृदय इतना विशाल और कोमल था कि मानव समाज के साधारण से साधारण दुःख भी औरो से कही अधिक उसे प्रभावित करते थे, वह एक ऐसा समाज प्रतिष्ठित करना चाहता था कि जिसमें सारा उत्पादक समाज सुख, समता और स्वतन्त्रता का सहयोगपूर्ण जीवन व्यतीत कर सके और सच्ची मानवीय प्रेरणाओं से अनुप्राणित हो। नरेन्द्र देव जी ने बताया कि समाजवाद एक सांस्कृतिक आन्दोलन है जिसका केन्द्र मानव है। समाजवाद में "मानव सर्वोपरि" है, मानव के उत्कर्ष को घटाने वाला कोई भी सिद्धान्त समाजवाद को मान्य नही हो सकता, "समाजवाद प्रचलित समाज का इस प्रकार सगठन करना चाहता है कि वर्तमान परस्पर विरोधी स्वार्थों वाले शोषक और शोषित, पीड़क और पीडित वर्गो का अन्त हो जाय, वह सहयोग के आधार पर सगठित व्यक्तियों का ऐसा समूह बन जाए जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावतः दूसरे सदस्य की उन्नति हो और सब मिलकर सामूहिक रूप से परस्पर उन्नति करते हुए जीवन व्यतीत कर सकें। ऐसे "वर्गहीन समाज" मे ही "मानव मनुष्यत्व को पुनः प्राप्त कर सकता है।" सामाजिक विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए नरेन्द्रदेव जी ने बताया कि "जगत का सारा व्यापार शास्वत परिवर्तन के क्रम में है", "मनुष्य और परिस्थितियां दोनो परिवर्तनशील और अस्थिर है तथा दोनों का सदा अन्योन्य सक्रिय विरोध होता रहता और इससे बृद्धि-विकास होता है।" उन्होने यह भी बताया कि समाज के ढाँचे में आधारभूत परिवर्तन की ऐतिहासिक आवश्यकता क्रान्ति के द्वारा ही पूर्ण होती है तथा वर्ग-समाज में वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है।

●

विधान सभा में मुस्लिम लीग के एक सदस्य की इस बात का जवाब देते हुए कि वे जनतंत्र के समर्थक हैं, पर समाजवाद के विरोधी हैं, आचार्य जी ने कहा कि "समाजवाद ही पूर्ण जनतंत्र का पोषक है।" उन्होने कहा कि "आर्थिक सहायता के बिना राजनीतिक जनतन्त्र निकम्मा है, जो जनतन्त्र जनता के आर्थिक उद्धार के लिए

प्रयत्नशील न हो वह जनतन्त्र निकम्मा है, पूंजीवादी जनतन्त्र तो खोखला जनतंत्र है।" उन्होंने कहा कि "हमें आर्थिक जीवन की असमानताओं को दूर करना है, ज्ञान के सचित भन्डार को सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध कराना है, सारी जनता के लिए "उन्नति और संस्कृति के नये युग" का और नये जनतांत्रिक समाज का निर्माण करना है और यह सब कुछ समाजवाद में ही सम्भव है।"

●

पूर्ण स्वराज्य की माग का समर्थन करते हुए आचार्य जी ने विधान सभा मे बताया कि उनका ब्रिटेन की जनता से कोई द्वेष नही है, वह तो अंग्रेजों से प्रेम करते हैं और चाहते है कि हिन्दुस्तानी उनके सद्गुणों का अनुसरण करें। पर वह ब्रिटेन की साम्राज्यशाही राजनीतिक व्यवस्था के विरोधी हैं और ब्रिटेन से संवैधानिक सम्बन्ध विच्छेद करने के पक्ष में है। संविधान सभा की मांग का समर्थन करते हुए आचार्य जी ने कहा कि अर्धक्रान्तिकारी अव्यवस्थाओं में ही उसका निर्माण सम्भव है और जनक्रांति द्वारा निर्मित संविधान सभा में ही जनता की आवाज का पूरा असर मुमकिन है। उनका कहना था कि देश की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण में ब्रिटिश पार्लियामेंट का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं हो सकता और संविधान सभा के गठन का विचार ब्रिटिश सरकार से मांग करना नहीं, बल्कि उसे चुनौती देना है कि भविष्य में संविधान सभा ही जनता का नारा और लक्ष्य होगा।

●

साम्प्रदायिकता

अल्पसंख्यकों के हितों के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रस्तुत करते हुए आचार्य जी ने कहा कि "अल्पसंख्यको के विश्वास को प्राप्त करना समाज का कर्तव्य है। बहुसंख्यकों के लिए यह समझना ही पर्याप्त नहीं है कि अल्पसंख्यको के प्रति उनका व्यवहार न्यायपूर्ण है। उनका तो कर्तव्य है कि वे अल्पसंख्यकों के प्रति उदार हों, और अपने व्यवहार से उनमे विश्वास पैदा करें कि उनके साथ न्याय किया जा रहा है।"

आचार्य नरेन्द्रदेव जी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण और साम्प्रदायिक संस्थाओं के कट्टर विरोधी थे। इन संस्थाओं का राजनीति में हस्तक्षेप उनकी दृष्टि में प्रगति के विरुद्ध था। वे इन्हे "आस्तीन के सांप" के नाम से सम्बोधित करते थे। उनका

कहना था कि "इन संस्थाओं के प्रतिगामी नेतृत्व और दृष्टिकोण पर यूरोप की फासिस्ट विचारधारा की छाप है।" उनके विचार में, "कहनेको हिन्दू सभा और मुस्लिम लीग आदि साँप्रदायिक संस्थाओं का उद्देश्य अपने सम्प्रदाय के सर्वसाधारण की भलाई के लिए प्रयत्न करना ही रहा है" पर व्यवहार के रूप में ये मुट्ठी भर सामन्तों, राजाओं, तालुकेदारों, जमींदारों और शहर के कुछ अनुदार, मध्यम श्रेणी के लोगों की संस्थाएं रही हैं। ये धर्म के नाम पर अपने वर्ग का स्वार्थसाधन करने, सरकारी नौकरियों और ऐसम्बलियों में सीटें आदि प्राप्त करने के काम मे ही लायी जाती रही हैं। आचार्य जी का विचार था कि समझाने के जरिये साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने का पुराना तरीका बेकार हो गया है। **जनतन्त्र विरोधी फासिस्ट मनोवृत्ति से प्रभावित और स्थिर स्वार्थों की पोषक साम्प्रदायिक संस्थाओं से प्रगतिशील शक्तियों का कोई समझौता नही हो सकता।**

●

हमें परस्पर छोटी बातो पर लड़ना नहीं चाहिए एकता करनी चाहिए। "संस्था को नष्ट करना सहज हो सकता है, संस्था को बनाना उतना सुगम नहीं"।

●

गांधी जी नरेन्द्रदेव जी से सहमत

जिस समय गान्धी जी देशव्यापी जन-संघर्ष के शुरू करने की बात सोच रहे थे, उस समय श्री जयप्रकाश नारायण हजारीबाग जेल में बन्द थे और आचार्य नरेन्द्रदेव गांधी जी की देखरेख में सेवाग्राम आश्रम में इलाज करा रहे थे। इस चिकित्सा के चार महीनों में नरेन्द्रदेव जी गान्धी जी के अधिक निकट आये। गाँधी जी ने नरेन्द्रदेव जी से समाजवाद के लक्ष्यों तथा गति-विधियों के सम्बन्ध में समय समय पर बात की और स्वराज्य के समाजवादी तत्वों के सम्बन्ध मे नरेन्द्रदेव जी की व्याख्या को किसी हद तक ठीक समझा। उन्होंने नरेन्द्रदेव जी से सत्य और अहिंसा के सम्बन्ध में भी बातचीत की। नरेन्द्रदेव जी ने बताया कि **वे बचपन से ही सत्य की "आराधना" करते रहे हैं, पर वे यह नही समझते कि एक मात्र अहिंसा से स्वराज्य की प्राप्ति हो सकती है। अन्याय के विरोध में हिंसा का प्रयोग जरूरी हो सकता है।** देशव्यापी जनसंघर्ष की योजना पर भी

गान्धी जी ने नरेन्द्रदेव जी से बातचीत की । नरेन्द्रदेव जी ने गांधी जी को विश्वास दिलाया कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सब कार्यकर्ता जन-संघर्ष उनके साथ रहेंगे । उन्होंने कहा कि संघर्ष शुरु होने पर पंडित जवाहर लाल नेहरु भी संघर्ष मे जरूर कूद पड़ेंगे ।

•

अहमदनगर जेल में नेहरु जी से और अंतरंगता : एक प्रकरण

सरकार ने 9 अगस्त 1942 को प्रातःकाल ही गान्धी जी तथा कांग्रेस के दूसरे बहुत से नेताओं को गिरफ्तार कर लिया । कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्यों के साथ-साथ नरेन्द्रदेव जी भी बम्बई में 9 अगस्त को प्रातःकाल गिरफ्तार कर लिये गये और सबके साथ अहमदनगर के किले में नजरबन्द कर दिये गये, जहाँ उन्हे मई सन् 1945 तक जेल की यातनाएँ सहन करनी पडी ।

नरेन्द्रदेव जी को बीमारी के कारण जेल में इस बार भी बहुत कष्ट सहन करना पड़ा । पहले एक वर्ष तक तो हर तीसरे सप्ताह उन्हें दमे का दौरा हो जाता था जिसके कारण कमजोरी बहुत बढ़ गयी थी और दशा काफी चिन्तनीय हो गयी थी । बाद को श्री जवाहर लाल नेहरु के मशवरे से उन्होंने "हैली बोराल" लेना शुरु किया । इससे दौरे पडना कुछ बन्द हुए और कमजोरी कुछ दूर हुई । जब नरेन्द्रदेवजी जरा ठीक हुए तब उन्होने "अभिधर्म कोष" का अनुवाद करना शुरु कर दिया । नेहरु जी जेल में "डिस्कवरी आफ इंडिया" (हिन्दुस्तान की खोज) पुस्तक लिख रहे थे । इस पुस्तक के जिन अध्यायों का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय दर्शन और संस्कृति से था उनके लिखने मे नरेन्द्रदेव जी का काफी योग था ।

जेल में एक काफी क्लब था । इसमें बहुधा किसी न किसी विषय पर बहस होती थी, कभी कभी किस्से भी सुनाये जाते थे । डाक्टर सैयद महमूद दिलचस्प किस्से सुनाते थे । बहस में कभी कभी झडप भी हो जाती थी । जेल में खास-खास दिन और त्योहार भी मनाये जाते थे । उस दिन खाने का कमरा सजाया जाता था, जिसमें नेहरु जी खास दिलचस्पी लेते थे । वे फूल पत्तियों को लगाकर जेल के आंगन को काफी सुन्दर बना देते थे ।

डाक्टर सैयद महमूद ने बताया कि पण्डित जवाहर लाल नेहरु नरेन्द्रदेव जी का बहुत ध्यान रखते थे। जब नरेन्द्रदेव जी बीमारी के कारण खाना खाने को रसोई घर में नही जा पाते थे, तब नेहरु जी स्वयं उनके लिए उनके कमरे में खाना ले जाते थे। नेहरु जी अक्सर नरेन्द्र देव जी के पास जाकर उनसे बातें करते थे। डाक्टर सैयद महमूद भी नरेन्द्रदेव जी के कमरे मे उनके साथ घटों बिताते थे। डाक्टर साहब दिलचस्प किस्से सुनाते और नरेन्द्रदेव जी बादशाह बहादुर शाह जफर की गजलें सुनाते जो उन्होने सन् 1857 के विप्लव के बाद मांडल जेल में लिखी थी और जिनमे जलावतंनी की दर्दनाक हालत का बहुत सन्ताप के साथ नक्शा खींचा गया था।

बादशाह बहादुर शाह "जफर" की जिन कविताओ को आचार्य नरेन्द्रदेव सुनाते थे, उनमें निम्नलिखित नज्म खास थी :—

लगता नहीं है जी मेरा उजड़े दयार में।
किसकी बनी है आलमे नापायदार में ॥
कह दो इन हसरतों से कहीं और जा बसे ॥
इतनी जगह कहां है दिले दागदार मे ॥
एक शाखे गुल पे बैठ के बुलबुल है शादमां।
कांटे बिछा दिये हैं दिले लालाजार में ॥
उम्रे दराज मांग कर लाया था चार दिन।
दो आरजू में कट गये दो इन्तिजार मे ॥
है कितना बदनसीब "जफर" दफन के लिए।
दो गज जमीन भी मिल न सकी कूचा-ए-यार में ॥

एक बार अहमदनगर के किले में ही श्री शंकरराव देव ने नरेन्द्रदेव जी से कहा कि बुद्ध-दर्शन के सम्बन्ध की सामग्री बहुत सी पुस्तकों में बिखरी हुई है। कोई ऐसी पुस्तक नहीं थी जिसके पढने से बौद्ध दर्शन की विभिन्न शाखाओ प्रशाखाओं का ज्ञान एक साथ हो जाए। आचार्य नरेन्द्रदेव ने अभिधर्म कोश का अनुवाद समाप्त करने के बाद बौद्ध दर्शन पर एक ऐसी पुस्तक लिखने का वायदा किया।

संघर्ष की प्रगति

सन् 1942 का "भारत छोड़ो" संघर्ष आजादी के दूसरे संघर्षों से अधिक व्यापक और भीषण था। सरकार तो कांग्रेस के सभी नेताओं और प्रमुख कार्यकर्ताओं को जल्दी से गिरफ्तार करके आन्दोलन को तीन चार दिन के अन्दर ही समाप्त कर देना चाहती थी। पर नेताओं की गिरफ्तारी ने जनता के रोष को शान्त करने की बजाय प्रज्वलित कर दिया। जनता के विद्रोह ने भयंकर भूमिगत संघर्ष का रुप धारण कर लिया। जान और माल के मौलिक भेद को ध्यान में रख कर मानव जीवन के प्रति अहिंसा–व्रत का पालन करते हुए तोड़फोड़ के जरिये ब्रिटिश साम्राज्यशाही के राजतन्त्र को ठप करना तथा उसके युद्ध सम्बन्धी प्रयत्नों मे बाधा पहुंचाना ही इस भूमिगत आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य था। यह आन्दोलन देशव्यापी था। पर मद्रास, बिहार, संयुक्त प्रान्त, बंगाल में इसका सबसे अधिक जोर था। सरकार के एक वक्तव्य के अनुसार इस आन्दोलन में जनता ने लगभग 20 स्टेशनों को क्षति पहुंचायी, 50 डाकखाने बिल्कुल जला डाले, लगभग 200 डाकखानों को भारी नुकसान पहुचाया, 3500 स्थानों पर तार और टेलीफोन की लाइनें काट दीं, तथा 70 पुलिस थाने और 85 अन्य सरकारी इमारतें जला दीं, अनेक स्थानों पर रेल की लाइनें उखाड़ दीं। अवध–तिरहुत रेल को तो जिसके जरिए युद्ध की सामग्री आसाम की सीमा पर पहुचायी जाती थी विशेष तौर पर जनता के रोष से बहुत क्षति उठानी पड़ी। बलिया और सतारा, अल्मोड़ा (सल्ट-सालम) जिलों में तो जनता ने कुछ समय सरकार के शासन को खत्म कर अपना स्वतन्त्र शासन भी स्थापित कर लिया। इस विद्रोह मे सभी वर्गों के लोग शामिल थे। टाटा के लोहे के कारखानों में जहां युद्ध के लिए सामान तैयार किया जाने लगा था 15 दिन तक हड़ताल रही। अहमदाबाद के कारखानों के मजदूरों ने भी कुछ दिन हड़ताल की। मजदूरों से कहीं अधिक किसानों ने काम किया। जहाँ पिछले सविनय अवज्ञा आन्दोलन में कार्यकर्ताओं की प्रेरणा पर ही किसानों ने हिस्सा लिया था, वहां इस संघर्ष में किसानों ने बहुत से स्थानों पर स्वयं ही बहुत बड़ी संख्या मे भाग लिया। विद्यार्थियों ने तो सबसे आगे बढ़कर काम किया। उनके विद्रोह से परेशान होकर बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी आदि कई शिक्षा संस्थाओं पर तो सरकार ने फौज के जरिये कब्जा

कर लिया। इस देशव्यापी विद्रोह को दबाने के लिये सरकार ने अपनी पाशविक शक्ति का निर्दयता से प्रयोग किया। 60 बार फौज बुलायी, 538 बार गोली चलायी तथा पटना, भागलपुर, नदिया, मुंगेर, तालचोरा और तमलुक मे 6 बार हवाई जहाजों से बम बरसाये और अधिकाश जिलो में पुलिस द्वारा जनता को आतंकित किया। कांग्रेस के बहुत से दफ्तरों में आग लगा दी गयी। जगह जगह पर नवयुवको को बेतों से बेरहमी के साथ पीटा गया, स्त्रियो को अपमानित किया गया और बहुत से स्थानों पर सामूहिक जुर्माना वसूल किया गया। सरकार ने अपनी एक रिपोर्ट मे स्वीकार किया कि उनकी गोली से 940 आदमी मरे और 1630 घायल हुए तथा उसने इस आन्दोलन के सिलसिले मे 60229 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया।

आचार्य नरेन्द्रदेव इस आन्दोलन को भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का सबसे बड़ा जन-संग्राम तथा "स्वतः–प्रसूति जनक्रांति" मानते थे। उनके विचार में स्वतन्त्रता के लिये "जितने भी मानवोचित और प्रभावशाली उपाय हैं उन सबका अवलम्बन किया जा सकता है। उपायो के औचित्य का विचार करते समय उनकी नैतिकता का भी विचार करना होता है किन्तु नैतिकता का मापदण्ड ऐसा नहीं होना चाहिये जिसके अनुसार काम करना साधारण जनो के लिये असम्भव हो। आचार्य जी की धारणा थी कि **"यदि यह आन्दोलन न होता तो भारत का राजनीतिक जीवन बिल्कुल शिथिल पड़ जाता और हम राजनीतिक दौड़ में पीछे पड़ जाते। इस आन्दोलन द्वारा भारतवर्ष एशिया को स्वतंत्रता का प्रतीक बन गया और भारत का प्रश्न संसार के मानचित्र पर आ गया।"**

मार्क्स जनतांत्रिक समाजवाद चाहते थे

"मार्क्सवाद कोई तास्सुब नही है, वह तो अध्ययन और कार्य प्रणाली का ढंग है जिसे मार्क्स ने ससार को सिखाया था। मार्क्स ने स्वय स्वीकार किया कि ऐतिहासिक स्थिति के बदलने पर काम का ढंग भी बदल जाता है।"

नरेन्द्र देव जी ने अपने साथियो को सम्बोधित करते हुए कहा कि "हमने जनतान्त्रिक समाजवाद को अपनाया है। मार्क्स ने स्वयं कहा कि जिस समाजवाद मे जनतन्त्र नही वह समाजवाद नही... समाजवाद को कायम करने मे जो नयी व्यवस्था बनानी पड़ती है, वह एक नया सिलसिला प्रारम्भ करती है, इसके

लिए हमें जनतन्त्र को कायम रखना चाहिए। रूस में जनतन्त्र नही है। हम इस बात को नही भूल सकते कि मनुष्य केवल रोटी ही नही चाहता, वह आजादी भी चाहता है, वह सोचने की आजादी, लिखने पढने की आजादी चाहता है। चूंकि यह व्यक्तिगत आजादी आज रूस मे मौजूद नहीं है, इसलिए हमें इस पर ज्यादा जोर देना है।

●

हम नये समाज का निर्माण करने जा रहें है और यह मार्ग दु खो और कष्टो का रास्ता, कांटो और कुर्बानियों का रास्ता है।

●

"जहाँ गाँधीवाद अहिंसा के सिद्धान्त को मानता है और वर्ग संघर्ष को तीव्र करने के विरुद्ध है, वहाँ मार्क्सवाद वर्ग सघर्ष की मूल भित्ति पर अश्रित है, वह शोषित वर्गों को सगठित कर उन्हें वर्ग सघर्ष द्वारा अपनी मुक्ति के लिए तैयार करना जरूरी समझता है और अत्यन्त प्रभावोत्पादक उपायों को स्वीकार करता है। मार्क्सवाद को हिंसा का शौक नही। यदि अहिंसा के उपायो से लक्ष्य की प्राप्ति हो तो इससे बढ़कर दूसरी बात नहीं, किन्तु यदि यह सम्भव हो तो हिंसा का प्रयोग करने मे उसको कोई आपत्ति नही। हाँ, मार्क्सवाद विप्लववाद का विरोध करता है, इसे वह निरर्थक ही नही वरंच हानिकर समझता है।"

●

आचार्य जी मानते थे कि "किसी संगठन में जान डालने के लिए बार-बार जनता की शक्ति के महान भंडार का प्रयोग करना होगा। नेता आते हैं और चले जाते हैं, लेकिन संगठन, यदि सही सन्देश को लेकर चल रहा है और सामाजिक उद्देश्य के लिए उपयोगी है, तो नेताओ के विलगाव के बाद भी अधिक शक्ति के साथ बना रहेगा। प्रत्येक महत्वपूर्ण आन्दोलन अपना नेता स्वयं चुन लिया करता है। इतिहास साक्षी है कि कोई भी महत्वपूर्ण आन्दोलन नेतृत्व के अभाव मे असफल नही हुआ है"।

●

समाजवाद केवल आर्थिक समस्याओ का समाधान ही नही है और न केवल राजनीतिक व्यवस्था का विधान है। वह तो जीवन के सभी पहलुओं का पुर्ननिर्माण है।

उन्होंने कहा कि "भारतीय जनतन्त्र के लिए वह दिन बड़ा ही दुःखद होगा जब जनता यह सोचने लगे कि चुनाव का अन्तिम परिणाम उनके वोटों के बजाय कुछ छोटे अधिकारियों की चालों द्वारा निश्चित होता है।

●

धर्म, जात-पांत की दीवारें ढहेंगी

"इतिहास के लम्बे काल मे भारतीय समाज ने अनेकता मे एकता का दर्शन किया है। और यह "एकता रक्त, रंग, भाषा, वेशभूषा, आचार-विचार और सम्प्रदाय आदि की अगणित भिन्नताओ के ऊपर है"।

"सामाजिक लोकतन्त्र हमें वह विश्वास प्रदान करता है जिससे हम जी सकते हैं और अन्त मे हम उन कृत्रिम दीवारों को ढहा सकते हैं जो हम लोगों को एक दूसरे से अलग करने के लिए धर्म और जात-पांत ने खड़ी की हैं"।

"यदि हम जनता के समक्ष निःस्वार्थ और रचनात्मक कार्यों द्वारा समाजवादी नीति को कार्यान्वित करने के लिए अपनी सच्चाई और योग्यता का प्रमाण पेश कर सके तो हम उनमे नया जीवन डाल सकते हैं और एक नया विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं"।

कांग्रेस क्रान्ति का अस्त्र बने

फरवरी सन् 1948 को नरेन्द्रदेव जी ने पार्टी के मुख्य साप्ताहिक "जनता" में अपना लेख प्रकाशित कराया। उसमे उन्होंने लिखा कि सन् 1942-43 के आन्दोलन के फलस्वरूप देश में राजनीतिक चेतना तथा कांग्रेस के प्रभाव की काफी अभिवृद्धि हुई है। विद्यार्थी आन्दोलन जोरों पर है, बहुत से अप्रभावित सामाजिक तत्वो मे कांग्रेस के प्रभाव की वृद्धि हुई है तथा फौज भी धीरे-धीरे स्वतन्त्रता के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अनुभव कर रही है। युद्ध के कारण ब्रिटिश साम्राज्यशाही की शक्ति भी काफी घट गयी है और उसे बहुत सी कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। पर किसी देश ने कभी दूसरे देश को अपनी खुशी से स्वतन्त्र नही किया है, फिर ब्रिटेन से इसकी आशा कैसी की जा सकती है। स्वतन्त्रता के लिए तो क्रान्तिकारी सघर्ष करना ही होगा। अत कांग्रेस को क्रान्ति के सुदृढ़ अनुशासित अस्त्र में बदलना होगा" विधान सभाओं का क्रान्तिकारी प्रयोग करना होगा और गाँवों में नवजीवन आन्दोलन शुरू करना होगा, ग्रामीण जनता का सांस्कृतिक पिछड़ापन दूर करके उन्हें नये उद्देश्यो और आशाओ से अनुप्राणित

करना होगा, उनमे सहकारी और जनतान्त्रिक आदतें विकसित करनी होगी। यह ठीक है कि क्रान्ति जब चाहो नहीं हो सकती, पर यह भी सच है कि आन्दोलन के नेतृत्व तथा संचालन की क्षमता रखने वाले प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं के बिना क्रान्ति अपने ध्येय में सफल भी नहीं हो सकती। अतः कांग्रेस को कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की ओर ध्यान देने की जरुरत है। उन्होंने लिखा कि "जो सस्था शक्ति के लिये सघर्ष करती है वह अपने रुप को राज्य की व्यवस्था पर भी लादती है, अतः देश में राजनीतिक जनतन्त्र को प्रतिष्ठित करने के लिये कांग्रेस का जनतान्त्रिक स्वरुप बनाये रखना जरूरी है और इसके लिये आवश्यक है कि कांग्रेस में अधिक से अधिक संख्या मे किसानों और मजदूरो को शामिल किया जाय, उनकी माँगों को कांग्रेस की घोषणाओ तथा नीति और कार्यक्रम मे शामिल किया जाए और कांग्रेस के अन्दर उन समूहों को बनाये रखा जाय जिनसे उनका भावात्मक साम्य है और जो उनके निर्णयो को मानने को तैयार हैं ? मध्यम वर्ग से इस बात की आशा करना कोरा भ्रम ही है कि वह स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद स्वतः राजनीतिक शक्ति को श्रमिक जनता के हाथ में दे देगा। ऐसा न कभी इतिहास मे हुआ है और न कभी हिन्दुस्तान में हो सकेगा। जनता को स्वय अपने प्रयत्न से शक्ति हासिल करनी होगी। अतः जनशक्ति को संगठित और सबल बनाना परम आवश्यक है। इस उद्देश्य से किसानो और मजदूरो के सगठनों को सुदृढ़ बनाना होगा। कांग्रेस का कर्तव्य है कि वह इन वर्ग-सगठनों का राजनीतिक प्रशिक्षण करे और स्वयं उनके आर्थिक कार्यक्रमों को अपने कार्यक्रम में शामिल करे। इस लेख में सिद्धान्त और व्यवहार के पारस्परिक सम्बन्ध पर रोशनी डालते हुये नरेन्द्रदेव जी ने कार्यकर्ताओं को अनुभव से शिक्षा प्राप्त करने की सलाह दी और कहा कि **जहां सिद्धान्त विहीन व्यवहार अन्धा और अस्तव्यस्त होता है, वहां व्यवहार विहीन सिद्धान्त विचार की महामारी पैदा करता है। विचारों की सफाई व्यवहार से ही होती है। और सजीव वास्तविकता से अप्रभावित विचार तो गतिहीन हो जाते हैं।**

●

सामान्य जन को उठावें

जब तक अधिपत्य के प्रत्येक रुप का अन्त न हो तब तक साम्राज्य विरोधी शक्तियों की तैयारी जारी रहनी चाहिये। नरेन्द्रदेव जी का विचार था कि कोई भी संविधान इस देश मे सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह सामान्य जन को

ऊँचा उठाने का साधन न बने। जो आर्थिक व्यवस्था सम समाज कायम करना नही चाहती वह जनतान्त्रिक व्यवस्था को तोड़ने का कारण बनेगी। हर प्रकार का योजनाबद्ध अर्थतन्त्र जनता के हित मे नही हो सकता। प्रश्न है कि योजना कौन बनाता है और किसके हित मे बनाई जाती है। इस तरह नरेन्द्रदेव जी चाहते थे कि सम समाज को प्रतिष्ठित करने वाला सविधान और आर्थिक योजना बनायी जाए। वे ही जनतन्त्र को पुष्ट कर सकते हैं जनता के जीवन को ऊँचा उठा सकते हैं और देश की प्रगति में सहायक हो सकते हैं।

●

पंचायत, स्थानीय स्वायत शासन

कैबिनेट मिशन की योजना के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार से समझौते के जरिये सन् 1946 में जो अंतरिम सरकार केन्द्र में बनी उसे नरेन्द्रदेव जी अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार मानने को तैयार नही थे। वे समझते थे कि उसके द्वारा कोई क्रान्तिकारी कार्य किया जाना सम्भव नही होगा। पर उसके बन जाने पर जनतन्त्र को सुदृढ़ करने के लिये वे उसे इस्तेमाल करना चाहते थे। उनके विचार में यह काम निरकुश शासन तथा सामन्तशाही का अन्त करने से जनता के हित के कानून बनाने से तथा जनतन्त्र की भूमिका तैयार करने से ही हो सकता है। इसलिये वे चाहते थे कि अंतरिम सरकार नागरिकता के अधिकारों की रक्षा करे, उनकी सीमा की वृद्धि करे, मजदूरो के काम के घंटे कम करे, उनकी मजदूरी बढ़ाये, उनके लिए अन्य सुविधाओ का आयोजन करे, ट्रेड यूनियन आन्दोलन को पुष्ट करे, उद्योग धंधो का जनता के हित में नियंत्रण करे तथा यातायात के मार्ग तथा बिजली और कोयले के कामो को राष्ट्र की सम्पत्ति करार दे। प्रान्तीय क्षेत्र में जमींदार प्रथा का अन्त, सहयोग समितियों और ग्राम पंचायतों की स्थापना, स्थानीय स्वायत्त शासन का सुधार तथा सम्मिलित निर्वाचन प्रणाली की प्रतिष्ठा करना परम आवश्यक है।

●

धर्म पर आधारित राष्ट्र न बनें

आचार्य जी मुस्लिम राष्ट्र के सिद्धान्त को गलत समझते थे और वह देश के बटवारे के विरुद्ध थे। उनकी राय में धर्म के आधार पर राष्ट्र नहीं होते,

मुसलमान प्रथक राष्ट्र नही है और पाकिस्तान की योजना देश के लिये आत्म घातक है। उनकी धारणा थी कि देश के बटवारे का फैसला केवल धार्मिक अल्पसख्यकों पर नही छोड़ा जा सकता और सामान्य आर्थिक हितों के लिये सामान्य सघर्ष के जरिये देश की हिन्दू और मुसलमान जनताओ मे एका स्थापित किया जा सकता था। पर जब सन् 1947 मे काग्रेसी नेताओं ने मुस्लिम राष्ट्र के सिद्धान्त को नामजूर करते हुए देश के बटवारे के सम्बन्ध में मुस्लिम लीग के नेताओं से समझौता कर लिया, तब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी मे वे अपने दूसरे समाजवादी साथियों के साथ तटस्थ रहे। उनका कहना था कि हिन्द-चीन और इडोनेशिया के नेताओं की तरह कांग्रेस के नेताओ को भी ब्रिटिश सरकार से समझौते की बात करते हुये क्रान्ति के वातावरण को बनाये रखने की चेष्टा करनी चाहिये थी, ताकि अनुकूल समझौता न होने पर सघर्ष शुरु किया जा सकता। पर जब कांग्रेस के नेताओं ने इस बात की फिक्र न की, एकमात्र समझौते का रास्ता अपनाकर क्रान्ति का वातावरण नष्ट कर दिया और मुस्लिम लीग के नेताओं से देश के बटवारे का समझौता कर लिया जिसे ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम लीग की कौंसिल ने भी स्वीकार कर लिया और जिसके अनुसार कार्य भी आरम्भ हो गया, तब ऐसी स्थिति मे इस योजना को नामंजूर करने से दशा सुधारने के बजाय बिगड़ती। देश को भयकर गृहयुद्ध का सामना करना पड़ता और देश की प्रगति खत्म हो जाती। चूकि सोशलिस्टों के लिये बटवारे के आत्मघातक सिद्धान्त को स्वीकार करना या भयकर गृहयुद्ध की जिम्मेदारी लेना दोनो गलत होता, अत: अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में तटस्थ रहना ही उन्होने ठीक समझा।

•

बिना प्रतिबन्ध का संविधान हो

फरवरी सन् 1946 को आचार्य नरेन्द्रदेव ने लिखा था कि "हम उस सविधान सभा में शामिल नहीं होंगे जो जनता की आकांक्षाओ को प्रतिबिम्बित और प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न नही करती और जो प्रभुसत्ता-सम्पन्न नहीं है। हम दूसरों से निर्देशित होना नही चाहते और सविधान के निर्माण में जनता के सर्वाधिकार पर किसी प्रतिबन्ध को सहन करने को तैयार नही हैं।" (यह

संविधान सभा में नहीं गये। वरना भारतीय संविधान को उनके योगदान से कई नयी दिशायें मिलती।)

•

स्वतंत्रता की कीमत पर बराबरी नहीं

उन्होंने बताया कि "समाजवाद ही पूर्ण जनतन्त्र है।" वह "मानव व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास पर उतना ही जोर देता है जितना आर्थिक स्वतंत्रता पर।" उन्होंने कहा कि मार्क्स अपने युग का एक महान मानवतावादी था, वह जीवन भर जनता की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील रहा, उसने स्वयं कहा कि "हम लोग उन कम्युनिस्टों में नहीं हैं जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का नाश करने के लिये बद्धपरिकर हों, जो विश्व को एक विशाल बैरक अथवा कारखाने में परिणित करना चाहते हैं। हम लोग स्वतंत्रता के बदले बराबरी नहीं चाहते। हम लोगों का विश्वास है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में वैसी पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी जैसी ऐसे समाज में जो सामाजिक स्वामित्व पर आधारित हों।" सोवियत रूस की तानशाही की भर्त्सना करते हुये नरेन्द्रदेव जी ने कहा कि रूस की स्थिति को समाजवाद का नमूना मानकर समाजवाद की निंदा करना सर्वथा अनुचित है। आचार्य जी को क्षोभ था कि कम्युनिस्ट पार्टी के आचरण, उसके षड़यन्त्र और द्विविधामूलक व्यापार, उसकी स्पष्ट अवसरवादिता और दूसरों के साथ व्यवहार में नैतिक मान्यताओं की नितान्त अवहेलनाओं के कारण समाजवाद बदनाम हो रहा है। आचार्य जी की धारणा था कि "कम्युनिस्टों के सिद्धान्त-शून्य व्यापार, उनकी संदिग्ध नैतिकता, उनकी चालों में कौतूहल-पूर्ण सतत परिवर्तन के कारण उनके साथ सोशलिस्टों का चलना नामुमकिन है।" उन्होंने बताया कि" जब कभी कम्यूनिस्ट पार्टी ने दूसरी राजनीतिक पार्टियों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाया है तो उसने अपने लाभ और सुभीते के लिये किया है और जब कभी इसने दूसरी संस्थाओं के साथ सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है तो उसका उद्देश्य या तो उसे हथिया लेने का रहा है या उसे छिन्न-भिन्न कर देने का।"

•

कांग्रेस अध्यक्षता का प्रश्न

पंडित जवाहर लाल नेहरू चाहते थे कि आचार्य नरेन्द्र देव कांग्रेस अध्यक्ष

बनाये जावें। सन् 1947 में गाँधी जी की सलाह से आचार्य नरेन्द्रदेव का नाम कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए पेश किया गया। उस समय सबने इस बात को तसलीम किया कि नरेन्द्रदेव जी जैसे विद्वान, सच्चरित्र, राष्ट्रसेवी कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए सर्वथा योग्य हैं। पर कुछ व्यक्तियों का निश्चित मत था कि जब तक नरेन्द्र देव जी का कांग्रेस के अन्दर किसी अल्पसंख्यक दल मे सम्बन्ध हैं तब तक उन्हे कांग्रेस का अध्यक्ष बनाना उचित नही होगा। इनमे सर्वश्री वल्लभ भाई पटेल और शंकर राव देव प्रमुख थे। निस्पृही नरेन्द्र देव कर्तव्य बुद्धि से कांग्रेस की अध्यक्षता स्वीकार कर सकते थे। पर कांग्रेस की अध्यक्षता जैसे मान के लिए भी वे कांग्रेस समाजवादी दल से अपना सम्बन्ध विच्छेद करने की बात नहीं सोच सकते थे। कहा जाता है कि जब अध्यक्ष के लिए नरेन्द्र देव जी के मुकाबले मे डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी का नाम पेश किया गया, तब गाँधी जी ने पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त के जरिये राजेन्द्र बाबू को सन्देश भेजा कि वे उसे स्वीकार न करें, पर यह सन्देश उन्हे नहीं पहुचाया गया और जब बाद को उन्हे स्वयं गाँधीजी से इसका पता चला तब उन्हें इस बात का क्षोभ था कि गाँधीजी की राय न होते हुए भी उन्हे अध्यक्ष का भार ग्रहण करना पडा।

●

सरदार बल्लभ भाई पटेल ने अच्युत पटवर्द्धन से कहा कि आचार्य जी कभी के कांग्रेस अध्यक्ष हो गये होते पर आप लोगों ने उन्हें घेर रखा है अच्युत जी। पर नरेन्द्र देव जी ने जोश में भर कर कहा कि जनाब वाला किसी भी मुल्क के नौजवानों के दिलों पर बादशाहत करना क्या कोई कम बात है।

●

रचनात्मक विरोध

31 मार्च 1948 को उ० प्र० विधान सभा में आचार्य जी ने कहा कि 'कांग्रेस से अलग होने का निर्णय कठोर कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर ही तथा

अपने आदर्शों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही किया गया है और उनका यह कार्य किसी प्रकार की कटुता या विद्वेष और विरोधी भावना से प्रेरित नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि सन्तप्त हृदय से कांग्रेस छोड़ते समय वह और उनके साथी विश्वास दिलाना चाहते हैं कि विरोधी दल का कर्तव्य पालन करते हुए तथा अपने सिद्धांतों पर दृढ़ रहते हुए पुराने आदर्शों और उच्च उद्देश्यो के अधिकारी बने रहने का प्रयत्न करेंगे, आलोचना सदा किसी उद्देश्य से होगी। व्यक्तिगत विवाद में नहीं पड़ेंगे, राजनैतिक जीवन को स्वस्थ और नीतिपूर्ण बनाने की कोशिश करेंगे और इन बातों मे महात्मा गाँधी जी का उपदेश हमारा पथ प्रदर्शन करेगा।" आचार्य जी उस समय प्रेम, संताप और विनय के भाव से भरे थे।

●

चुनाव के समय दूसरे दलों के गलत प्रचार से खीझे हुए अपने कार्यकर्ताओं से उन्होंने कहा कि छोटे और असत्य प्रचारों से हिन्दुस्तान में सच्चे जनतन्त्र की स्थापना नहीं की जा सकती। जनतन्त्र की रीढ़ सत्य है, सत्य को छोड़कर जनतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती और जनतन्त्र के बगैर समाजवाद की प्रतिष्ठा असम्भव है।

●

सम्प्रदायवाद राष्ट्रीयता का शत्रु

आचार्य नरेन्द्र देव कहते थे कि सम्प्रदायवाद और जातिवाद राष्ट्रीयता, जनतन्त्र और समाजवाद के शत्रु हैं तथा सम्प्रदायवाद और जातिवाद पर विजय पाकर ही समाजवादी शक्तियों के आधार पर समाजवादी समाज का निर्माण किया जा सकता है।

●

आचार्य जी ने सम्प्रदायवाद को जनतन्त्र का सबसे बड़ा शत्रु बताते हुए तथा प्राचीन संस्कृति के पुनर्जीवन के आन्दोलन को शीघ्रगामी सामाजिक परिवर्तन के युग में गलत बताते हुए वर्तमान समाज के लिए अपरिहार्य राजनीतिक और सामाजिक मूल्यों को अपनाने का आग्रह किया।

नरेन्द्र देव जी ने साम्प्रदायिकता के साथ ही साथ प्रान्तीयता को भी अभिशाप बताया और बन्धुत्व और मेल को दृढ़ करने पर जोर दिया।

उनके विचार में यह काम एकतान्त्रिक शासन प्रणाली द्वारा या भाषा के आधार पर प्रान्तों के विभाजन की माँग की उपेक्षा द्वारा नहीं हो सकता इसके लिए तो एक दूसरे को समझने की तथा एक दूसरे की भाषा और साहित्य को जानने की जरूरत है। सब हिन्दुस्तानी भाषाओं के लिए एक ही लिपि तथा सारे देश के लिए एक सामान्य आर्थिक संगठन और सामान्य दीवानी कानून राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने के दूसरे साधन हैं। उन्होंने कहा कि हमें "पारस्परिक अविश्वास और विरोध के सभी कारणों को दूर करना चाहिए और प्रान्त के अन्तर्गत समस्त समुदायो, विशेषतः अल्पसंख्यकों, को विश्वास दिलाना चाहिए कि उनके उचित स्वार्थों के लिए कोई खतरा नही रहेगा और समस्त वर्गो के साथ समाजिक न्याय होगा।"

•

विदेश नीति

वे तटस्थ वैदेशिक नीति के पक्ष में थे। उनका विचार था कि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहते हुए हिन्दुस्तान इस तटस्थ नीति का ठीक-ठाक अनुसरण नहीं कर सकेगा और उसकी तटस्थता पर दूसरों को सन्देह बना रहेगा। वे ब्रिटेन की परराष्ट्र नीति से हिन्दुस्तान का बंधा रहना गलत समझते थे, पर वह सांस्कृतिक और व्यवसायिक कार्यों के लिए ब्रिटेन के साथ मैत्री का सम्बन्ध बनाये रखने के पक्ष में थे।

•

स्वस्थ आलोचना से विस्तृत जनतंत्र

आचार्य जी ने कहा कि सरकार को जनतन्त्र की सीमाओं को सीमित करने के बजाय उन्हें विस्तृत करना चाहिए और जनशिक्षा द्वारा सामान्य जन को इस योग्य बनाने का प्रयत्न करना चाहिए कि वे अपनी इच्छा को व्यक्त कर सकें और शासन व्यवस्था की आलोचना के अपने अधिकारो का भी उपयोग कर सकें। शिक्षा के द्वारा नवयुवकों में जनतन्त्र के प्रति श्रद्धा और जनतान्त्रिक व्यवहार की आदत डालने की जरूरत बताते हुए आचार्य जी ने कहा कि देश के उन तरूणों को जो ध्वंसात्मक सिद्धांतों के विषैले प्रभाव में आ गये हैं, पुनः शिक्षा द्वारा इसके

दुष्परिणामों से बचाना है और इसके लिए हमारे शिक्षा केन्द्रों में जनतान्त्रिक विचारों एवं भावों का वातावरण तैयार करना है। अध्येताओं में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करने की जरूरत बताते हुए उन्होंने कहा कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण को मानव मूल्यों में आस्था रख कर ही आगे बढ़ाना है, जिससे अश्रेयस्कर प्रयोजनों की सिद्धि के लिये विज्ञान का दुरूपयोग न हो। समाजवाद के मानवतावादी, जनतान्त्रिक और सांस्कृतिक तत्वों की व्याख्या करते हुए उन्होंने अधिनायकतन्त्र का विरोध किया तथा जातिवाद को हिन्दू समाज का अभिशाप बताते हुए समाजवादी ढग से भिन्न जातियों के आर्थिक और सामाजिक स्तर को ऊँचा करने की सलाह दी।

●

राष्ट्रीयता को अपनायें

जब तक देश के हिन्दू, सिक्ख और मुसलमान सही अर्थो मे एक नही हो जाते, सब के सब राष्ट्रीयता के रंग में रगे नहीं जाते और यह नहीं समझ लेते कि हिन्दुस्तान इन सबका देश है, सबको बराबर के अधिकार और उन्नति के अवसर मिलना चाहिए, उस समय तक हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिक प्रश्न हल नही हो सकते याद रखिये अगर आप राष्ट्रीयता की भावना को नही अपनाते, तो समाजवाद को तो जाने दीजिए आप इस देश में अपने राष्ट्रीय राज्य को भी कायम नहीं रख सकेंगे। आज जो प्यार और भावनाएँ बिरादरियों और सम्प्रदायों के लिए हैं वे भावनाएँ इस देश के कोने-कोने मे होने वाले सब लोगों के लिए होनी चाहिए। उन्होंने सतप्त हृदय से कहा कि "यदि आपको जिन्दा रहना है तो आपके लिए जरूरी है कि राष्ट्रीयता को अपनाएँ, जनतन्त्र को अपनाए और साम्प्रदायिकता को निकाल भगाएँ"। आज के हालत में ऊँच नीच और भेद-भाव की कोई जगह नही है इसे खत्म कीजिए"। सबको अपना मजहब मुबारक हो, लेकिन कौम के मामले में उसे दखल नही देना चाहिए"।

राष्ट्रीय एकता

राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने पर जोर देते हुए नरेन्द्रदेव जी ने कहा कि "एक भाषा, एक कानून, एक पोशाक और कुछ सामान्य व्यवहार राष्ट्रीय भावना को सुदृढ बनाने मे बहुत बड़े सहायक बन सकते हैं। इन सबके ऊपर कुछ ऐसे

समान उद्देश्य जनता के सामने रखे जाना चाहिए जिनमे सभी संप्रदायो की समान रुचि हो और जिनकी सिद्धि के लिये वे घनिष्ठ सहयोग के साथ प्रयत्न करें"। उन्होने कहा कि इसका यह अर्थ नहीं और न यह आवश्यक और वाछनीय ही है कि सारी अनेकता या विविधता समाप्त कर दी जाय। लोग अपने धार्मिक विश्वास और सॉस्कृतिक शैलियो के प्रति बडा आग्रह रखते हैं। हम उनमें हस्तक्षेप नही कर सकते सिवाय इसके कि धर्म के नाम पर भी असभ्य और अनैतिक प्रथाओ और आचारो को सहन नही किया जा सकता"। पुरानी सस्कृति के जीर्ण और सजीव तत्वों मे विवेकपूर्ण भेद करते हुए उन्होने कहा कि "अपनी संस्कृति का सतर्क और वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करना, उसके सजीव तत्वों को सुरक्षित रखना और आधुनिक विचार से उनका सामजस्य स्थापित करना हमारा कर्तव्य है"।

जनउत्साह

आर्थिक ओर सामाजिक विकास पर अपनी राय प्रकट करते हुए उन्होने योजनाओं के लिए "जन उत्साह" जागृत करने पर जोर दिया और कहा कि जब तक जनता राष्ट्र निर्माण के काम में भाग लेने मे गौरव का अनुभव नही करती, तब तक योजनाएँ चाहे वे कितनी ही शब्दाडम्बरपूर्ण क्यों न हो, सफल नही होगी"। हमारा देश अविकसित है और अपनी आर्थिक योजनाओ की वित्त-व्यवस्था के लिये हमारे पास आवश्यक साधन नही हैं इसलिये हमे स्वयं त्याग का नियम लागू करना होगा, परन्तु यह तभी सम्भव है जब लोगो को यह विश्वास हो जाय कि श्रेष्ठतर भविष्य के लिए आज का त्याग आवश्यक हैं।

महात्मा गांधी

गान्धी जी का जिक्र करते हुए उन्होने कहा कि "हिन्दुस्तान में गांधी जी पहले व्यक्ति थे कि जिन्होंने राष्ट्रीय संघर्ष में जनता के महत्व को समझा और जिन्होंने जनता से अपनी पूरी तरह एक रूपता स्थापित की"। गान्धीजी के नेतृत्व की प्रशंसा करते हुए आचार्य जी ने स्वीकार किया कि "बहुत अवसरो पर उनका अर्तज्ञान सही प्रमाणित हुआ और प्रारम्भ में जिन लोगों ने उन्हे स्वप्नदृष्टा कहा बाद में वही यह मानने लगे कि गान्धीजी अतिशय व्यवहारिक थे"। गान्धी

जी न तो किसी विशेष सिद्धान्त के अनुयायी थे ओर न ही उन्होने हमे दर्शन की कोई विशेष प्रणाली दी। परन्तु उनका मस्तिष्क उर्वर तथा सर्जनात्मक था और अपने अन्तिम दिनों तक वे हमे नये विचार देते रहे"। महात्मा गान्धी के सब विचारों को स्वीकार करना हमारे लिये कठिन था, पर "हमारा अस्तित्व व्यर्थ होता यदि हम उनके गतिशील व्यक्तित्व और विचारों के प्रभाव में न आये होते। "आचार्य जी को इस बात की खुशी थी कि जब हिन्दुस्तान स्वतन्त्र हुआ, तब गान्धी जी ने एक ऐसे वर्गहीन और जातिविहीन समाज को स्थापित करने का समर्थन किया जो शोषणमुक्त होगा और जिसमे जनता प्रमुख सत्ताधारी होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

आचार्य नरेन्द्रदेव की धारणा थी कि "जब तक छोटे बड़े सभी राष्टों के साथ समानता के आधार पर व्यवहार नही किया जाता और वर्तमान विषमताएं दूर नही की जाती, धनी राष्ट्र गरीब राष्ट्रो के कल्याण को अपना प्रश्न नहीं समझते, राष्ट्रीय संघर्षों को मिटाया नहीं जा सकता"। अपने अभिभाषण मे आचार्य जी ने यह साफ तौर पर कहा कि इस परमाणु युग में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो ही क्षेत्रो मे हिंसा को अस्वीकार करना है। उनकी राय मे युद्ध किसी भी समस्या को हल नही करता और इसलिये इसे गैरकानूनी बना देना चाहिये। उनकी यह भी राय थी कि राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी हिंसा का प्रयोग उपयोगी नही होगा वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण शासक दल की सैनिक शक्ति बहुत बढ गई है, जो जनता द्वारा अपनाये गये युद्ध मार्ग को जब कि वह स्थापित सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करती है, अर्थहीन बना देती है। दूसरी तरफ विश्व घटनाओ के दबाव तथा मजदूर और अन्य आन्दोलन के बढते हुए प्रभाव के कारण शासक वर्ग प्रत्येक स्थान पर जनता को अधिक सुविधायें प्रदान करने के लिये विवश हो रही है, और 'स्वतन्त्र देशों में बालिग मताधिकार के आधार पर जनतान्त्रिक संविधान अपनाये जा रहे है।"

जनतान्त्रिक समाजवाद के लिये प्रयत्न

नरेन्द्र देव जी स्वीकार करते थे कि जनतान्त्रिक समाजवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के पर एक नयी सामाजिक का निर्माण करना सरल

काम नही है। उसके लिए हमें "ज्ञान द्वारा समर्थित लक्ष्य पर दृढ़ और स्थायी विश्वास रखना होगा" "सक्रिय और सतर्क" रहना पडेगा, तथा "निरन्तर अपने कार्य को नये क्षेत्रों में विस्तृत करना पडेगा"। उन्होने "ससदीय कार्य, सघर्ष और रचनात्मक कार्य" सभी को "महत्वपूर्ण" बताते हुए कहा कि "सभी को हमारे कार्यक्रम मे उचित स्थान मिलना चाहिए। हम किसी की भी उपेक्षा नही कर सकते"।

सिद्धान्त और व्यवहारिकता

आचार्य नरेन्द्र देव प्रोफेसर लास्की के इन विचारो से सहमत थे कि "वर्त-मान जटिल ससार मे जिस सरकार के मार्ग दर्शन के लिए कोई सामाजिक दर्शन नही वह बिना जाने बूझे पूजीवाद के दर्शन के प्रभाव मे आ जाती है"। पर सिद्धान्तो के महत्व को तसलीम करते हुए भी आचार्य जी ने "कठोर रूढिवादिता और अन्धसिद्धान्तवादिता" का विरोध किया। उन्होने कहा कि "आज के युग मे ज्ञान की सीमाएँ नित्य प्रति विस्तृत होती जा रही है। अत. परिस्थिति के अनुरूप मस्तिष्क रचना एक निरन्तर प्रक्रिया है सभी सिद्धान्त और सामाजिक दर्शन अपर्याप्त और अधूरे होते है" तथा "तेजी से बदलने वाले जगत मे ऐसी नवीन परिस्थितियों का उत्पन्न होना निश्चित है जिनके लिए कोई पूर्व निश्चित सिद्धान्त नहीं है"। अपने भाषण मे उन्होने यह भी कहा कि एक सिद्धान्त को जान लेना सुगम है, किन्तु एक निश्चित स्थिति मे उसे लागू करना अत्यन्त कठिन है। सिद्धान्त हमको एक सीमा तक ले जा सकते हैं। जब तक आप अपने देशवासियो को निकट से नही जानते मानव व्यवहार का प्रचुर अनुभव नहीं रखते, और अपने देश की सामाजिक आर्थिक अवस्थाओ का भली भाँति अध्ययन नहीं करते, तब तक आप जनता को कर्मपथ का दिग्दर्शन भी नही करा सकते।

नि:स्वार्थ सेवा

समाजवादी समाज के निर्माण कार्य मे नि.स्वार्थ भाव से जुट जाने की समाज वादी नवयुवको से अपील करते हुए उन्होने कहा कि "नि:स्वार्थ सेवा मे जो उन्नयन और आनन्द प्राप्त होता है वही कार्यकर्ताओ का पर्याप्त पुरस्कार है। नि स्वार्थ सेवियों का ऊँचा आदर्श संचारक सिद्ध होगा और जो लोग उनके प्रभाव में आयेगे वे नवजीवन का अनुभव करेंगे। यदि वे एक ऐसे समाजिक उद्देश्य की

साधना में निरत होंगे जो जनता की वास्तविक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करें और जो अपने जीवन को जनजीवन मे तन्मय कर देंगे तो वे एक अजेय शक्ति बन जायेंगे। जनता उनकी पुकार को सुनेगी और सब नवयुवक, वे चाहे जहाँ हो, उनकी ओर आकृष्ट होगे। उनका आन्दोलन शक्ति का सचय करेगा और उनका सगठन उनके नेतृत्व में जन आन्दोलन का रूप ले लेगा। वे किसानो, मजदूरो, भूमिहीनों खेतिहरो, छोटे व्यापारियों और पार्टी कार्यकर्ताओं को अपने साथ ला सकेंगे। नरेन्द्र देव जी ने आशा की कि समाजवादी नवयुवक सदा अपने को शिक्षित करते रहेंगे और सामाजिक परिवर्तन के साधन तथा जनता के दुःख सुख के साथी बनेंगे। वे प्रसिद्धि की चमक दमक से अलग रहकर अज्ञात योद्धाओं के रूप में काम करना पसन्द करेंगे।

रूसी क्रान्ति

रूसी क्रान्ति पर अपने विचार प्रकट करते हुए नरेन्द्र देव जी ने कहा कि "नवयुग सन् 1917 की रूसी क्रान्ति से" ही प्रारम्भ होता है, इस क्रान्ति के समय "इतिहास मे प्रथम बार विश्व के रंगमंच पर जनता ने सहकारी नही बल्कि प्रमुख रूप मे भाग लिया और इसने विश्व भर मे जनता की मनोदशा को बदल दिया"। दुःख है कि रूसी क्रान्ति के नेताओं ने "अपने सम्मुख सदा जीवन के उन उद्देश्यो को नहीं रखा जिनके लिए क्रान्ति हुई थी। "फिर भी सोवियत रूस की बहुत सी उपलब्धियां हैं। सोवियत प्रयोग हमे बहुत सी बातो की शिक्षा दे सकता है। हम उनकी सफलता और असफलता दोनो से सीख ले सकते हैं। परन्तु यह तभी सम्भव है जब हम उनके कार्यों का बिना किसी पूर्व धारणा के ठीक-ठीक मूल्यांकन करें। उन्होंने कहा कि "मेरा उन्मान सदा ही आलोचनात्मक रहा है परन्तु मेरी सहानुभूति सदैव सोवियत रूस के साथ रही है" और इस आलोचना का मूल कारण उसको बदनाम करने की इच्छा के बजाय इस बात का दुःख है कि "उसने एक ऐसी दुर्दमनीय शक्ति होने का महान अवसर खो दिया" जिसने "न केवल शत्रुओं से उसकी रक्षा की होती बल्कि वह उन विचारों को बढ़ाने में बहुत सहायक हुई होती जिनका प्रारम्भ में उसने पक्ष लिया था।"

जनतान्त्रिक समाजवाद का भविष्य

अन्त में यह स्वीकार करते हुए कि "आज जो दो शक्तियाँ संसार पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए   है व कम्यूनिजम और पूंजीवाद हैं

तथा "जनतान्त्रिक शक्तियाँ कमजोर हैं", नरेन्द्रदेव जी ने बहुत विश्वास के साथ कहा कि "भविष्य जनतान्त्रिक समाजवाद के साथ है"। उनको विश्वास था कि "जैसे-जैसे सोवियत नागरिकों का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा होगा और लोह-आवरण उठेगा, सोवियत कम्यूनिज्म अधिकाधिक उदार होगा और जब अपनी सभ्यता का अभिमानी चीन अपने जीवन को अपने ढंग पर संचालित करने की स्थिति में होगा, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में परिवर्तित होने में अवश्यम्भावी हैं तब नयी परिस्थितियाँ अवश्य ही उत्पन्न होंगी जो जनतांत्रिक समाजवाद के अधिकाधिक समीप आती जायेंगी। यह इसलिए होगा कि मनुष्य अन्ततोगत्वा अपने स्वरूप की स्थापना करेगा और यदि स्वतन्त्रता और जनतान्त्रिक भावना उसका स्वरूप नहीं है तो फिर क्या है ? वह सदा निरकुश शासन को सहन नहीं करेगा और न वह उन व्यवस्थाओं को सहन करेगा जो उसे दबाने के लिए बनी हैं। आत्म विस्तार द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त करना ही मनुष्य का स्वभाव है। परिवार और जनराज से चलकर हम क्रमशः राष्ट्रीय राज्य तक पहुंचे हैं और धीरे-धीरे विश्व समुदाय की ओर अग्रसर हो रहे हैं"।*

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

राष्ट्रसेवी नरेन्द्रदेव को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काम करने की फुर्सत नहीं थी। पर उनका दृष्टिकोण विश्वभावना से अनुप्राणित था। मानव समाज की एकता पर उनका पूरा विश्वास था। वे देशबन्धुत्व के साथ-साथ विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्त को मानते थे। उनका अध्ययन काफी व्यापक और तुलनात्मक था। विश्व-इतिहास की घटनाओं और प्रक्रियाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान था। एक सार्वजनिक कार्यकर्ता तथा सुशिक्षित व्यक्ति के लिए संसार की प्रगति और प्रतिक्रियाओं की समुचित जानकारी रखना वह आवश्यक समझते थे। अत. जहाँ उन्होंने काशी विद्यापीठ में एशिया के राष्ट्रीय आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन का अध्ययन-अध्यापन किया। वहाँ उन्होंने सन् 1934 के बाद यूरोप की समाजवादी विचारधारा और हलचल की पृष्टिभूमि में अपने देश में समाजवादी आन्दोलन को पुष्ट किया। दूसरे विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति

[*दिसम्बर 1955 में गया सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण से उद्धरित।]

का ज्ञान और भी अधिक आवश्यक हो गया था और उस ओर जनता का ध्यान दिलाना वे बहुत ही आवश्यक समझने लगे थे।

अत' नजरबन्दी से रिहा होने के बाद नरेन्द्रदेव जी ने अन्तर्राष्ट्रीय विषयो पर कई लेख और टिप्पणियो पत्र पत्रिकाओ मे प्रकाशित कराई। इन लेखों मे उन्होने एशिया के स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, अमरीका तथा हिन्दचीन मे कम्युनिस्ट पार्टी का व्यवहार यूरोप की स्थिति तथा अन्तर्राष्ट्रीय हलचल, फासिज्म का वास्तविक रुप तथा मिश्र, ईराक और इन्डोनेशिया आदि देशों की राजनीतिक स्थिति आदि अनेक विषयों का सारगर्भित विश्लेषण किया।

जेल से छूटने के कुछ दिन बाद ही अर्थात अगस्त सन् 1945 में "रानी" पत्रिका मे यूरोप की स्थिति पर तथा नवम्बर सन् 194ॱ मे कलकत्ता के 'विश्वमित्र" मे "एशिया के स्वतन्त्रता आन्दोलन की रुपरेखा" पर उनके लेख प्रकाशित हुए। पहले लेख मे पूजीवादी और फासिस्टवादी शक्तियों की आलोचना तथा यूरोप की दयनीय दशा की समीक्षा करते हुए उन्होने खेद प्रकट किया कि "यूरोप का शासन वर्ग.... अब भी पूजीवादी प्रथा से चिपका हुआ है और युग धर्म की गतिविधि को पहचानकर अपनी गतिविधि को बदलने को तैयार नही है। जनतंत्र की दुहाई देने वाले यह पूंजीपति भी उस समय जनतन्त्र के भक्त हैं कि जब तक जनतन्त्र उनके विशेषाधिकारों को सशय में नही डालता। ये सोच भी नहीं सकते कि कोई दूसरा भी कानून, कोई दूसरे प्रकार के अधिकार और अन्य सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य हो सकते है" नरेन्द्रदेव जी ने लिखा कि "पूजीवादी जनतन्त्र के विर्शाण होने पर ही फासिज्म अधिकारूढ़ हुआ, अत. एक ऐसा नवीन आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था कायम होने पर ही, जिसके द्वारा सामान्य जनता अपनी परिपूर्णता अनुभव करे, ससार मे शान्ति और सुख स्थापित हो सकता है।' साम्राज्यवाद और राज्य के सर्वाधिकार की समीक्षा करते हुए उन्होने लिखा कि "जब तक महान राष्ट्र अपने कुछ अधिकारो को छोड़ने को तैयार नही हो जाते, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय समाज गठित नहीं हो सकता" और जब तक यूरोप के छोटे-छोटे राज्य आर्थिक और सैनिक दृष्टि से स्वतन्त्र रहना चाहते हैं तब तक शान्ति स्थापित करना भी सम्भव नही होगा. उनके विचार में "अन्तराष्ट्रय समाज की के लिए राष्ट्रीयता का विकृत रूप होगा

उसका प्राधान्य सांस्कृतिक क्षेत्र तक ही सीमित रखना होगा। राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र मे उसकी प्रधानता हानिकर होगी। "जिस तरह राज्यो का अखण्ड-अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सिद्धान्त से असगत है, उसी तरह "संसार की कल्याणकारी दृष्टि के साथ साम्राज्यवाद का असामञ्जस्य है। अमरीका के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ स्वर्गीय वेडल बिल्की के शब्दो मे "स्वतन्त्रता शब्द अविभाज्य है, यदि हम उसका उपभोग करना चाहते हैं और उसके लिए लड़ना चाहते हैं तो हमे सबको समान रूप से स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए, चाहे वह अमीर हो या गरीब, चाहे वह हमसे सहमत हो या नही, चाहे वह किसी भी जाति या वर्ण के क्यों न हो। ससार के सब भाग एक दूसरे मे सम्बन्धित हैं और कोई भी राष्ट्र अकेले अपने पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं कर सकता"। दूसरे लेख में नरेन्द्रदेव जी ने साफ शब्दों में घोषित किया कि "जब तक युद्ध के कारण दूर नही किए जाते, तब तक शान्ति की स्थापना असम्भव है। मित्र राष्ट्र शत्रुओ का विनाश करने के लिए अस्त्र-शस्त्र का निर्माण कर सकने की सामर्थ्य रखते हैं, किन्तु शान्ति की प्रतिष्ठा करने की योग्यता उनमे नही पायी जाती। कूटनीतिज्ञता मे शान्ति कायम नही होगी। युद्धों का अन्त तभी होगा जब साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का अन्तकर सच्चे जनतन्त्र की स्थापना होगी"।

विश्व के राष्ट्रों के गुटो मे बट जाने और रूस की समाजिक न्याय व स्थायी शान्ति की दिशा मे काम न कर सकने की विदेश नीति देखकर उन्होने बड़े सन्तप्त हृदय से लिखा कि "जिस प्रकार इग्लैंड की कोई स्थायी वैदेशिक नीति नही है, जो सिद्धान्तो पर आश्रित हो, उसी प्रकार रूस की नीति किसी सिद्धान्त पर आश्रित नही है। आत्मरक्षा के भाव से प्रेरित होकर ही रूस आज अपनी नीति बनाता है, किसी नये युग के उपयुक्त जीवन के नये मूल्यो को ध्यान मे रख कर नही यह बड़े दुःख की बात है वे चाहते थे कि रूस "राजनीति के दाव पेंच को छोडकर एक स्थायी शान्ति के लिए प्रयत्नशील हो"—। पर नरेन्द्रदेव जी रूस की नीति से भी अधिक सयुक्त राज्य अमेरिका की नीति से असन्तुष्ट थे। उनका कहना था कि जहाँ ब्रिटेन का साम्राज्य "ह्रास की अवस्था मे है, वह दुर्बल और क्षीण हो रहा है" वहाँ "अमेरिका का डालर इम्पीरियलिज्म तेजी से बढ़ रहा है और उसका साम्राज्यवाद ससार के लिए एक बड़ा खतरा बनता जाता है"। उनके विचार मे "यद्यपि इस समय अमेरिका को किसी से डरने का कोई विशेष कारण

नहीं है", जबकि "रूस अमेरिका से डरने का पर्याप्त कारण है" पर वास्तव में "दोनों दल एक दूसरे से भयभीत हैं" और "युद्ध की तैयारी में लगे हैं"। नरेन्द्र देव जी ने बताया कि "यदि इंग्लैंड और अमेरिका पश्चिमी राष्ट्रों का ग्रुप बना रहे हैं, तो रूस पूर्वी यूरोप को अपने अधीन कर चुका है। वह चाहता है कि उत्तर में फिनलैंड से लेकर नीचे तुर्की-सीरिया की सीमा तक पश्चिमी ब्लाक के विरुद्ध एक बांध खड़ा कर दिया जाए ताकि पूंजीवाद का प्रभाव प्रवेश न कर सके"। प्रत्येक राष्ट्र अपने लिए सबसे अधिक लेना चाहता था और दूसरे को सबसे कम देना चाहता था।

नरेन्द्रदेव जी के विचार में इस तरह स्थायी शान्ति कायम नहीं हो सकती। उसे प्रतिष्ठित करने के लिए तो पक्षपात रहित सर्वमान्य सिद्धान्तों के आधार पर समस्याओं को हल करना होगा। उनके अपने विचार में यूरोप के पुनर्निर्माण के लिए सब की राय से योजना बनाना चाहिये। इस सम्बन्ध में उनकी राय थी कि जहाँ नाजियों को दण्ड देना, उनके प्रभाव को नष्ट कर देना जरूरी है, वहाँ समस्त जर्मन जाति को दण्ड देना न्याय-संगत नहीं होगा। लोगों को अपने देश से बहिष्कृत करना और उनसे गुलामों की तरह काम लेना अन्याय ही होगा। उनका कहना था कि "जर्मनी को बर्बाद कर, उसकी आर्थिक पद्धति को छिन्न-भिन्न कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर यूरोप सुख की नींद सो सकेगा। आज वह जमाना नहीं है जब दूसरों को दुःखी कर कोई देश सुखी हो सके। यूरोप की समृद्धि जर्मनी की समृद्धि पर निर्भर है। यह कोई कोरी कल्पना नहीं है और न कोई आदर्शवादिता ही है। यह स्थूल सत्य है। सारा संसार एक हो रहा है। एक अंग का फोड़ा सारे संसार को विकल कर देता है। उनकी राय में हरजाना दिलाने के प्रश्न को और प्रभाव क्षेत्रों को बढ़ाने के प्रयासों को खत्म किया जाय, तेल के चश्मे उस देश की मिलकियत हो जहाँ वे पाये जाते हों, परन्तु सब राष्ट्रों को अपनी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उचित दाम पर उसमें हिस्सा मिलना चाहिए और इस विषय के सारे अधिकार एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के हाथ में होना चाहिए।

जून सन 1947 में एक दूसरे लेख के जरिये संयुक्त राज्य अमरीका की नयी नीति की कड़ी आलोचना करते हुये नरेन्द्रदेव जी ने लिखा

कि "इसमें सन्देह नहीं कि अमरीका की शती का प्रारम्भ हो गया है। किन्तु यह शती संसार के कल्याण के लिए नहीं होगी। वस्तुतः अमेरिका के बढ़ते हुए प्रभाव से ससार का अमंगल होगा"। उनको दुख था कि अमेरिका जो लोकतांत्रिक होने का दावा करता है सर्वत्र प्रतिक्रिया का ही समर्थन कर रहा है"। यदि वह वास्तव मे रूस से अपनी और लोकतान्त्रिक पद्धति की रक्षा करना चाहता है तो वह काम दमन सिद्धान्त मे नहीं होगा। इसमे अमेरिका का प्रभाव क्षेत्र बढ सकता है, पर लोकतन्त्र का गला घुटेगा और प्रगतिशील शक्तियो का रूस की ओर झुकाव भी बढेगा। और इस तरह यह सिद्धान्त "घातक सिद्ध होगा। "यदि अमेरिका की जीवन प्रणाली का आधार लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता है तो अमेरिका को ससार की प्रगतिशील शक्तियो का नेतृत्व करना चाहिये। "उसे समझना चाहिये कि "आज यूरोप और एशिया के आर्थिक जीवन मे क्रान्ति हो रही है। इसके साथ योग देने से, न कि इसका विरोध करने से, अमेरिका का उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। किन्तु क्रान्ति से सहयोग करने का अर्थ होता है यूरोप में समाजवाद का समर्थन करना और पुराने प्रतिगामी और लोकतन्त्र-विरोधी शासको का अन्त करना"। पर इसके विपरीत अमेरिका के व्यवहार से तो "स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के नाम पर एक नये साम्राज्यवाद का जन्म हो रहा है"।

इस तरह आचार्य नरेन्द्र देव अमरीका की विदेश-नीति के साथ-साथ कम्युनिस्ट रूस तथा ब्रिटेन की सोशलिस्ट सरकार की वैदेशिक नीति से भी असन्तुष्ट थे। उन्हे हिन्द चीनी की स्वतन्त्रता के प्रति फ्रांस के कम्युनिस्टों की उपेक्षा भी नापसन्द थी। यूरोप के कम्युनिस्टो और समाजवादियो के व्यवहार को देख कर उन्होने महसूस किया कि जब तक एशिया के सब देश स्वतन्त्र नहीं हो जाते तब तक यूरोप के देशो की समाजवादी और कम्युनिस्ट पार्टियो के साथ हमारा सहयोग नही हो सकता। इसका कारण यह है कि यूरोप की विविध पार्टियाँ या तो सोवियत रूस के आदेश पर काम करती है या स्वय अपने-अपने राज्य का स्वार्थ परित्याग करने के लिए तैयार नहीं हैं। एशिया के जो देश आज अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं, उन देशो की समाजवादी पार्टियो का एक सम्मेलन होना आवश्यक है

इससे एक दूसरे को प्रोत्साहन और बल मिलेगा। इस सम्मेलन में सबके स्वार्थ और हित परस्पर विरोधी नहीं होंगे और न एक पार्टी दूसरे को दबा सकेगी। जिनके हित और उद्देश्य समान है, जिनकी विचार धारा एक है और जो एक दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करने को तैयार हैं उन्हीं का सम्मेलन होना चाहिए।"

●

राजनीति में धर्म

यदि हिन्दू राज का नारा क्रियान्वित किया गया तो लोकतन्त्र मुरझा जायगा और हमारी सामाजिक व्यवस्था के वर्तमान दोष स्थायी बन जायेंगे। अनुदार और प्रतिक्रियावादी शक्तियों का जोर पुनः बढ़ जायेगा और हिन्दू धर्म के नाम पर इस बात की पूरी कोशिश की जायेगी कि लोकतन्त्रीय आदर्शों का आर्थिक क्षेत्र में विकास न हो सके पुरानी पद्धतियो को पुनः जीवित करने की चेष्टा घातक ही सिद्ध हो सकती है। पर नया सामाजिक दृष्टिकोण, जिसके विकास की हम लोग चेष्टा कर रहे हैं और जिसके द्वारा ही जनशक्ति को एक नयी दिशा प्रदान की जा सकती है, उसे प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण द्वारा दबा दिया जायेगी जो भविष्य के विरुद्ध भूतकालीन व्यवस्था का पोषक है।

समाज के प्रश्न धर्म के दामन में मुह छिपाने से हल नहीं होते। हमें राजनीति में धर्म का हस्तक्षेप रोकना ही होगा।

जब तक हम वर्तमान सामाजिक ढाँचे को सहारा देने वाले मिथ्या विश्वासों और आस्थाओ का अन्त न करेंगे तब तक हमें अपने देश में लोकतन्त्र की स्थापना की आशा नहीं करना चाहिये।

जीवन के नये सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य प्रेरणा देने के लिये पर्याप्त हैं। इन मूल्यों पर जिनका अटल विश्वास है वह उन पर उसी प्रकार दृढ़ रह सकता है जिस प्रकार धार्मिक व्यक्ति दुःख यातना भोगते हुये भी अपने धार्मिक विश्वास पर अटल रहता है।

□

उपन्यास में आचार्य नरेन्द्र देव

डा० कनु कपिल

जब कोई व्यक्तित्व कृतिकार को अपनी चारित्रिक विशेषताओं के कारण बहुत प्रभावित कर लेता है तो वह चरित्र कृति में भी उजागर होता है। किसी उपन्यास या कविता, नाटक मे जहाँ अपने समाज और समय का चित्रण रचनाकार द्वारा होता है वहा समग्रता के परिवेश में कभी-कभी व्यक्ति-चरित्र उल्लेखनीय हो जाते है। हिन्दी मे ऐसे उपन्यास कम ही है जिनमे हमारे काल के इतिहास पुरुषों का उल्लेख होता है। **'एक टुकड़ा इतिहास' (लेखक-गोपाल उपाध्याय)** एक ऐसा चर्चित उपन्यास है जिसमे आचार्य नरेन्द्रदेव भी एक महत्वपूर्ण पात्र के रूप में आये है। यह उपन्यास 1975 में प्रकाशित हुआ था। इसकी नायिका चन्दी देवी एक हरिजन युवती हे जो समाज के शोषण का शिकार हुयी है। हिन्दी में 'एक टुकड़ा इतिहास' प्रेमचन्द जी की परम्परा मे हरिजनों के संघर्ष और समस्या को दिखाने वाला पहला प्रगतिशील उपन्यास है जिसकी कथा का काल खण्ड 1940 से 1958 तक का है। यह अभी तक पहला उपन्यास है जिसमे गांधी जी, अम्बेदकर, आचार्य जी और नेहरू जी जैसे कई लोगों के उल्लेख यत्र-तत्र आये है। आचार्य नरेन्द्रदेव जी से सम्बन्धित कुछ मुख्य अंश प्रस्तुत है—

सम्मेलन समाप्त हुआ। लौटते में वह भी आचार्य जी वाले डिब्बे मे आयी थी। आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने चन्दी देवी को पार्टी की महिला शाखा में काम करने को कहा। चन्दी देवी ने स्पष्ट कहा कि वह दल की इस नयी निर्धारित नीति से सहमत ही नही है। आचार्य जी के समझाने पर उसने आदर पूर्वक उनसे कुछ दिन सोच लेने का समय माँगा। उसे वास्तव में बड़ी निराशा हुई थी। वह पार्टी से एक बार चुनाव लड़ने के आलावा पार्टी में अधिक सक्रिय कभी नहीं रही। उसके काम का क्षेत्र भी ज्यादातर हरिजनों की सेवा करना ही रहा। इसलिए वह उन सबमें अजनबी अवश्य थी। लेकिन पार्टी में उसका

महत्व इसलिए हो गया था कि कुमाऊँ-गढ़वाल से वह एकमात्र महिला नेता थी जिसे चुनाव में नेताराम जी जैसे पुराने और जमे हुए नेता के मुकाबले केवल कुछ ही कम वोट मिले थे। इसी महत्व के कारण उसके बिल्कुल न चाहने पर भी लोहाघाट सम्मेलन में उसे निर्विरोध प्रान्तीय कार्य समिति के लिए सदस्य चुन लिया गया। जिन सदस्यों को चुनाव में शरीक होना पड़ा था उसमें मनमोहन जी भी थे। वह कार्य-समिति के लिए चुन लिये गये थे।

आचार्य नरेन्द्रदेव जी चन्दी देवी से बड़े प्रभावित थे। उन्होंने देर तक चन्दी देवी को सारी बातें समझाई थीं, और खुद भी पार्टी की व्यवहारिक नीतियों से असंतोष जाहिर किया था। आचार्य जी किसी भी तरह बँटना नहीं चाहते थे। किन्तु दल मे प्रतिक्रियावादियो के घुस आने से वह स्वयं भी परेशान थे। चिन्तित भी।

●

आचार्य नरेन्द्रदेव जी का ही खत था। उन्होंने लिखा था कि अगर पार्टी के कार्यकर्ताओं को संगठित करके चन्दी देवी हरिजनों को बराबरी का दर्जा देने का आन्दोलन चलावे और केवल हरिजनों को ही नहीं सभी भूमिहीन परिवारों को तराई में भूमि दिये जाने का आन्दोलन चलावे तो पार्टी उसका साथ देगी। उन्होंने यह भी सूचित किया था कि पार्टी से वह हर महीने उसके खर्च के लिए दो सौ रुपये भिजवाने की भी व्यवस्था करवा रहे हैं।

●

चन्दी देवी को आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने और जय प्रकाश जी ने लगभग विवश-सा कर दिया था कि वह प्रतिमास यूसुफ अली पुरस्कार दो सौ रुपये लेती रहे और उत्तर प्रदेश के चारों पर्वतीय जिलों में समाजवादी लोगों को संगठित करती रहे तथा पार्टी के सदस्य बना-बना कर मंडल बनवाती जावे और उनके चुनाव भी करवाती जावे। चन्दी देवी ने यह बात मान ली थी, इस शर्त पर कि प्रजा समाजवादी पार्टी हरिजन समस्याओं को अगले चुनाव घोषणा-पत्र मे प्रमुख स्थान दे दे। और इस समय भी उनकी समता के लिए लड़ें।

चन्दीदेवी की बात प्रान्तीय कमेटी में मान ली गयी। पार्टी अध्यक्ष का उसे पत्र आया। चन्दी देवी के जिम्मे एक और बड़ा [illegible] आ गया। समता आश्रम नये [illegible] के सामने एक छोटी चीज थी मगर यह आश्रम

इस इलाके में चन्दी देवी की प्रतिष्ठा से जुड़ा था और उसने हमेशा इस आश्रम को अपना बच्चा मानकर पनपाया था। समस्या विकट थी। आश्रम भी चले और चन्दी देवी कुमाऊँ, गढ़वाल के सभी जिलों में प्रजा समाजवादी पार्टी के मंडल भी खुलवा कर पार्टी को कायदे से सगठित कर ले। अल्मोड़ा जिले में मनमोहन जी थे, नैनीताल जिले में तिवारी जी थे और गढ़वाल व टिहरी-गढ़वाल में मैठाणी जी थे, तीनों विधायक थे। उनसे भरोसा हो सकता था। चन्दी देवी ने काम शुरू कर दिया। आश्रम उसने पूरी तरह से चंचला पर छोड़ दिया। उसके खर्चे का भार अपने ऊपर ले लिया। स्वयं वह गाँव-गाँव दौरे पर चल पड़ी।

●

चन्दी देवी ने जैसे एक बार पहले से भी तेज अलख जगा दी थी। हरिजन और समाजवाद चन्दी देवी के दो नारे थे। हरिजनों का उद्धार और जनता के लिए समाजवाद। अभी तक चन्दी देवी सिर्फ, अल्मोड़े जिले की नेता थी और वह भी महज हरिजनों की। मगर अब वह अल्मोड़ा, नैनीताल, गढ़वाल, टिहरी गढ़वाल की नेता हो गयी थी, वह भी केवल हरिजनों की ही नहीं, सारी गरीब जनता की। अब वह हरिजनों की उद्धारक भी थी और समता, समानता समाजवाद लाने वाली भी थी।

●

चन्दी देवी को बरेली जेल भेज दिया गया। एक महीना वहाँ रहने के बाद आचार्य नरेन्द्र देव की कोशिश पर उसे लखनऊ सेन्ट्रल जेल भेज दिया गया।

उसके लखनऊ सेन्ट्रल जेल जाने पर सबसे पहले आचार्य नरेन्द्र देव जी तिवारी जी, मनमोहन जी और गेंदासिंह जी को साथ लेकर उससे मिलने गये। जेल सुपरिन्टेण्डेण्ट ने आचार्य जी को पूरे आदर भाव से अपने दफ्तर में बिठाया और वहीं चन्दी देवी को खुद बैरक में जाकर ले आया। देर तक बातें होती रहीं।

आचार्य जी इन दिनों दल के लिए बहुत चिंतित थे। केरल में पुत्तन थानु पिल्ले की सरकार द्वारा छात्रों पर हुए गोलीकाण्ड को लेकर पार्टी में चले गतिरोध की बात नरेन्द्र देव ने बताई। तिवारी जी ने चन्दी देवी के गिरफ्तार होने पर विधान सभा में काम रोको प्रस्ताव रखा था। और काम रोको प्रस्ताव स्वीकार न होने पर सरकार को वक्तव्य देने की इजाजत मिली थी। आचार्य जी ने बताया—

"तिवारी तुम्हारे गिरफ्तार होने पर खूब जमकर विधान सभा में बोले थे। हिला दिया था उन्होंने विधान सभा को। सरकार को मजबूर होकर वक्तव्य देना पड़ा"।

"अच्छा। "चन्दी ने गद्गद् भाव ने आभार की निगाहों से तिवारी जी की तरफ देखा। 27-28 साल के खूबसूरत युवक तिवारी आचार्य जी के स्नेह पर आभार मुद्रा में मुस्करा रहे थे।

"तुमने तो सिर्फ अच्छा कह दिया। इन्होंने तुम्हे प्रदेश-स्तर पर चर्चित नेता बना दिया है। इन्हें धन्यवाद दो तुम"। आचार्य जी ने मुस्कराते हुए चन्दी के कंधे पर हल्की थपकी दी।

चन्दी देवी जैसे शरमा गयी। आँखें झुकाकर चुप हो गयी।

'इस देश की आशा हो तुम। तुम्हे बहुत कुछ करना है। मै जानता हू कि तुम कूड़े के ढेर मे ढूंढा हुआ हीरा हो। तुम्हे ढूढने का श्रेय मुशीराम जी को है। और कुछ न हो, मुंशीराम जी का यह उपकार यह प्रदेश कभी नहीं भूलेगा।" आचार्य जी जैसे अपने अन्दर डूब-उतरा रहे थे। आचार्य जी जब अच्छे मूड मे होते तो बात करतेकरते आँखे बन्द कर लेते थे। चन्दी देवी जिस छोटे घर, वातावरण से उभर कर आयी थी उसका आचार्य जी के मन पर प्रभाव था। वह उसके कार्य से, उसकी लगन से, जिजीविषा से प्रसन्न थे।

मनमोहन ओर गेंदासिंह जी भी चन्दा देवी के कार्यों, पार्टी के लिए उसके द्वारा पहाड़ के चारों जिलो में किये गये कार्यों की सराहना कर रहे थे।

"आपके आश्रम का क्या हाल है।" तिवारी जी ने पूछकर जैसे चन्दी देवी की दुखती नस को छू दिया।

"पता नहीं क्या हाल है। बरेली जेल में मेरी सहायिका चंचला की चिट्ठी आयी थी कि किसी तरह आश्रम चल रहा है। उसे जिला बोर्ड से तनख्वाह मिल रही है। आश्रम के लिये उसने फिलहाल पाँच सौ रुपये की माँग की है। भेजूं कहाँ से। जेल में हूं, कहाँ से क्या करूँ।" कहते हुए वे सिर्फ गम्भीर ही नहीं हो गयी बल्कि उसकी आँखों की कोर पर आँसू देखकर आचार्य जी तड़प कर बोले, "तिवारी जी और मनमोहन जी, यह आपका धर्म है कि यह आश्रम बहुत अच्छी तरह चलता रहे। मै कल पाँच सौ रुपये की कोई व्यवस्था कर दूगा। मनमोहन जी आप कल दोपहर मुझसे मिल लें

"नहीं आचार्य जी आप रहने दीजिए। मुझे शायद कल इस महीने का वेतन-भत्ता मिलेगा। मैं पाँच सौ रुपया चन्दी देवी के आश्रम को भेज दूगा। मुझे बीच में जरूरत पड़ेगी तो मनमोहन जी से, गेंदासिंह जी से ले लूंगा।" तिवारी जी ने कहा।

"खैर, जैसा चाहो भाई। कोई दिक्कत हो तो मुझे बताना। चन्दीदेवी को आश्रम इनकी अनुपस्थिति में ठीक चलता रहना चाहिये। बड़ा अच्छा काम शुरू किया है इन्होंने" आचार्य जी ने इस तरह कहा कि उनकी बात किसी को उपदेश न लगे।

"मनमोहन जी, आप जाकर एक बार आश्रम की व्यवस्था देख आ,ड़। जो कमी हो, कोई परेशानी हो उसे दूर कर आइए।" आचार्य जी ने मनमोहन की तरफ देख कर कहा।

"मै चला जाऊँगा। सब ठीक करके आऊँगा।" मनमोहन जी ने अपनी मखमली मुस्कान बिखेर दी।

"अच्छा चन्दी बेटी। तुम अब जाओ। अब तुम्हें कोई तकलीफ नहीं होगी। ये सुपरिन्टेण्डेण्ट अपने ही आदमी हैं। मैं आता रहूगा। गेंदासिंह जी, मनमोहन व तिवारी जी और पार्टी के दूसरे लोग भी आते रहेंगे।" कहकर आचार्य जी उठ खड़े हुए।

चन्दी देवी और जेल सुपरिन्टेण्डेण्ट उन लोगों को मुख्य द्वार तक छोड़ गये।

चन्दी देवी को आचार्य नरेन्द्रदेव जी के अपने पास जेल तक आने का बड़ा गर्व महसूस हुआ। उसे इस बात से और भी संतोष हुआ कि चलो मेरा आश्रम बन्द नही हो पायेगा। उसे आश्चर्य था कि अध्यक्ष का आदेश न मानने पर भी पार्टी की कार्य समिति ने उसके आन्दोलन को स्वीकार कर लिया था।

●

छः महीने बाद जब चन्दी देवी लखनऊ सेन्ट्रल जेल से छूटी तो वह सीधे तिवारी जी के कमरे में पहुची। उन्हें साथ लेकर आचार्य जी से मिली। मंशीराम जी से मिली। मनमोहन व तिवारी जी स्टेशन उसे छोड़ने भी आये।

आश्रम में पहुंचकर उसने बड़ा सकून पाया। चंचला अकेली खट रही थी। आते हीवह चंचला से लिपट गयी। चचला सिसक पड़ी तो चन्दी देवी के लिए भी अपने आँसू रोकना मुश्किल हो गया। बच्चो ने आ-आकर चन्दी देवी के पाँव

हुए। चन्दी देवी ने एक-एक बच्चे को चूमा। प्यार से छाती पर कसा। चचला ने बताया कि बीच मे एक बार मनमोहन जी आश्रम मे आये। उनके आने से दब-दबा भी बढ़ा। चन्दी देवी के चले जाने के बाद उसे बराबर रुपये आते रहे। आश्रम बहुत अच्छी तरह से चलता रहा। सुनकर चन्दी देवी बड़ी खुश हुई।

●

चन्दी देवी करीब दो बजे दोपहर आश्रम मे पहुंची। शाम को बाबा प्रयाग गिरी और रधिया आये। देर रात तक गप-शप रही। जेल से लौटने के बाद चन्दी देवी पार्टी के प्रति उदासीन हो गयी। पार्टी के केरल काण्ड को लेकर लोहिया जी की हठवादिता के कारण पार्टी दो खेमों मे बँट चुकी थी। जय प्रकाश नारायण निराश होकर भू-दान यज्ञ में सर्वोदय समाज के लिए आचार्य विनोबा भावे के साथ हो लिये थे। क्रुद्ध, जोशीले लोग डा० राम मनोहर लोहिया के नेतृत्व में अलग समाजवादी दल बना चुके थे आचार्य जी प्रजा समाजवादी दल के साथ रह गये थे। आचार्य जी रह गये तो नरम विचारों के सुलझे किस्म के लोग प्रजा समाजवादी पार्टी मे रह गये थे। चन्दी देवी तो आचार्य जी के साथ थी। मगर पार्टी ने इन छ. सात महीनों मे जो आचरण दिखाया उसके लिहाज से वह पार्टी को छोड देने के लिए हर घडी तैयार थी।

आश्रम मे लौटकर उसने आचार्य जी को एक लम्बा पत्र लिखा और यूसुफ अली पुरस्कार वापस लेने का अनुरोध किया। आचार्य जी से लखनऊ से चलते समय भी उसने कह दिया था कि आचार्य कृपलानी जैसे लोगों के घोर प्रतिक्रिया वादी और रूढ़िवादी विचारों के साथ पार्टी समाजवाद का लक्ष्य प्राप्त कर सकेगी इस पर मुझे शका है। आचार्य जी की यह विशेषता थी कि वह हर छोटे कार्य-कर्ता को भी घर के सदस्य की तरह ध्यान रखते थे। ऐसा ही व्यवहार चन्दी देवी ने भी उनसे पाया था। पार्टी छोड देने पर आचार्य जी की कृपा खो देने का डर चन्दी देवी के मन में अवश्य था, फिर भी पार्टी में निरर्थक बने रहने का कोई मतलब नही था। आश्रम पहुंचने तक वह मन मे ढुलमुल थी। आश्रम मे एकान्त मे बांझ के पाँच पेडो वाले चौतरे पर बैठकर उसने खूब सोचा और तय कर लिया कि अब वह इस पार्टी मे निभ नही पावेगी। जब तक पार्टी बटी नही थी तब तक तो कुछ आशा थी. मगर अब वह पार्टी महज खानापूरी की रस्म-सी निभा रही थी प्रदेश का मुख्य विरोधी दल होकर भी उसे पार्टी मे जान नही है वह